

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

द्विगुणभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणग्रहीधर-भाष्य-
 शान्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनोटिप्पणी-वैदिक-
 स्वर-ठ्याकरण-पदानक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम् C-90

प्र० १।१५४;२,१२;१०।९० सूक्तानि, य० ३१,
 पारम्बरीयोपनयनसूत्राणि च)

ललरु, सग्यादक तथा अनुवादक

डॉ० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० गुरु दयाल गोहंस्टमैडलिस्ट)

पी० एचडी०, बी० ए०, डॉनमै, शास्त्री, प्रभाकर,

केरल कायल वर्मा वनिया भगुन स्वर्णपत्र की

आचार्य, संस्कृत विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

Government College Library
KOTAH

Class No 89124

Book No 5943V Vol No 1

Accession No 28174

GPB 009-7 59-500 Bks

विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पठपाठ-सायणमहर्षि-भाष्य-
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनोटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

PENDING TEXT BOOK

(अ० १।१५४, २, १०, १०।९० सूक्तानि, य० २४
पारस्करोपनिषदसूत्राणि)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० गुरु दयाल गोल्डमैडलिस्ट)

पी० एनडी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,

केरल कोयल वर्मा बलिया यम्पूरन स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

प्रकाशकः—

भारती मन्दिर

अनुसन्धान शाला

४ हीरापुरी, गोरखपुर।

नया पता
डी-४०, बापू नगर,
जयपुर

सर्वाधिकार लेखक के अधीन सुरक्षित हैं।

मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

मुद्रक

गोरखपुरः—

१. भारत प्रेम, हासुपुर—कोप, मुग्धपृष्ठ, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६०।
२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८, श्रकम्भूक्तानि —भूमिका पृ० १—२६

वाराणसीः—

३. ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूत्र, आदि पृ० १ अ से अन्त तक।
४. मास्टर प्रिंटिंग वर्क, ६१३४ बुलानाला—द्वन्द्वसूत्र ।
५. मार्गव भूषण प्रेस, विलोचन—उपोद्घात, उपनयनसूत्रों की भूमिका, श्रकम्भूक्तानि की भूमिका, पृ० २७ से ७३।

विषयसूची

उपोद्घात

१

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

१. भूमिका

१५—५७

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भसंख्या दी गई है) ।

सरकार (१—६), अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता (७—६), उपनयन संस्कार की प्राचीनता (१०—१६), पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन गृह्य (१७—२१), पारस्करीय उपनयनविधि (२२—२८), पारस्करीय विधियों में प्रचार (२९) पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद (३०), आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान (३१—३३), गामिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर (३४—३५), पारस्कर के उपनयन सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की मालिका (३६), कन्याओं का उपनयन (३७—४०), शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन (४१—५२) ।

२ उपनयनसूत्र और उन का हिन्दी अनुवाद

१—२७

३. परिशिष्ट १—सुकाशिनी टिप्पणियाँ

१—८१

४ (उपनयनसूत्रों की) पद और विषय अनुक्रमणिका

८२—८९

ऋक्सूक्तानि

१. भूमिका—ऋग्वेद का परिचय

१—७२

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भों की क्रमिक संख्या दी गई है ।)

वेद शब्द (१), शाखासंहिताएँ (२—५), ब्राह्मणग्रन्थ (६), अरण्यक (७—९), उनिषद् (१०—११), सूत्र (१२—१५), ऋग्वेद (१६—१७), ऋग्वेद का काल (१८—२८), ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास (२९—४५), वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन (४६—५०), ऋग्वेद में विकार (५१—५३), ऋग्वेद का

विस्तार और विभाजन (५४—५६), ऋग्वेद की सफटना (५७—७८), ऋग्वेद की भाषा (७९—८१), ऋग्वेद में छन्द प्रयोग (८२—८४) ऋग्वेद का धर्म (८५—११७), देवताओं का वर्गीकरण (९१), प्रमुख देवता (९२), अल्पस्तुत देवता (९३), अमूर्त देवता (९४—९५), देविया (९६—९७), युग्म देवता (९८), सघ देवता (९९), लघु देवता (१००—१०१), रत्न देवता (१०२), पार्थिव वस्तु—देवता रूप में (१०३), असुर (१०४—१०६), ऋषि दयानन्द का मत (१०७), विवेचन (१०८—११७), ऋग्वेद में लौकिक सामग्री (११८—१३४), लौकिक सूक्त (११८), सवाद सूक्त (११९), नीति सूक्त (१२०—१२१), ऐतिहासिक सामग्री (१२२—१२३), पहेलिया (१२४) सृष्टिसूक्त (१२५), दानस्तुतिया (१२६), भौगोलिक सामग्री (१२७), सामाजिक अरस्था (१२८—१२९), व्यवसाय (१३०—१३३), मनोविनाद (१३४), ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन (१३५—१३८), ऋग्वेद की व्याख्यानपद्धति (१३९—१६०), प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप—त्रिपुण का स्वरूप (१६१—१६४), इन्द्र का स्वरूप (१६५—१८२), पुरुष का स्वरूप (१८३—१८५) ।

[आगे दाहिनी ओर छोटे कोष्ठकों में पृष्ठसंख्या दी गई है । कोष्ठकों से बाहर मन्त्रप्रतीक से पूर्व बाईं ओर मन्त्रों की क्रमशः क्रमिक और सूक्त में की संख्याएँ दी गई हैं ।]

२. विष्णुसूक्तम् [ऋ० १।१५४] १—२८

ऋष्यादि—(१), १. विष्णोर्नु कम्—(१—७), २ प्र तद्विष्णु—(७—११), ३ प्र विष्णवे शूणम्—(११—१४), ४ यस्य त्री पूर्णा—(१४—१८), ५ तदस्य प्रियम्—(१८—२३), ६ ता वा वास्तु०—(२४—२८)

३. इन्द्रसूक्तम् [ऋ० २।१०] २९—८४

ऋष्यादि—(२९), ७।१ यो जात एव—(२९—३६), ८।२. य पृथिवीं (३७—४०), ९।३० यो हत्वाहिम०—(४०—४६), १०।४ येनेमा विश्वा

(४६—५१); ११५—य स्मा पृच्छन्ति (५१—५४), १२१६—या रश्म्य
चोदिता—(५४—६०), १२१७—यस्याश्वास प्रदिशि—(६०—६१), १४१८—
य कन्दसी—(६१—६३), १५१६—यस्मान्न ऋते—(६३—६५), १६११०—
य शश्वतो—(६५—६८), १७१११—य शम्बर—(६८—७३), १८११२—
य सतरश्मि०—(७३—७६), १६११३—द्यावा चिदस्मै (७६—७८), २०११४
—य सुन्वन्तम० (७८—८१), २१११५—य सुन्वते पन्ते (८१—८४) ।

४. पुरुषसूक्तम्—[ऋ० १०१९०, य० ३१] १अ—५अ

५ ऋष्यादि (१ अ), २२११—सहसरीर्षा पुरुष (१ अ—४अ),
२३१२—पुरुष एवेद सर्वम् (५ अ—८ अ), २४१२—एतावानस्य महिमा
(८ अ—६ अ), २५१४—त्रिषाण्यूर्ध्व उदैत् (१० अ—११ अ), २६१५—
तस्माद्विराडजायत (११ अ—१५ अ), २७१६—यत्पुरुषेण हविषा (१५ अ
१८ अ), २८१७—त यज्ञ वहिषि प्रीक्षन् (१८ अ—२० अ) २९१८—
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतं सभृतम् (२० अ—२२ अ), ३०१९—तस्मान्नान्सर्वहुतं
ऋच (२२ अ—२४ अ), ३१११०—तस्मादश्वा अजायन्त (२४ अ—२५ अ),
३२१११—यत्पुरुष व्यदधु (२५ अ—२८ अ), ३३११२—ब्राह्मणोऽस्य
मुखमासीद् (२८ अ—३० अ), ३४११२—चन्द्रमा मनसा जात (३० अ—
३४ अ), ३५११४—नाभ्या आसाद्—(३४ अ—३६ अ), ३६११५—सतात्यासन्
(३६ अ—३८ अ), ३७११६—यज्ञेन यज्ञमयन्त (३८ अ—४१ अ) ४०११७—
अद्भ्य सम्भृत (४१ अ—४४ अ), ३६११७—वदाहमत (४४ अ
—४५ अ), ४०११८—प्रजापतिश्चरति (४५ अ—४७ अ), ४१११९—१०—
यो देवेभ्य आतपति (४७ अ—४८ अ), ४२११९—११—रुच ब्राह्म (४८ अ—
५० अ), ४३११९—२२—भीष्म ते लक्ष्मीश्च (५० अ—५२ अ) ।

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची में दाहिनी ओर कोष्ठकों में
संदर्भसंख्या दी गई है ।)

परिशिष्ट १—संहितापाठ से पदपाठ—

५३ अ—५६ अ

पदपाठ का स्वरूप (१), संहितापाठ से पदपाठ लिप्यना (२), उदाहरण (३—४), पदपाठ लिप्यने के नियम (५), पदपाठ में इति लगाने के नियम—प्रगल्भ सशर्तों के आगे इति (६), अन्य पदों के आगे इति (७), अवग्रह लगाने के नियम (८) ।

परिशिष्ट २—वैदिक स्वर

६०अ—६५अ

वैदिक स्वर (१—३), स्वर के उपयोगी नियम (४—८), स्वतन्त्र स्वरित (९—१५), नित्य निपात (= अनुदात्त) पद (१६), उदात्त का अभाव (१७—१८), समाधनपदों का स्वर (१९—२०), क्रियापदों का स्वर (२१—२६), उपसर्गों का स्वर (२७—२८), समासों का स्वर (२९—३४) ।

परिशिष्ट ३—वैदिक व्याकरण

६६अ—८०अ

उर्णमाला (१—२), सन्धि (३—८), स्वरसन्धि (४—५), व्यञ्जन-सन्धि (६), बाह्य सन्धि (७), लोप होने पर सन्धि (८), शब्दरूप (९—३४), एकवचन (१०—२१), द्विवचन (२२—२५), बहुवचन (२६—२९), शब्दरूपों की रचना (३०), रथी (३१), नदी (३२), तनू (३३), सुभा सुलुक् (३४), धातुप्रक्रिया (३५—६६), आगम (३५—३६), उपसर्ग (३७), तिप्प्रत्यय (३८—४२), द्वित्व (४३), गण (४४), लकार (४५—५६), काल (४६—४७), भाव (४८—५६), लेट् (४९—५६), √भू (५३), √सु (५४), लेट् रूपों का वर्गीकरण (५५), इज्जिष्ठ (५६), मातृव्यद्योतक कृदन्त पद (५७—५८), कर्त्ता अर्थ के रूप (५९), तुमर्थ के रूप (६०—६५), कृत्यप्रत्यय (६६), कर्मप्रवचनीय निपात (६७—७०), वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ (७१—७५), कारक (७१), वर्णनिकार (७२), साहित्यिक दीर्घ (७३), प्रत्ययों का प्रयोग (७४), व्यत्यय (७५) ।

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

८१अ

ऋक्सूक्तटिप्पणीषु व्याख्यातपदानामनुक्रमणिका

८३अ

संक्षेपविवरण

८७अ

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

उपोद्धात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं —

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि २ ऋक्सूक्तानि (य० ३१ प) । दोनों भागों की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रक्ती गई हैं । उपनयन सूत्रों की भूमिका में ऋक्सूक्तों की टिप्पणियाँ वे निर्देश किए गए हैं और ऋक्सूक्तों की भूमिका और टिप्पणियाँ में उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों की ओर अनेक बार निर्देश किया है । अतः दोनों भाग स्वतन्त्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इस संस्करण में पारस्करगृह्यसूत्र के दो संस्करणों का उपयोग किया गया है —

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रशमभट्टतटिप्पणि-
भिः समलङ्कृतम्—श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीमप्रिन्टर्स बम्बई स० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्र पञ्चभाष्योपेत महादेवशमणा संस्कृतम्—
गुजराती प्रेस, बम्बई १९७३ वि० ।

३—दोनों संस्करणों में कुछ भेद हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) आ में अधिकांश स्थलों पर " के स्थान पर ऌ का प्रयोग किया गया है । प्रकृत मूल में ऐसे स्थलों पर * चिह्न दिया गया है ।

(२) कुछ स्थलों पर " को आ में ॐ पढ़ा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूत्र० १४, १०८, से १२४ आ में नहीं है ।

(४) आ में ८९ और ९० की सख्या क्रमश ९० और ८९ है।

४—इस सस्करण में 'अ' के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठका में रखे हुए पाठ दाना मस्वरणा में पाय जात हैं परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार को अनभिमत मानत है। सूत्र० १०८-१२४ भी इसी श्रेणी में है। छाप में उन में काष्ठक रह गए हैं।

५—अ और आ में कण्डिकाओं की सख्या व अवन में भी अन्तर है। अ में यह प्रकरण ३-७ कण्डिकाओं में है, और 'आ' में २-५ में। इस सस्करण में दाना को सख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रा पर अक नहीं है। कण्डिका ३-६ में आ के अक दाईं ओर है। कण्डिका ७ में भी अवन कर दिया गया है। इस सस्करण में बाईं ओर प्रत्येक सूत्र और मन्त्र पर अविकल सख्या दी गई है। अनुवाद टिप्पणियां भूमिका आदि में सबत्र इस अविकल सख्या का प्रयोग सीक्य की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियां में प० मुखदेव वर्मा के हिंदी अनुवाद हरिहर आदि के पाँच प्राचीन भाष्या सस्कारचन्द्रिका तथा सस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोना भागा—उपनयन सूत्रा और ऋक्सूक्ता की भूमिकाओं में दोना से सम्बन्धित सभी विषया का प्रामाणिक अनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारा के लिए पादटिप्पणियां में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारा में अपनी नई खाजा को समाविष्ट कर दिया है।* यहाँ वर्णित विषया का ज्ञान विषयसूचा पर दृष्टि डालन से हो सकेगा।

*परमपूज्यगुरुजी श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओं का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इतिहास लिखूँ। वेदविषयक यह भूमिका उसी आदेशपालन का एक अंग है।

९—उपनयन सूत्रों के इस सहकरण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदमन्त्रों के अर्थ यावदद्य ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इस में मेरा प्रयास वैकट भाष्य के समान कोई नया सम्प्रदाय चालू करने का नहीं है। मैं ने केवल त्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्था के भाष्यकार बहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न तो सफलता की उद्धोषणा करता हूँ न अर्थों की इयत्ता की। हाँ, एवविधता का दिश्वाम अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न किए जाएँ तो क्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ अनसम्बद्ध रह कर अभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी बन जाते हैं। अतः भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियों से कर्मकाण्ड के प्रकरण में जमगत अर्थ यहाँ अवाञ्छनीय और अप्रासंगिक हैं।

१०—उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ में अपने अनुवाद के आधारों का देने के साथ ही भाष्यकारों के मता का निदर्श भी किया है। यथास्थल उन की आलोचना भी की है। सस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भाव को खोलने का प्रयत्न भी किया है। वण्ड, वस्त्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सप्रमाण नए विचार प्रस्तुत किए हैं। उपनयन के सांस्कृतिक महत्त्व का समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हों सके इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदा और विषयों की एक अनुक्रमणिका भी दी है।

११—इस ग्रंथ में सकलित ऋग्वेद के सूक्तों के मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की शैली पर दिया है। बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, सगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए

गए अपने गुणावो के अनुरूप करने का प्रयास भी किया है । अपने विचारो को टिप्पणियो में व्यक्त किया है, सामान्यतः उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है । इस के दो लक्ष्य है —

१ विद्यार्थियो को परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र का विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए । २ सामान्य पाठको को सायणीय और आधुनिक शैली के अनुवाद का साक्षात् परिचय हो जाए । टिप्पणियो में आधुनिक विज्ञान के विचारो को समाविष्ट करते हुए नैरक्त शैली पर ब्राह्मण ग्रन्थो और वैदिक मस्त्रुति के आधार पर प्रमुख पदा और पदमूला की व्याख्या की है । समस्त मन्त्रा का अथ पाठक स्वयं कर सकेंगे । टिप्पणियो में प्रदत्त ये व्याख्यान वैदिक विद्वानो के विचार के लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं । इन में अनेको वेदविषयक भाष्यताओं के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-मगत मुझाव प्रस्तुत किए गए हैं । इसी कारण इस सबलन का नाम वेदभाष्यम् ($\sqrt{\text{लु}} \text{ से}$) रक्खा गया है । यह संस्करण इस दृष्टि से अन्य संस्करणो से विलक्षण और शोधभूषित है । विद्यार्थी इन टिप्पणियो को समस्त कर परीक्षा में दे कर अधिक अंक प्राप्त कर सकेंगे ।

१२—देवताओं पर लिखी गई टिप्पणियो में प्रचुरोचित अर्थ का विवेचन करने के लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है । उन के अन्य स्वरूपा और व्युत्पत्ति आदि का विवेचन सामान्यतः छोड़ दिया गया है । उन के दार्शनिक स्वरूप का परिचय डा० फर्हस्तह के वैदिक दर्शन में बड़ी उत्तम रीति से दिया गया है । देवताओं के स्वरूप और व्युत्पत्ति का ज्ञान उन के ग्रन्थ की वैदिक ऐतिमौलौजी से प्राप्त किया जा सकता है ।

१३—सामान्यतः आजकल के अधिकांश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यशैली की उसे अवज्ञानिक कह कर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्यो तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक कह कर उस से दूर रहते हैं । परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरान्त उद्गार उन के

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं दयानन्द-भाष्य के दोषा का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के ह्रमित युग में सायण और उवट-महीधर आदि में वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। यह बात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना में उन में बहुधा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणा का मत है कि मन्त्र और क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या क्रिया को बदला जाए तब ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। क्रिया परम्परा से चली आ रही है। उस में परिवर्तन में महान् अव्यवस्था आ जाती है। अतः मन्त्रों के अर्थों का ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली में सम्भव है। अन्य किसी शैली में नहीं। इस तथ्य का क्रियात्मक रूप उपनयनसंस्कार में विनियुक्त मन्त्रों के इन ग्रंथों में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों व अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता में ज्ञात हो जायगा कि ऋषि दयानन्द का वेदार्थ और वेदार्थशैली भगवद् और अस्पृश्य नहीं है प्रत्युत वे प्रयोज्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक-गुणवर्षा सुलभ जाती हैं और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपूर्व में आने लगता है।

१५ यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में गम्भीर वैदिक

साहित्य के सृजन की मात्रा पर्याप्त अल्प है और उन की शैली भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६ टिप्पणियाँ में पद पद पर अनेक ग्रन्था के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्था के स्थला को देखने का सुमाव दिया गया है। परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड़ दें। इन प्रमाणों का याद करना अनावश्यक है। यदि इस ग्रन्थ से उन में वेदाध्ययन के लिए रुचि जागृत हो गई तो ये प्रमाण उन को सहायक होंगे। यही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्था से उद्धृत पदा के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वाना के विवेचन, विषय को मप्रमाण करने और आगे अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७ इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घव्यापी अध्ययन और खोजों की छाप बहुधा दिखाई पड़ेगी। विद्वानों को इस की अनेक पक्तियाँ के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेख और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होगी। ऐसे स्थला पर बहुधा अपने विचारा को कुछ विस्तार से वर्णन करने और पाठि० या कोष्ठका में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थला का निर्देश करने का प्रयत्न किया है।

१८ ऋग्वेद के सूक्तों में बाईं ओर मन्त्रों की अविकल क्रमिक सख्या और दाईं ओर सूक्त में मन्त्र की सख्या दी है। यजुर्वेद की सख्या जहाँ भिन्न है वहाँ मन्त्र के नीचे लिख दी है। ग्रन्थ में प्रमाणों में बहुधा और अनुक्रमिकाओं में सर्वत्र अविकल सख्या का ही प्रयोग किया गया है।

१९ उपनयन सूत्रा के इस संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। पारस्वर गृह्यसूत्र के संस्करण में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। वी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है। अतः स्वरों के चिह्नों का परिज्ञान भी नितरा आवश्यक है। वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं। वैसे भी मन्त्रों की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम वाछनीय है। अतः इन दोनों विषयों का मक्षिप्त, मसकत, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ संकलित मन्त्रों से उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तों के अन्त में दिया गया है।

२१ इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है। यदि यह संस्करण विश्वविद्यालयों में आदृत हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तों पर लिखने का साहस करना संभव हो सकता है।

२२ स्वतन्त्रता से पूर्व वैदिक और मस्कृत के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी—दूसरों के लेखों और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारों की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इस में सद्भावना के ह्रास के साथ अहंभाव भी बहुत बढ़ गया है। यदि कोई देव इस रचना की एवंविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करें तो उस की एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उन का परम अनुगृहीत रहूँगा।

२३. भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में वी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजों के काल से चली आ रही है। यद्यपि अंग्रेजों का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और संस्कृति से न्याय करना नहीं था तथापि उन्होंने वेदाध्ययन का क्रम चालू किया जो उन के शासनकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

२४. परन्तु स्थितियाँ बदली। अंग्रेज चले गए। स्वतन्त्रता आई।

दश नै अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर बी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वदप्रेमी विद्वानों का कार्यवाहक होना पर भी वेद का वग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य प्रणाली में वेद का वग हान पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५ आज का विद्यार्थी हिंदी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इस माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की समस्या अत्यन्त है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराने हैं। उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिंदी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्त्तव्य है।

२६ गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहाँ के किसी अध्यापक ने अथवा अथ किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिश्रलाल गस्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद गुप्त ने उपरोक्त वदभाग का सायण और ज्वट आदि के भाष्या और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७ इधर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वद का पाठ्यक्रम बहुत बढल गया है। इस में अब केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४ २।१२ और १०।९० रह गए हैं। साथ ही इस में पारस्कर महानूत के उपनयन सूत्रों को भी नियत किया गया है। यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस में विद्यार्थियों को वेद के ईश्वर और सृष्टिविषयक दार्शनिक विचारों, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक सस्कृति की पर्याप्त ज्ञाती मिल जानी है। वैसे भी थोड़े पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन में कोटिदा उत्तम है। अतः पाठ्यक्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रोचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठ्यक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए संग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों को इस में अभीष्ट महाघना मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी, तथा वैदिक विद्वानों और जनता को अपने-अपने अन्तर्गम सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयाम को सफल समझूँगा।

२९. इस सस्करण के तैय्यार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएं और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहें हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में सन्तुष्ट अज्ञा के अन्य सस्ते सस्करण भी निकलें हैं। इस सस्करण को उन से तुलना ही इस की उपादेयता को हृदयगत कर देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।

३०. इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेस, ज्योतिष प्रकाश प्रेम और भार्गव-भूषण प्रेम ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छपे भाग के लिए नियमित दरों पर कागज भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१ स्थानीय गीता प्रेम की दुकान में इस पुस्तक के लिए कागज लेने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्हा ने अममथना प्रकाशित की। श्री करम-चन्द थापर के कर्मचारी से सदा कागज न हाने का उत्तर मिला। उन इसमें बहुत-सा कागज पर्याप्त अधिक दामा पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थाना से विभिन्न मिला का कागज हाने में उनमें अंतर होना स्वाभाविक था।

३२ नेशनल प्रेस और मास्टर प्रेस का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी सम्भव नहीं थी।

३३ वेदभाग की पशानुक्रमिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थिया— श्री अभयनन्दन पाण्डेय, श्री उमाशंकर शुक्ल और श्री रामसुरेश पाण्डेय ने बनाईं।

३४ ग्रंथरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यज्ञमय पत्नी श्री शकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को महत्वं स्वीकार कर मेरी परम सहायता की है। उन्होंने ही इस ग्रंथ के मुद्रण आदि की व्यवस्था की देखभाल भी की है। प्रेम से प्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुवाधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० मुकुंशीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५ जैसा पहले सकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रंथ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फनहंसिंह की रचनाओं से। इन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक रची गई अथवा सर्वत्र मात्स्य के घातावरण में ईर्ष्या और द्वेष मोल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में भटकने आदि के अतिरिक्त सामारिक दृष्टि में ऐसे ग्रंथा की रचना में और कोई लाभ हाता है यह सगयास्पद है। श्री भैरवनाथ झा उप कुलरति गोरखपुर विश्वविद्यालय की गुणग्राहकता ने भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

२६ इस ग्रन्थ के प्रणयन में मन अनका ग्रन्था में महायता ला है। अधिकांश ग्रन्था का निर्देश पात्र त्रिपुणिया और सप्तसूचा में कर दिया गया है। फिर ना वस्तु में ग्रन्था का नाम नहा दिया गया है।

२७ इन सब का हृदय में परम आभारी हू।

३८ स्वयन्त मानव स्वभाव है। अतः इस में अनका भल गृही हागी। उन क उत्तरात्तर परिष्कार का प्रयत्न करना मेरा कर्त्तव्य और लय है। आप ईश्वराधीन हू। जो बिना गुणग्राही जन उन पर दक्षिण कर मधार का माग लिखाएंगे उन का परम कर्णी रहूंगा।

२९ अतः परम पिता परमात्मा का काटिंग धन्यवाद है। उन की कृपा से ही ना मैं सब विचार भिन्न हू—

उत च पश्यन् दृश्यं वाचम
उत च शृण्वन् शृणायनाम् ।
उता चम्भ तव दिग्मन्त्र
जायव पय उगती मुखासा ॥

४ हीरापुरी गान्धपुर

२३।२।५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे
उपनयनसूत्राणि

भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम + कृ करना से बनता है—संस्कारना गढ़ करना निखारना अपन अनुसूच करना अत प्रभावित करना । प्राणी जो कुछ भी करता सुनता देखता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है । गनै गनै यह प्रभाव जमा होते-होते एक दृढ़ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी का अपन वगैरे मकर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलाने लग जाता है । प्राणी उस कम से बचना चाहता हुआ भी अज्ञात रूप में उसे करता जाता है । य अज्ञात गतिविधि ही संस्कार कहलाती है ।

२—अतः संस्कार मानव की व प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं । मानव अकेला न विचारण करता है न सोचता है । वह सामाजिक प्राणी है । अतः से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है । इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियाँ और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियों और विचारों को ही उस समाज और उन-उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं । अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं ।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं मंत्र बोले जाते हैं और सस्त्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह सस्त्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था । संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कम के प्रभाव का तो ग्रहण करता हुआ है साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् नहीं

है, उन के मदृग ही है। मंस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी मस्कार की क्रिया में प्रभावित होने हैं और उन्हें अपने समय में किए गये मस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक मंस्कार में अन्य विविष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिम प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का बन्धन करती है उस प्रकार मस्त्रुत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में नारीरिक और मानसिक परिवर्तन होने हैं। उसमें शनैः शनैः कामधिकारी का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा नयमित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेग कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्ममयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्तव्यों की शिक्षा और उस पर आचरण कराने का अभ्यास डालना परम आवश्यक है। यह अभ्यासमम्पादन उपनयन में प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—मस्कार का अभिमत उपनयन मस्कार की विधियों का मुख्य आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान लिप्यणियों में दिया गया है उस में

१ गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ मस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इनकी आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागृक्ता में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन में ही उनको शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की समस्त क्रियाओं में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावों को हृदयगम कराने से वे न केवल आत्मसमर्पण और कुल के दीपक मिट्ट हो सकते हैं प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उनमें श्रुति और क्षुद्र आत्मीयता साम्प्रदायिकता और स्वायत्तता की भावनाएँ समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाता है। आजकल उपनयन मस्कार तो किए जाने हैं परन्तु उस काल में उपनयन की विधियों का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालकों को हृदयगम नहीं कराया जाता है। आज का शिक्षा में भा आधुनिक शिक्षा प्रणाली में उदात्त भावों के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान होने से युवकों की प्रवृत्तियाँ बहुधा अवाञ्छनीय धाराओं में बहती हुई दिखाई पड़ती हैं।^१ उपनयन का ठीक प्रकार में सम्पादन और उस के उत्तर काल में बालकों के चरित्र निर्माण और कर्तव्य-परायणता पर ध्यान देने में देश के सामान उपस्थित अनन्त समस्याएँ सुविधा में हल हो सकती हैं।

टिप्पणियाँ में लिखा गया है आयु का विधान धीरे धीरे पाँच वर्ष से आगे बढ़ता गया। कालांतर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ मस्कार भी चालू हो गया—हिंदू-मस्कार राजवली पाण्ड्य पृ० १३७ १४० भी देखें।

१ ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—
केवलाद्यो भवति केवलादी। अतः ये महापातकियों में भी निवृत्त होते हैं।

२ डा० राजवली पाण्ड्य लिखते हैं कि पहले उपनयन मस्कार सब के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आज दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणों के विवरणों की दृष्टि में इसे मानना सम्भव नहीं। डा० पाण्ड्य का यह भी कहना है कि कालांतर में

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—समार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्व पाया जाता है। अधिकसित सरल मस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी मस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अशुष्ण बनाए रखते हैं। जब उन की सस्कृति या हितों पर अन्यो के सम्पर्क आदि में आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सम्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने में पहली और आगे आनेवाली पीढ़ियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेको दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षा आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्ध-वास का परिणाम था।

है। इस पराशा में अमफल वालका का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना लिया जाता है।

९—सभ्य और विकसित जातियाँ मना उपनयन का बड़ा महत्त्व दिया जाता है। इसाइया यहूनियाँ मसलमाना और अन्य सभी हिंदुआ से भिन्न जातियाँ मना अपने-अपने ढंग से उपनयन कर के उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के माध्याम के कारण इन जातियों का उपनयन विधियाँ अविकसित जातियों के समान उग्र नहीं हाना परन्तु कहा कहा खतना (=अगच्छन्) आदि की विधियाँ मना उन का अवगण पाया जाता है।'

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१० आयसमाज म उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृहसूत्रा म उपलब्ध हाना है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ हान के कारण इन म अपनी विधियाँ और विनियामों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए ह।

११ डा० राजबला पाण्डेय लिखत ह कि यद्यपि आयों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्ता का नकलन कमवाण्ड की दृष्टि म यथाविधि नहीं है तथापि वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ धार्मिक विगिर्विधाना ने सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन म गभाधान विवाह और अन्त्यष्टि का वर्णन है।

१ विस्तार के लिए एनसाइक्लोपीडिया ऑफ मोगल साइन्सज एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में इनिशियल सोस्यल औरमनाइज्मन एडोलैमैम एडजूकेशन आदि पर लेख एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वे० मिटिव सीकट सोसाइटीज आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं।
वहाँ प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक सदर्थों में सत्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२ ऋग्वेद में उप० १०१ नी के रूपा का प्रयाग पाँच बार हुआ है।
एक मन्त्र^१ में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एक आप्रीसूक्त में आया है। इस
मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है।
परन्तु इस सपहले दो मन्त्रों^२ को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन
और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक^३
अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देव
का एक अग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया को पत्नी रूप में प्राप्त करता है।
इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आस्थान के बिना
इन मन्त्रों का पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य
पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता^४ है। इस अध्ययनयज्ञ में देव
मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देने हैं। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनेक
मन्त्रों में वसु, रुद्र और आदित्य को एतत्सज्जक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया
है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३ अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त^५ ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ
एक सूक्त^६ में खलवन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

१ ऋ० २।३।१०। २ ऋ० २।३।८९। ३ ऋ० १०।१०९।४।
४ वही, म० ५। ५ वही, म० ६। इन में राजान सत्य वृषवाना को देव
और मनुष्या का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्या कि अनेक बार देवी
और मानुषी विधा का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में
पुन तीन बार आया है और एक बार उत्त (जिस का अर्थ भी पुन हो सकता
है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (ब्रह्म-
ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है।
६ अथर्व० ११।७। ७ अथर्व० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष स्त्री तीन समिधाआ मेखला वृष्ण वस्त्रा, दीध श्मश्रुआ भिन्ना अग्नि मूय चद्रमा मातरिम्बा और जला में ममिधादान वनस्पति मवत्सर और ऋतुआ के ब्रह्मचारी स सम्बन्ध और स्नातक का वणन किया गया है। मेखलगमूक्त में मेखला का विशेषताआ गुरु से दान और ब्रह्मचारी से वधन का वणन है।

१४ गोपथ ब्राह्मण में उपनयन का धाडा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजवन्दी पाण्डेय न शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचम का उल्लेख बताया है परन्तु यह विचारणीय है। डा के निर्दिष्ट स्थल पर अजपभ के अजिन को विद्यान का वणन है। वही आग चल कर इस अजपभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है। अतः यह अजिन चम नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी हान का वणन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊँज ही है। गृह्यसूत्रा में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है। जा अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यन में यूपाराहण का विधान है। यह निया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होनी है किसी एक वर्ण के लिए नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में ब्राह्म्य और ब्राह्म्यस्तोम का वणन है। इस ब्राह्म्यस्तोम से पतितसावित्रिकों को शुद्ध करके पुनः आयसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५ उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेक बातिया मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वणन नहीं है। प्रत्यक्ष ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास गोपालन गुरु का सेवा गुरुकुल में प्रवर्ग

१ गो० १।२।१८। २ ग० ११।३।३।१। ३ श० ५।२।१।२१। ४ श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजपभ। ५ श० ५।२।१।२३। ६ पाठ० सूस० ९०। ७ आग सूस० १ (११) में सुक्वादिना टिप्पणिया देख। इस से सुक्वादिना टिप्पणिया में प्रकाशित भाव—समस्त प्रजा-विग् वैश्य है—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिबन्ध गिष्य के गुण ब्रह्मचर्य की धर्म धिया गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छात्र समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६ गृह्यसूत्रा में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तान्ननयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकरण उपनयन ममावर्तन विवाह और अत्यष्टि—मस्कारा का विस्तृत विवरण दिया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुतसी पद्धतियाँ प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी मस्कारा की विधिया का सविस्तार वर्णन है परन्तु मात्रा और विनियोग में समन्वय और विधिया के सांस्कृतिक महत्त्वा आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नही किया गया है। ऐसा प्रयोग स्वा० दयानन्द सरस्वती की मस्कार विधि में बीज रूप में और प० आत्माराम की मस्कारचरित्रिका में सविस्तार उल्लिखित होता है। स्मृतियाँ में सामान्यतः मस्कारविषयक विनियोग के बिना ही विधिया का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी मस्कारा का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा में प्रचलित आचारा से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७ उपनयन मस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीय होता है। अथर्ववेद के वर्णना में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाजा के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णना में समस्त मानव जाति का एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८ शतपथब्राह्मण में उपनयन मस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णना से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति का ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बनाए गए हैं।

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र न पमुखनया शतपथब्राह्मण का विधिया का ही अपनाया है। दाना की पदावली में घनिष्ठ साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सू० पारस्वरीय पदावली

- ७ ब्रह्मचयमागामिति वाचयति
 २८ अयाम्य दधिण हस्म गहात्वाह
 का नामामीति ।
 ३१ इन्द्रस्य ब्रह्मचायम्यग्निराचायस्त
 वाहमाचायस्तवामाविति ।
 ३२ अर्थेन भूतेभ्य परिददाति ।
 ३३ प्रजापतय त्वा परिददामि देवाय
 त्वा सवित्र परिददाम्यम्भ्यस्त्वौ
 पृथीभ्य परिददामि द्यावापृथिवी
 म्या त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा
 देवेभ्य परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा
 भूतेभ्य परिददाम्यग्निष्टया इति ।
 ३६ ३८ ब्रह्मचायमि । अपाङ्गान ।
 कम कुरु ।
 ४१ समिधमाधहि ।
 ३९ ४२ मा दिवा मुपुष्या । अपाङ्गान । एतन्नाह—मा मुपुष्या इति ।
 इति ।

शतपथब्राह्मण की पदावली

- ब्रह्मचयमागामित्याह ।
 अर्थेनमाहका नामामीति ।
 अथास्य हस्म गह्माति ।
 इन्द्रस्य ब्रह्मचायम्यग्निराचाय
 स्तवाहमाचायस्तवामाविति ।
 अर्थेन भूतेभ्य परिददाति ।
 प्रजापतय त्वा परिददामि देवाय त्वा
 सवित्र परिददामि
 अदभ्यस्त्वौपथाम्य परिददा
 मीति । द्यावापृथिवीम्यात्वा
 परिददामाति विश्वेभ्यस्त्वा
 भूतभ्य परिददाम्यग्निष्टया इति ।
 ब्रह्मचायमायाह । अपाङ्गान ।
 कम कुरु ।
 समिधमाधहीति ।
 एतन्नाह—मा मुपुष्या इति ।
 अपाङ्गानति ।

२० इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अय सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही है। शतपथब्राह्मण न कतिपय विधिया का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर न इन स्थला का निकाल लिया है। साथ ही कुछ विधिया को छोड़ भी दिया है। जो विधिया अपनाई ह उन के क्रम में भी कुछ आगामीछा कर दिया है।

२१ पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, भेखला आदि में भेद। शतपथ ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधिया (वर्ष छै मास आदि—सूक्त० ४६-४७) का विधान सभी ब्राह्मचारिया के लिए किया है जब कि भाष्यकारों के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्राह्मचारिया के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं परन्तु पीछे के लोग ने अन्य सूत्रों में ले कर इन में जाड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीकृत अंग इस संस्करण में वाष्पका में दिखाए गए हैं।^१

पारस्करीय उपनयन विधि

२ ब्राह्मण के गुणा के अभिलाषी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणा के अभिलाषिया का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणा के अभिलाषिया का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो सुविधानुसार कराया जा सकता है परन्तु इसकी चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलाषी के लिए सालह वर्ष क्षत्रिय गुणाभिलाषी के लिए बाईस वर्ष और वैश्य गुणाभिलाषी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इस के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से वहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के वे उपनयन करा सकते हैं। तिस की तीन पीढ़ियाँ तक उपनयन न हुआ हो उन्हें ब्राह्म्यस्ताम करना पड़ता है।

२३ ब्राह्मणा को भोजन कराने के पश्चात् मिर मुण्डवा कर अलकृत

१ इन में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में काष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवेदी पर लाते हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य येने 'त्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान। इयं दुरुक्तं अथवा युवा मुवासा' मन्त्र से अथवा चुप चाप मेखलाबन्धन (यज्ञोपवीत मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रम्य चक्षु' से अजिनग्रहण यो मे दण्ड मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। आपो हि ष्ठा आदि तीन मन्त्रों से जल से अपनी अजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। तच्चक्षु मन्त्र से मूय को दिखाता है। मम व्रते' मन्त्र से दाहिने कन्ध और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब प्रजापतये त्वा आदि न भूता से कुशलक्षम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन आचमन और कम करन दिन म न मान प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४ अब आचार्य बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुभ छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि को समिधादान अन्नमुश्रव मन्त्र से परिसमूहन अग्नि की प्रदक्षिणा खड़ हो कर अन्नय समिधमाहापम मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पयुक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेर्जसि और मेधा मे देव सविता मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार सम्वाधन पूवक पहले माता से फिर अय इकार न करनेवाली स्त्रियाँ से भिक्षा माग। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रह। सायकाल जंगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोधे।

२५ ब्रह्मचारी पृथिवी पर मोए। अधिक खार और नमक न खाए। मदा दण्ड रक्त्वे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। गराव माम, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, मंथुन चूड़ और चोरी—इन से बच। यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो त्रम में बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात सुने। ऐसा ध्यवहार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६ विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं —

ब्राह्मण के लिए		क्षत्रिय के लिए		वैश्य के लिए		सब के लिए	
				भेड की		(वैकल्पिक)	
वासम् (वस्त्र)	सन के	रेशम के	(ऊन) के।				
उत्तरीय अजिन	एगो की	रुह की	अजा या गो की।		गो की		
रगना	मूज की अथवा	धनुष् की	मूर्वा की				
		कुश अश्मन्तक					
		बल्य की					
दण्ड	पलाश का	विन्ध का	उडुम्बर का	सब हो लक- डियाँ			

२६अ वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।^१

२७ अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१ विद्यास्नानक—केवल वेद को पढ़ कर सत्तार में प्रवेश करने वाला २ व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

१ यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समपने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नहीं होता । ३ विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोना को पूरा कर लेता है ।

२८ ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक , क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जात हैं । यही नहीं । इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन । इन का अध्यापन भी बंद कर दिया जाता है । ऐसे व्यक्तियों की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु ब्राह्मणस्नोम कर के ये पुनः उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं ।

पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९ उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर में नहीं लिखी हैं । ये इस प्रकार हैं—

- १ यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीत परम पवित्रम् आदि मन्त्र ।
- २ मित्रस्य चक्षु आदि मन्त्र से अजिनदान ।
- ३ अगालम्भन और त्रिपुण्ड्र तिलक लगाना ।

४ उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटियों, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सावत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शीलभ और गोदान का आचरण और व्रता की समाप्ति पर अवगुण्ठनी वा वितर्जन और गोदान ।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३० ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यतः पारस्करीय विधि से मिलती-जुलती है । दोनों के सूत्रों में शब्दावली भी समान-सी है । दोनों में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) आश्वलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए ब्राह्मण अपने-अपने बर्तनों के लिए विभिन्न रंग के कपड़े वस्त्र अथवा अपने-अपने धन के लिए विहित अग्निन पहने कर मनवत्ता पर आए।

(२) आश्वलायन न वैश्य का मन्वन्ता आदी—भंड के बाग का बताइ है। पारम्पर मन्वा का बतान है।^१

(३) आश्वलायन ने दण्डा के माप का विधान किया है। यहाँ पर शत्रिय का रज्जु औम्बर और वैश्य का वैश्व बताया है। यह पारस्कर के विधान के विपरीत है।

(४) अञ्जलिपूरण में आश्वलायन ने तन्मविनुवणामहे का विनियोग बताया है। अञ्जलि का ग्राह्य कर के आचार्य देवस्य त्वा सविता प्रमर्ब मन्त्र से ब्रह्मचारा के हाथ का पकता है। सविता का ब्राह्मण का दूसरा और अग्नि का तीसरा आचार्य बताया है। आचार्य मूय का लिखा कर ब्रह्मचारा के दाघायुष्य की कामना करना है। यहाँ सूच्य आग्नि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।^२

(५) आचार्य ब्राह्मण का प्राण का ब्रह्मचारा बता कर उन प्रजापति का बता है। युवामवाग्ना मन्त्र से आचार्य ब्राह्मण अग्नि की प्रशिक्षण कराना है पारम्पर मन्वन्तावधन। हृदय और कंध के स्थान में आश्वलायन ने किन्ना मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।^३

(६) आश्वलायन समिध धान का श्लेषचान चाहते हैं परन्तु कुछ तैत्तिरीय आचार्य अन्वय समिधमाहापम मन्त्र से। रज मन्त्र का पाठ—

१ आश्व० ग० १।१९। ८-९। ये रज ब्राह्मण का काप्राय शत्रिय का माञ्जिष्ठ और वैश्य का हारिद्रि हैं। माप्यकारन रज वस्त्रा का परिधान अवलम्बित माना है। २ ब्रह्मा सू० ११। ३ वही सू० १२। ४ पाठ सू० ८९३०। ५ आश्व० गृ० १।२०। ४६। ६ वही सू० ७।

‘अग्नये समिधमाहार्प्य बृहते जातवेदसे । तथा त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा’—पारस्कर के पाठ में भिन्न है (देखा मूम० ५५) ।^१

(७) आश्वलायन ‘तेजसा मा समनज्मि’ में तीन बार मुख का मार्जन बताते हैं । ‘मपि मेधाम्’ आदि मन्त्र में उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचार्य के पैर छू कर बालक मावित्री के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है । आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड़ कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उम्र से मन्त्र का उच्चारण कराता है और उसे एकाग्र हाकर सुनने तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है ।^२

(८) आश्वलायन के मत में वदब्रह्मचर्य का काल केवल बारह वर्ष अथवा वेद पूरा पढ़ लेने तक होता है ।^३ भिक्षा पुरुष या स्त्री में मागी जा सकती है । यहा भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन में खड़े रहने का (?) विधान है । मायकाल ब्रह्मोदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को बनाए । आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में ‘मदमस्पतिमद्भुतम्’ और गायत्री मन्त्र में दो ऋषिया के लिए और मौषिष्ट आहुनियाँ दे । ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात बाग्ह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे ।^४

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नहीं करते हैं ।

१ वही, १।२०।१०, २।१। २ वही १।२।१२-७। ३ वही, १।२।२। ४ वही, मूम० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रतस्नानका को उल्लेख माना है । यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है । ५ वही, मूम० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१ आप्तम्ब उपनयन काल में ही वेशवपनमस्कार चाहते हैं।^१ ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए ध्रुम से वसन्त, ग्रीष्म और शरदृश्रुतु का विधान करत हैं। ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्राय का, स्वन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का वेर या गूलर का बताने हैं।^२ सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के हाठ और काना का स्पर्श करता है।^३

३२ वेशवपन के पश्चात् समिग्राधान, पत्यर पर सीधे पैर का स्थापन और मद्यानिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।^४

३३ आप्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्रा, अजिन, मेखला, दण्डा के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रा में भी भेद है। विधि अपक्षाहत सक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४ यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।^१ परिधान के लिए क्षौम या गाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूज, वास और तम्बूल (= दाण) की, दण्ड पलाश, बिल्व और पीपल के।^२ बालक 'अग्ने व्रतपते' आदि मन्त्रा से पाँच आहुति देता है।^३ अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।^४ आचार्य बालक के दक्षिण स्वन्ध, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।^५ तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उम का चरु करे और दक्षिणा में गो दान दे।^६

१ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५।८। २ वही, सू० ४। ३ वही, ११।१५। ४ वही, ११।१०-१३। ५ वही, १०।९-१०। ६ गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७ वही, सू० ७-१२। ८ वही, सू० १५। ९ वही, सू० २१। १० वही सू० २४-२८। ११ वही, सू० ४३-४५।

३५ अन्य विरिया में और मन्त्र के विनियोग आदि में शामिल गृह्य सूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६ मन्त्रप्रतीक

क्रमसंख्या

सूत्र० विनियोग

(१) अग्नये समिधमाहापम

५५ सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में।

(२) अग्ने सुध्रुव

५३ सावित्री व उपदेश के पश्चात् हाथ में अग्नि के परिसमूहन में।

(३) (अगानि च म आप्यायन्ताम्)

६२ अगालम्भन में जप।

(४) (अदृश्रमस्य)

११९ सूर्योदय पर जप में।

(५) (अप्स्वन्तर्)

११० भेखला और यज्ञापवीत का जल में स्थापन (हि-अ० म पाटि० १ भी देखें)।

(६) (आ नो भद्रा)

११५ वेदशिरस् से अवगुण्ठन में

(७) आपा हि ष्ठ

२३ जला से अञ्जलिपूरण में।

(८) (आ ब्रह्मन्)

११५ वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।

(९) (आशु शिखान)

११५ वही।

(१०) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी

३१ ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(११) (इमानुवम्)	११५	वेदशिरम् से अवगुण्ठन में ।
(१२) इय दुस्वनम्	११	मेघलाबन्धन में ।
(१३) (उदीरनामवर)	११५	वेदशिरम् से अवगुण्ठन में ।
(१४) (उदु त्यम्)	११९	सूर्योदय पर जप में ।
(१५) एषा ते	५७	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र ।
(१६) गायत्री मन्त्र (भूर्भुव स्व । नत्सवितु)	४७	ब्राह्मण को सावित्री के उपदेश में ।
	५०	सब वर्णों को सावित्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र ।
(१७) (चित्र देवानाम्)	११९	सूर्योदय पर जप में ।
(१८) जगती सावित्री		
(१) पुञ्जने मन । य० ५।१४)		वैश्य को सावित्री के उपदेश में ।
(११) विश्वा रूपाणि । य० १२।३)	४९	
(१९) तच्चक्षु	२५	सूर्यदर्शन में ।
(२०) तनूपा अग्नेऽग्नि	६०	हाथ तपा कर मुख का मलने में ।
(२१) तस्मा अरगमाम	२३ पाटि० १	जलो से अजलिपूरण में ।
(२२) त्रिष्टुम् सावित्री	४८	क्षत्रिय को सावित्री के उपदेश में ।
(१) ता सवितु । य १७।७४।)		
(११) देव सवित प्रमुव । य० ९।१)		
(२३) त्र्यायुष जमदग्ने	६३	राख से त्र्यायुष (तिलक) लगाने में ।
(२४) (द्यौ शान्ति)	१२०	वर्षा होने पर शान्ति (जप) में ।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में ।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूतों को समर्पित करने में ।
(२७) मम घने ते हृदयम्	२७	अधिहृदय दक्षिणास के जालम्भन में ।
(२८) (मित्रम्य चक्षुर्धरणम्)	१७	अजिनप्रदान में ।
(२९) भेधा मे देव नविता	६१	हाथ तपा कर मुख को मलने में ।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) }	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में ।
(३१) यज्ञोपवीत परमम् }		
(३२) युवा मुवासा	१२	मेखलावन्धन में वक्त्रिक मन्त्र ।
(३३) येनेन्द्राय बृहस्पति	९	बान परिधान में ।
(३४) यां मे दण्ड परापतत्	२०	दण्डग्रहण में ।
(३५) यां व शिष्यतम	२३ पाटि० १	जला से अर्जलिपूरण में ।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है ।

कन्याओं का उपनयन

३७—सस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुरुष दाना का वर्णन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिङ्ग से ही निर्देश किया जाता है । अतः यदि साहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, भाषात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं । ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समान क्रमशः ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है । अतः ब्राह्मण आदि पुल्लिङ्ग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है । इस प्रकार उन का उपनयन विहित है ।

३८—इमी गैला का अवलम्बन करत हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपन वेदभाष्या में पुरुषा की शिक्षा के साथ साथ स्त्रिया की शिक्षा का भी वर्णन किया है ।^१ एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि विद्वान्ता को अपनी (सु-) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणिया का परमन्वर से ल कर पथिवापयत पदार्था का बाध कराना चाहिये ।^२ उहान सत्याय प्रकाश के तामरे समलगास म स्त्रिया के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवचन भा किया है ।

३९—स्त्रिय म दीविया का कपना वाक अपाला घाया गेणाम्ना आदि ऋषिका आ का मता की भायना से तथा बर्दिक साहित्य में विदुषा नारिया और ब्रह्मनादिनिया के वर्णन से बर्दिक का म लडकिया के उपनयन और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है ।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी मुक्त म ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणिया का युगपत वर्णन हुआ है —

ब्रह्मचर्येण कया युवान विदत पतिम ।

अनन्वान ब्रह्मचर्यणाश्वा घास जिगोपति ।^३

इस मन्त्र में उस काल में उनके और स्त्रिया के उपनयन की सत्ता मुख्य है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारिणी आचार्या आदि पदा पुरा नारीणा मपि मौज्जाव अनभिष्यने आदि स्मृतिवाक्या स्मृतिया म स्त्रिया के मन्त्र

१—उत्तरहरण के लिये य० ६।२४ २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें ।

२—य० ६।८ का भाष्य ।

३—अवे० ११।७।१८ । यहाँ अनन्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वप-पुरुष का श्रोतक है बँठ का नहा । इसी प्रकार अन्व अन्वजाति के पुरुष और घास रतिमुख के श्रोतक हैं ।

हीन सस्वारा के विधान रूप ऐतिहासिक अवगणा रामायण म की गयी के यन वरन के वणन गप साहित्य म स्त्रिया की गिभा और जाश्रमा म निवाम और यनोपवीतिनी आदि पदा मे होती ह ।

शूद्रो की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वाना न अभिवृत्त रूप स लिखा है । डा अम्बदकर के हू वरही गूद्राज और डा गर्मा के गूद्राज इन एंगियण्ट इण्डिया म इन विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है । गूद्रा के विषय में जिनन अध्ययन अब तक हुए ह उन म दो दृष्टियाँ काम करती है — १ गूद्र श्रमिक और समाज म नीचतम वण ह २ इस भावना की प्रतिनिया रूप गूद्रा को उच्च वण का मिद्ध करना । किसी भी अध्ययन म गूद्र साहित्यिक और भाषा की दृष्टि म विवेचन प्रस्तुत नहा किया गया है । यह विवेचन बहुत विस्तृत है । अन यहां कतिपय विचार परम सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते ह ।

४२—वदिक मन्त्रा के अध्ययन से ज्ञात होना है कि वहा मानव जाति के एक दो तीन चार और पांच विभागा का बहुधा उल्लेख पाया जाता है । समान सख्या के विभागो का वणन भी सबन समान नहा है । उन के मल में विभिन्न दृष्टिया रही प्रतीत होती ह । तो भी थोड से व्याख्यान से उन म सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ।

४३—ऋग्वेद के एक मन्त्र म मनुओं की समस्त प्रजाओं का अग्नि द्वारा भष्ट बताया गया है —

१ यथा मन० २।६६ देखें ।

२ देखो डा गर्मा का गूद्राज इन एंगियण्ट इण्डिया म प्रदत्त विवरण ।

स पूवया निविदा बध्यतायोरिमा प्रजा अजनयमनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा शामपश्च देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् ॥^१

इम मन्त्र में प्रजा के अर्थात् कोई विभाग नहीं बताया है । य प्रजाएँ आय ही हैं — उरु ज्योतिश्चक्रयुरार्याय' ।^२ इसी मन्त्र में दुहन्ता मनुषाय दत्ता तथा पुनरुक्त अग्न ज्योतिजनाय चक्रयु' में आय मनुष और जन को समानार्थक माना है ।

४४—प० अखिलानन्द ने लिखा है कि वेद के सवध में जहाँ वही पर किसी जाति का नाम मिलता है तो ब्राह्मण जाति का ही मिलता है अर्थात् का नहीं वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ।^३ वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था ।^४

४५—अन्यत्र प्रजापति के दो विभाग दिए गए हैं । इन के नाम भिन्न भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

विजानीह्यार्यान् य च दस्यवो ब्रह्मिष्मते रथया शासद्व्रतान् ।^५

दस्युआ को धनित बताया है ।^६ य व्रत और यज्ञ से हीन कहे गए हैं—

अयव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।

अव स्व सखा दुषुवीत पवत मुघ्नाय पवत ॥^७

मनु के अनुसार चारों वर्णों से बहिर्भूत आर्य और म्लच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं —

१ ऋ० १।९६।२ २ ऋ १।११७।२ ३ ऋ १।९२।१७ ।
४ वेदमयासमालोचन पृ० १८२ । ५ आगे मस० ४२।५ तथा ऊपर मस० १७-१८ देखें । ६ ऋ १।५१।८ । ७ ऋ १।३३।४ ८ ऋ ८।७०।११

‘मुखवाहस्पृग्जाना या लोके जानमा वहि ।
म्लेच्छवाचःचार्यवाच सर्वे त दस्यव स्मृता ॥’

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारों वर्णों के व्यक्तियों के माने हैं ।’

(२) दास और आर्यः—

‘अन्तर्यच्छ जिघामना वज्रमिद्राभिदामन ।
दासस्य वा मधवजायस्य वा मनुजवया वधम ॥’

इस वर्णन में दासा और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है । हम में पहले दास का उल्लेख है फिर आर्य का ।

(३) ब्रह्म और क्षत्रः—

‘यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्ची चरत सह ।
त लोक पुण्य प्रज्ञेय यत्र देवा महाम्निना ॥’

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तियाँ क द्योतक हैं । समस्त शक्तियाँ इन के अन्तर्गत ही हैं । ये दोनों अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु क अनुरूप माने जा सकते हैं ।’

(४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्

‘मलस्य ते तविपस्य प्र जूनिमियमि वाचममृताय भूपन ।
इन्द्र क्षितिनाममि मानुषीणा विशा दैवीनामुत पूर्वयावा ॥

१ मनु १०।४५ १ ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीनि से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु । २ ऋ १०।१०२।३ ३ य० २०।२५। य० १८। ३८-४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं । ४ य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्ची चरत सह । त लोक प्रज्ञेय यत्र सदिन विद्यते ॥ ५ ऋ ३।३४।२

मानुषी क्षिति मानुषी विश् ही है—‘विशा वर्वि विरपति मानुषीणाम्’^१।
यहा ‘स देवेषु वनने वार्षाणि’ में देवी विश् वा निर्देश माना जा सकता
है। इस वर्णन में देवी विश् मानुषी विश् के अन्तर्गत ही मानी जा
सकती है, उस में पृथक् नहीं।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

‘अयज्वानो यज्वभि स्पर्धमाना ।’^२

अगले मन्त्र में यज्वान को ‘क्षितयो नवग्वा’ कहा है।^३ ये ऊपर वर्णित
दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं। ‘स निरुध्या नहुपो यज्ञां अग्निर्विस्वके
वल्लिहृत सहोभि’^४ में इन्हें नहुप् और विश् से वर्णित किया है। सायण-
भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

(६) ब्राह्मण और देव

‘तस्माज्जात ब्राह्मण ब्रह्म ज्यैष्ठ देवाश्च सर्वे अमृतेन साक्म्’^५

अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारिया से^६ और देवों को अमृत से^७ गतिमान्
वताया है। मभवत ऋग्वेद ने ‘अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरत
मानुषेभि’^८ में इन विभक्तियों को मानुष और देव कहा है।

(७) शूद्र और अर्य

‘यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभाया, यदिन्द्रिये ।

यच्छूद्रे यदर्यो यदेनश्चकृमा वयम्’^९॥’

१ ऋ ५।४३। २० ११। ५।४।१७ में देवी प्रजा को मुख से उत्पन्न
छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २ ऋ १।३३।५.
३. ऋ १।३३।६ ४ ऋ ७।६।५ ५ अवे. ११।७।२३ ६ अवे०
१९।१९।८. ७ वही, म० १०। ८ ऋ १९।१२।५। आगे मत्स०
४२।५ की टिप्पणी भी देखें। ९ म० २०।१७.

इसमें मानवों के ये ही दो विभाग निये गये हैं। इनमें शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन को शंती में शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इसमें ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इनका अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आनुदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पापाय धनायति' और 'शूद्रो यदर्याय जाग न पोप-मनु' मन्त्रों में 'अर्यजारा पद शूद्रा का और अर्यायं जार 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' मन्त्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'ता मे महन्नाक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधन् ।
तयाह सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्य' ॥
'उदग्रम परिपाणाद् यानुधान किमोदिनम् ।
तेनाह सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्' ॥
'प्रिय मा वृणु देवेषु प्रिय राजसु मा वृणु ।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये' ॥

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में अर्य पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों का तीन प्रजाएँ बताया गया है — 'त्रय वृण्वन्ति भुवने-
षु रेतस्तिव प्रजा आर्या ज्योतिरथा ।' प० अखिलानन्द लिखते हैं

१ य० २३।३० २ य० २३।३१ ३ अवे० ४।२०।४ ४ वही
म० ८। ५ अवे० १९।६२।१ ६ ऋ ७।३३।७

कि 'वेद में द्विजा को आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।' सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रवृत्त विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का द्योतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा^१ कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि^२ और 'दैव्या विश' कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवा में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ ईश्वर पुत्र^३, अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य^४ तथा निघण्टु में ईश्वर^५ दिया गया है। इस अर्थ की पुष्टि में शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध=त्यागी, सन्नासी(?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'असूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्या'।^६

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं —

(१) देव, असुर और मनुष्य

‘यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।

एवा सहस्रपोषाय कृणुत लक्ष्माश्विना’ ॥^१

१ वेदत्रयीममालोचन, पृ० २१७ २ श० ३।१।४।९ ३ वही.
४ श० ३।७।३।९। ५ नि० ६ पा० ३।१।१०३ ७ निघ २।२२।२
८ य० ३०।२२। यहा यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अनि ह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिबुल्व और अतिलोमश का और दूसरी बार मागध, पुश्चली, कितव और कलीव को अशूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९ अवे० ६।१४१।३

यहा पर देवा' अश्विना का विरापण है । यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहा दस्यु और आय के ममान दा ही विभाग रह जावेंग ।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

‘या मधामृभवो विदुर्या मेधाममुरा विदु ।
ऋपयो भद्रा मेधा या विदुस्ता मय्या वेदायामसि ॥’

इन तीना विभागा को एक समान भाव से वर्णित किया गया है ।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

य सुबन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमाननूती ।
यस्य ब्रह्म वधन यस्य सामो यम्यद राध स जनास इद्र ॥’

इस के पूर्वाद्ध में चार विभाग किय गये हैं उन की दृष्टि में उत्तराद्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं ।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

ब्राह्मण एव पतिन राजन्यो न वैश्य ।
तत्सूय प्रब्रुवन्नति पचम्यो मानवेभ्य ॥’

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं । इन में शूद्र का वर्णन नहीं है । उन का अन्तर्भाव इन्ही तीन में अभिप्रत है ।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

पुनर्वो देवा अददु पुनर्मनुष्या अददु ।
राजान सत्य गृह्णता ब्रह्मजाया पुनददु ॥’

इसमें देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजय और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद^१ से भिन्न है।

४३—अप्यं चार विभागा का उल्लेख है —

(१) सुवत्, पचत्, शसत् और शशमान

य सुवन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती ।^२

सुवत्—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—गुष्टिकर्त्ता शूद्र है। शसत्—
स्त्रोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय^३ कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

य य कामये त तमुग्र वृणोमि त ब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम् ।^४
स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है^५ ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण^६ में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निपेदुः ।^७ अग्नि तप से उग्र होती है ।^८ ब्रह्मचारी भी तप करता है ।^९ यजुर्वेद में शूद्र को^{१०} और कौलाल को^{११} तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का द्योतक

१ अवे० १०।८।३०-३८। २ ऋ २।१२।१४। ३ आगे म० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४ ऋ १०।१२।५। ४अ उग्र रुद्र का एक रूप है। ण० ६।१।३।१८। रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५ श० ६।१।१।१। ६ ऋ १०।१०९।४। ७ ऋ १०।१०९।१ पर ताभा० देखें। ८ अवे० ११।३।१। ९ य० ३०।५। १० वही म० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप का क्रियापात्र^१, नियम^२ और अगुद्विधा को क्षात्र कर के कायन्द्रिय का गुद्र वर्गन वाला^३ कहा है। यप मुमेश वर्णों के नामा में वैश्य का छात्रक हा जाता है।

(३) रघ्न, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तग्रावन् सुतसोम

या रघ्नस्य चादिता य कृशस्य या ब्रह्मणा नाधमानस्य कारे ।

युक्तग्रावणा याज्विता मुनिप्र सुतनामस्य स जनास इद्र ॥^४

आगे मात्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार य पद नमश क्षत्रिय गूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के छात्रक मान जा सकता है।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

प्रिय मा दम कृणु ब्रह्मराज्याभ्या गूद्रायचायाय च ।

यस्मै च कामयामहे सवस्मै च विपश्यत' ॥^५

यहाँ पर गूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में अय' पद अन्तोदात्त है और आय पद आद्युदात्त। मात्र में चार्याय में र्या पर स्वरित है। अतः चायाय में च और आयाय की सन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहलू लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य का छात्रक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहा दो विभागा १ ब्रह्म और राजन्य तथा २ शूद्र और आय का ईर्षट्ठा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान लें तो य पद वर्णों के छात्रक न रह कर दम या शक्ति विगषा के छात्रक बन जायेंगे।

१ यागदर्शन २।१। २ वही २।३२। ३ वही २।४३।

४ ऋ २।१२।६। ५ अवे० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

‘ब्राह्मणोऽप्य मुत्तमासीद् बाहू राजन्यं वृत् ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥’^अ

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारों वर्णों का इस मन्त्र से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चानुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र का आधार बनाया गया है।

४८—पाच जना—वृष्टिया—चर्पणिया का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा ‘अञ्जन्ति सुप्रथमं पञ्च जना’,^१ ‘य पञ्च चर्पणीरभि निप-साद दमे दमे।’^२ स्तोत्रा पचवृष्टि के अन्तर्गत हैं—‘अस्माकं शुम्भ-मधि पञ्च वृष्टिषु।’^३ प्रार्थनायें पाँचों वृष्टियों के लिए की गयी हैं—‘यद् वा पच क्षितीनां द्युम्नमाभर।’^४ यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पच जन बौत हैं, इस पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुवंग, दुह्यु, अनु, पुरु कहा है—‘यदि-न्द्राग्नी यदुषु तुवंगेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थ।’^५ ऐतरेय ब्राह्मण^६ में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरसु, सर्प और पितृ, निरुक्त में^७ गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के मत में चारा वर्ण और निपाद और प० अखिलानन्द^८ के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यज-मान हैं। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागा का भी उल्लेख है —

५ अ ऋ १०।९०।१२। १ ऋ ६।११।४। २ ऋ ७।१५।२।
३ ऋ २।२।१०। ४ ऋ ६।४६।७। ५ ऋ १।१०।८। ६ ऐ०
२।३१। ७ नि० ३।७। ८ वही। ९ वेदप्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

‘यथेमा वाच कन्याणीमावदानि जनेभ्य ।

ब्रह्मराजन्याभ्या गूद्रायचार्याय च स्वाय चाग्णाय ।

प्रिया देवाना दक्षिणार्थं दानुर्ग्रिह भूयासमय म काम ममृध्यन्तामुप
मादो नमनु ॥’

यदि ऊपर लिखे विभागा पर मामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहा पर मानव जाति के तीन दृष्टिया से दान्दा विभाग स्पष्ट ज्ञान हो जायेगे—१ ब्रह्मन् और राजन्य २ शूद्र और अर्य (या आर्य) ३ स्व और अरण (अग्ने और पराये) ।

५०—वेदमन्त्रा में उपलब्ध मानव जाति के कनिष्ठ विभागा का निर्देश किया जा चुका है । शूद्रा की स्थिति के निर्णय में अधादत्त बातें विचारणीय हैं ।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टिया से किये गये हैं । यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रा ने इस प्रकार की कुछ दृष्टिया का आभास मिलता है —

‘एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरामीत् ।

तिमृभिरस्तुवत ब्रह्मामृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरामीत् ।

पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यमृज्यन्त भूताना पतिरधिपतिरामीत् ।

सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽमृज्यन्त धाताधिपतिरामीत् ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽमृज्यन्तादितिरधिपत्यामीत् ।

एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽमृज्यन्तार्तवा अधिपनय आमन् ।

त्रयोदशभिरस्तुवत मासा अमृज्यन्त सवत्सरोऽधिपतिरामीन् ।

पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रममृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरामीत् ।

मण्डपमभिस्तुन्न ग्राम्या पशवोऽमृज्यन्त वृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥
 नवदशभिस्तुवत शूद्रार्थमृज्येतामहोरात्रे अधिपती आस्ताम् ।
 एरवि^१, शत्यास्तुवतेशपा पशवोऽमृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
 तयावि^२, शत्यास्तुवत क्षुद्रा पशवोऽमृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
 पञ्चवि^३, शत्यास्तुवताऽऽरण्या पशवोऽमृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
 मप्तवि^४, शत्यास्तुवत छावापृथिवी ध्येता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्या-
 येस्त एवाधिपतय आसन् ॥
 नववि^५, शत्यास्तुवत वनस्पतयोऽमृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
 एकनि^६, शत्यास्तुवत प्रजा अमृज्यन्त यदादचायवाश्चाधिपतय आसन् ।
 तयस्मि^७, शत्यास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापति परमेष्ठ्यधिपति-
 रासीन् ॥”

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ ।

(२) उपरान्त वर्णना में ममस्त विभागों को एक स्तर पर रखा गया है, केवल दस्युओं को हिमक बना कर उन्हें हीन माना गया है ।

(३) शूद्र का आर्य से पहले वर्णित किया गया है ।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है । वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है ।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

.१ य० १४।२८-३१ । इन में मन्त्र ३० में ‘शूद्रार्थो’ में ‘राज-
 दन्तादिषु परम्’ (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्वनिपात माना गया है ।
 परन्तु राजदन्तादिगण में ‘शूद्रार्थम्’ पाठ है, ‘शूद्रार्थो’ नहीं है । अपि च ।
 वेद मन्त्रों में अधिवादा स्थान पर सामान्य के अभाव में शूद्र और आर्य का
 क्रम ही मिलता है । अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है ।

केवल 'एक मन्त्र' में पाया जाता है। आगे मग० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम मान जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के गृध्रकृता गजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभि कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्तार वध्वृच्छन्तु ॥^१ में गृध्रकृता का सबप्रथम वर्णन साभि-प्राय है। इसमें शूद्र राजन् और ब्रह्मन् का ही निर्देश है वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्या का ऋचाआम धना का यजपा से और ब्राह्मणा का मामना स उत्पन्न बताया गया है। साथ ही सब कुछ का ऋचाआम से उत्पन्न बताया है।^२ साथ अथर्ववेद और शूद्र रह जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए कहा दीक्षित राज्य और वैश्य को ब्राह्मण माना है।^३

(९) शतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का क्रम विश्व शूद्र क्षत्र दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उससे शेष वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर चारों वर्णों का एक स्तर का माना है। यहाँ पूषा की शूद्र कहा है और पृथिवी का पूषा।^४ ब्राह्मणा में अनेक पदा के अर्थ एक ही साथ ब्रह्म क्षत्र विश्व और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिए गये हैं।

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में^५ सोम को ब्राह्मणा का दधि को वैश्या का और अपम् को शूद्रा का भक्ष बताया है। जल कल्याण और मित्रि के प्रतीक हैं। तु क—'दानो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शयारभि सवन्तु न ॥'^६ एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।^७

१ ऋ १०।९०।१२। २ अवे० १०।१।३ ३ तै० ३।१२।९।१-४।
४ श० ३।२।१।४०। ५ श० १४।४।२।२४-२७। ६ वैको० में वाक
गौ आदि पद देखें। ७ ऐ० ७।२९। ८ य० ३६।१२। य० ११।५०-५१
भी देखें। ९ य० ११।५२। पाठ० में पू० २७ पर २३ (१५-५) देखें।

(११) ऊपर दामा को आयों का समक्ष बताया है। यथावा नयति दासमाय ' में यथावगम् का अर्थ वगमिव करने पर इन्द्र दामा का ननृत्व करता है भाव निवृत्ता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पत्^३ एक शास्वतिकदृश्य का द्योतक है दासा व नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथववद के 'गूद्रामिच्छ प्रपञ्च्यम्' में 'गूद्रा' पद किसी स्थान विगप का नाम प्रतीत होता है जातिविशेष का नाम नहीं है क्योंकि इन का प्रयोग मृजवत और बाल्हीकान के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंग में वर्ण 'गुन्म' के लिए आय वणम^४ का प्रयोग हुआ है। वधन दस्यु प्र हि चातयस्व वय वृष्यान् स्तव स्वायै^५ की पुष्टि में आय वणम का अर्थ आराम्य और स्वास्थ्य भा समझा जा सकता है।

(१४) छांदोग्य उपनिषद् में 'श्रद्धादेय बहुदायी बहुपात्र्य और आदमय निमापक जानश्रुति पोत्रायण का 'गूद्र' कहा गया है। स्वामी गकराचाय का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहाँ पर श्रृष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को गूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लक्षानुसार^६ तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप में ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुन यापोत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मात्राश्रय^७ होना बुद्धिगम्य नहीं। ऋषि-श्रृष्ठ-गूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेय में अपन-अपन कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

१ ऋ ५।३।६। २ ऋ ५।३।७-८। ३ अवे० ५।२।७
 ४ ऋ ३।३।५ ५ ऋ ३।३।९। ६ ऋ ५।४।६। ७ छा
 उ० ४।२।३ ५। ८ वेदत्रयीसमालोचन प० २२७ पर पा० ४।१।
 १०४—अनूप्यान्तर्यो विदादिभ्योऽञ्ज पर पतञ्जलि मनि का लक्ष देखें।

को विभिन्न गुणा और गक्तिया आदि में सम्बद्ध किया गया है। वही ब्राह्मण को ब्रह्म में राजन्य को क्षत्र में वैश्य का मर्त्य में और गृध्र तथा कौशल का तप से सम्बद्ध किया है।^१ मनु ने समस्त वर्णों का तप पथक-पथक बताया है। उस में गृध्र का तप मत्वा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णना से इस की पुष्टि नहीं हानी है। अतः गृध्र का तप से सम्बन्ध के कारण 'पदभ्याम गृध्रा अजायत' में पदभ्याम का अर्थ तप धर्म करना यक्ति मगत मालूम पड़ता है। गतपथ ब्राह्मण ने पाद का प्रतिष्ठा कहा भी है। पडविंश ब्राह्मण ने पादों का अनुष्टुप कहा है। अनुस्ताभन मित्र की पत्नी गायत्रा वाक ज्यैष्ठ्य पृथिवी प्रजापति राजस्य अश्व आप सत्यानृत आदि का अनुष्टुप कहा गया है। पृथिवी शूद्रवर्ण है क्या कि वह पूषा है।^२ अतः पदभ्याम पापक भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) गतपथ ब्राह्मण में तप का गृध्र कहा है—तपा वै गृध्र ।

(१८) ऋग्वेद में अग्नि और विप्र दत्ता को द्विजमा या द्विज कहा है ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का नहीं।

(१९) मनु ने द्विजा के तीन जन्म माने हैं—माना में उपनयन में

१ म० ३०।५ अ २ मनु ११।२३। २ ज० १०।९०।१२।
आगे मम० ३३।४ की टिप्पणी भी देख। ४ ग० १२।८।२। ५ पञ्चविंश
ब्राह्मण २।३। ६ देखो वैका० ५० २१-२६। ७ म० १६।४।२।२५।
८ म० १३।६।२।१० ९ देखो ऋ १।६०।९ १४०।२ १४९।४-५
६।५०।२, १०।६।१।१९। यहाँ पर मा० न द्विजा का पृथक् मान कर
विप्र अर्थ किया है। सायणीय याजना में भी वर्णभाव नहीं आता। ऋ
३।२७।८ में विप्र का यज्ञ का साधन और ऋ ८।६।२८ में धी (कम बुद्धि)
से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र है। अतः इस अर्थ में द्विजपद मानव
मात्र का द्योतक है।

और यज्ञदीक्षा से ।' यतपय ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुरुष को ब्राह्मण कहा है ।' महाभारत के अनुसार द्रुद्र भी यज्ञ में दीक्षा लेने हैं और यज्ञमग्नौ पर 'पूर्ण यज्ञ' नामक दक्षिणा देते हैं ।'

(२०) ज्यानिष शास्त्र में द्रुद्रा का स्वामी बुध बताया गया है—
विप्रादिन शुक्रगुरु बुजानो गतो बुधश्चेत्यमितोन्त्यजानाम् ।' वहाँ
बुध का शिष्टवाक् हाम्य में रचित रखनेवाला और विद्वान् बनाया है—
'शिष्टवाक् मततहास्यरचितं ।'

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के ऋषि वक्त्र ऐलूप को दानीपुत्र
विनव और आचारधृष्ट माना जाता है ।' वक्त्र को ऋग्वेद में आपम्
से सम्बन्धित और इन्द्र से रक्षित बताया है ।' इस के एक सूक्त' का
देवता 'आप और एक सूक्त' का इन्द्र है । दो सूक्तों' के देवता
विश्वेश्वा, इन्द्र आदि हैं । शिष्ट सूक्तों' के ग्यारहवें मन्त्र में 'वृषल'
का प्रयोग है । सम्भवत इस वर्णन को ऋषि की आपसीती मान कर
ऐतरेय ब्राह्मण की क्या गड़ली गयी । यहाँ पर वृषल पद द्वयर्थन प्रतीत
होता है—धर्म का धारक (—वृष धर्म लाति गृह्णाति धारयतीति वा)
होना हुआ भी आचारसे धर्म का नाशक (—वृष धर्म लुनाति उति) ।
अन वक्त्र अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रेष्ठ्य के कारण

१ मातृ० २।१६९। २ श० ३।२।१।४०। ३ टा० अम्बेदकर द्वारा
थी राय के कलकत्तामस्करण के महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ६० से
उद्धृत श्लोक ३८-४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हूवर
की मूद्राज, पृ० १२१ । ४ बृहज्जातक २-७। ५ वही । ६ ऋ
१०।३०-३४। ७ एतद्विषयक गायत्री आचार्य शिवपूजन सिंह कुशवाहा ने
वैदिक धर्म, गिरम्वर १९५७ के अंश में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) गम्वार
विमर्ग' में एकत्रित की है । ८ ऋ ७।१८।१२। ९ ऋ १०।३०।
१० ऋ १०।३०। ११ ऋ १०।३१ ३३। १२ ऋ १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद को प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कहलाया होगा। कशीवान् आदि ऋषिया की स्थिति पर इस दृष्टि से पुन विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रा में सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता नहीं हैं। व उन के अथा के चोतन पद हैं। तत्सम्बन्धी आख्यान आल-कारिक मात्र हैं। 'अ

(२२) श्री मोनियर विलियम्स ने अपने काप' में लिखा है कि बौद्ध-साहित्य में शूद्र पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईष्यावश भी प्राप्त हो सकता है और प्राचीन स्थितिया का अवशेष भी। वीरचरित' में शूद्रिन एक पुत्र का नाम है। हरिवंश में शूद्रा रौद्रादव की पुत्री का नाम है।

(२३) मनु न शूद्रा का धर्म का विमर्चक बताया है —

यस्य शूद्रस्तु कुलन राजा धर्मविवर्चनम् ।

तस्य नोर्दानं तद्राष्ट्रं पक गात्रि पश्यत ॥

बहुश्रुत और सदाचारी व्यक्ति का ही धर्मविवर्चन का अधिकार प्राप्त होता है। तु क कुल्लुव का व्याख्यान—धार्मिकोंसि व्यवहारजोंसि शूद्र ।' अ

(२४) मनुस्मृति में जान होता है कि उस न काल में शूद्र राजा भी होते थे। वहाँ पर नृपतिमान का धर्मिय कहा है।' अतः शूद्र राजा धर्मिय ही रहे होंगे।

१२ अ—देखा सुधीर कुमार गुप्त सीयस ऑफ दी कृष्णद दजर मसेज एण्ड फिजैसौफी, ऋषमूक्ता की भूमिका, मदम ३९-४५ भी देखे।
१ विको० पृ० १०८५, कालम ३। २ वही। ३ मनु० ८।२१, श्लोक २० भी देखें। २अ वही, श्लोक २०। ४ मनु० १०।१०

(२५) कर्मापवरणा गद्रा कारव गिल्पिनस्तथा^१ कह कर मनु स्मृति न गद्र आदि का करमुक्त किया है। वद म कारु और तक्षा आदि गिल्पिया का बन्ध सम्मान है। वधु तक्षा वहा एक ऋषि है ऋभव और त्वष्टा देवता ह। अत इन का उन की थपठना कलाकौशल और यत्नमय जीवन के लिए करा स मुक्त किया गया हागा।

(२६) कभा कभा ब्राह्मण भी गूद्रा का सवा करत थ। परन्तु उह इम सवा क कारण पतित माना जाता था।^१ आपत्काल म वश्य भा गूद्रवृत्ति कर सकता था।

(२७) गूद्र का हया करन पर मनुस्मृति न प्रायश्चित्त का विधान किया है।

(२८) अमरबाप म आभारी का महागूद्रा कहा है।^१ मन क मत म ब्राह्मण स जम्बूष्ठ क्या म उत्पन्न स्ना आभारा हाता ह। बीज का प्रदानता के कारण आभारा ब्राह्मणा हा है। उम महागूद्री कहना प्राचान इतिहास का अवगप है।

(२९) अत्रिस्मृति म विप्रा क दस प्रसार बनाय ह जिन में गूद्र विप्र भा ह —

दवा मुनिर्द्विजा राजा वय्य गद्रा निषादक ।

पगुम्लच्छर्जपि चाण्डाल दगविधा स्मता ॥

इम म बदिक् और पाछ क काल के मानव जानि क भागा का एकत्र कर दिया गया है।

१ मन० १०।१२०। २ दखा ऋषिया और त्वेताआ की अनुक्रमणिका। ३ मनु० ११।६९। ४ मनु० १०।९८। ५ मनु० ११।१३० १२१ १४०। ६ अका० २।६।१२। ७ मनु० १०।१५। ८ स्मृति मदम भाग १ प० २८६।

(३०) डा अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखा में से छै में पैजवन मुदास को 'गुद्र', एक में गूद्र के स्थान पर शुद्ध 'कहा गया है। दो में 'शूद्र-गुद्र' के स्थान पर 'पुरा' का पाठ है। 'गूद्र' के स्थान पर 'शुद्ध' का प्रयोग इन दोनों का समानार्थक बता रहा है।^{१अ} पुराणा में और ऐतिहासिक की दृष्टि में ऋग्वेद में पैजवन मुदास क्षत्रिय है। अन क्षत्रिय गुद्ध-गूद्र मिद्ध होने हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रा में भी रथ के आधान की प्रार्थना की गयी है।^{१आ}

(३२) मर एम मानियर विलियम्स व काप में संगृहीत शूद्रविषयक अत्रादत्त पदों में गूढ इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज), शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा) शूद्रयाज्ञक, शूद्रप्रायश्चित्त, शूद्रशामन, शूद्रमस्कार और शूद्रीभू। उन्होने शूद्रा में सम्बन्धित अत्रादत्त १९ पुस्तिका का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन में भी शूद्रा की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है — १ शूद्रकमलाकर २ शूद्रकुलदीपक ३ शूद्रकृत्य ४ शूद्रविचारण ५ शूद्रविचारणतत्त्व ६ शूद्रविचारतत्त्व ७ शूद्रजपविधान ८ शूद्रतत्त्व ९ शूद्रवाधिनी १० शूद्रपञ्चमन्त्रविधि ११ शूद्रपद्धति १२ शूद्रविवेक १३ शूद्रस्मृति १४ शूद्रचिन्तामणि १५ शूद्रशिरोमणि १६ शूद्राह्निक १७ शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८ शूद्रोत्पत्ति १९ शूद्राद्यान।^१ इन में से कुछ तो आपातत ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रा के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

१ डा अम्बेदकर, हूवर दी शूद्राज, पृ० १२१। १अ इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की सैली को विद्वाना न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ १।१५।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखें। वेभाप० ४ भी देखें। १आ य० १।८।४८। २ विको० पृ० १०८५। ३ वही।

(२३) मनु ने गदराज में निवास का निषेध किया है।^१ गूढ़ राज्ञे गदरा की दलिततावस्था में वक्ष्यतातोत ह । वह तभी सम्भव है जब वे शक्तिशाली सुमण्डित हों और क्षत्रिया का श्रम में आयें । ब्राह्मणों का उन से द्वेष उन के ब्राह्मणों के समान ज्ञानवान् और सम्मानित हान से हो सकता है । आधुनिक युग में भी कहा-कहा ऐसी परिस्थिति देखी जाती है । यथा डा० मण्ड दत्त गार्गी के जनारत ससृष्ट कालिन का प्रिंसिपल बनाए जाने पर कतिपय ब्राह्मणों ने उन के विरुद्ध आन्दोलन किया था । दक्षिण में भी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का भय बहुत मुनन में जाता रहा है । परतन्त्रता के काल में कतिपय अन्दर ब्राह्मण अब्राह्मणों का ससृष्ट पदान में मकाच करने थे । हरिजनता गदरा का बद पदान के लिए तो सम्भवतः आज भी बम ब्राह्मणों तयार होंगे । गदरभूषिष्ठ राज्ञे के नाम का अवयम्भाधिता के मूल में भी यही भाव उभित होता है । सम्भवतः गदरा की सन्निधि में अध्ययन के निषेध में निग्रह का भय और अपन ज्ञान का गदरा में गुप्त रखने की भावना लभित होती है । मनुस्मृति के गूढ़ों में दान न लेने उन का न पदान और यत्न न कराने जाते के विधान भी गदरा के उक्त के परिचायक है ।

(२४) कश्यपमहिता में कश्यप ने सब वर्णों का आयुर्वेद पत्र का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अधपरिगान पुण्य और परापकार के लिए क्षत्रिय प्रजापति की रक्षा के लिए वैश्यवर्ति के लिए और गूढ़ सेवा के लिए आयुर्वेद पत्र । आयुर्वेद पत्र लेने पर वैद्य का तीमरा जाति भिषक हो जाता है और वह विजय हा जाता है।^२ गदरा की निज सत्ता तब ही साधक

१ मनु० ४।६१ । २ मनु० ८।२२ । ३ वहा ४।९९ । ४ मत्स्य रत्निधि विभाग पृ० ८८ । निज के स्थान पर द्विज पाठ पीछे का हो माना जा सकता है । यह बिना ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया होगा तो गदरा के विजय का समग्रन में अवमय रहा अथवा उस यह स्थिति रचिकर नहीं जी ।

हा सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए । द्विज म ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का हा ग्रहण होता है गूद्रा का नहीं । उन को द्विज मानन पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा ।

(३५) आ गौरिग गूद्रा को आर्येतर जाति मानने ह जो आर्यों के तीनों वर्णों के माय परस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा इनत अधिक आय हो गय ह कि उन में से कुछ जानिया तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं ।

(३६) नैतिगीय ब्राह्मण म ब्राह्मणा को दवा ने और गूद्रा का जमुरा और अमल से उत्पन्न बताया है ।

(३७) ऋग्वेद के एक वर्णन म एक ही वर्ण म विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है —

कामरुह ततो भिषगपठप्रक्षिणी तना ।

नानाश्रियो वसूयवोज्ञ गा इव तम्यभेद्राग्रन्दो परि खव ॥

कारु-स्तोत्रा-ब्राह्मण भिषक-उत्पन्न वैद्य-वसूय और उपलम्प्रक्षिणा-गूद्र (?) हो सकते हैं ।

(३८) गूद्रपद की व्युत्पत्तिया इस प्रकार ह —

(१) √ गूद्र रक् स—गूद्र गान्त भौ० । गान्त इति गूद्र वर्णान्त ।^१ कता ।

(२) √ गुच से—गोचयतीति गूद्र । भेषकों वा ।

१ डा अम्बदकरद्वारा हूवर दी गूद्राज उपोद्धान प० पर गौरिग हिंदू टाइम्स एण्ड वास्टम भाग १ भूमिका प० १११ म उद्धृत ।
२ वही प० २७ । तथा तै० १।२।६।७ और १।२।३।९। ३ ऋ ९। ११२।३। ४ सकाप वर्ण इति पाठ । ५ दपाउ० ८।३४। ६ पपाउ० (दस०) २।१९ ।

(३) इसे स्वयति गच्छति वधन मे भी लिया जा सकता है । ऋग्वेद के महिमा श्रुतस्य' और यजुर्वेद के गूवार (=क्षिप्रकारी) और श्रुत (=क्षिप्रवृत्त)^१ में भी यही भाव है । यद्यपि यहा शूद्र पद का कोई आभास नहीं मिलता तो भी अय और रूप में शूद्र की श्रुत से समानता के आधार पर शूद्र को श्रुत का रूप माना जा सकता है ।

(३९) व्याकरण में शूद्रीपद शूद्रपत्नी का और शूद्रापद शूद्रजाति की स्त्री का द्योतक है । हो सकता है आचाया पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त पापक परापकारपरायण स्त्री को कहता हो ।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है घोंडा और गाजर का भी द्योतक है और वषठी पद केवल शूद्रा या शूद्री का द्योतक नहीं प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कया रजस्वला वाज्ञ भतसत्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृषली है । ऐसी कया और स्त्रिया सभी वर्णों में होती है शूद्रा में ही नहीं ।^२ मौर्यों को बौद्ध साहित्य में धनिय कहा है परन्तु पुराणा आदि हिन्दू साहित्य में वषल और शूद्र ।^३ अ य पद उन के श्रष्टत्व के कारण उन्हें मिले हुए जिन का कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समझा जाना गया ।

(४१) लोक में महतर (=महत+तर) और चूहडा (चतुधुरीण—चौधड—चौहड) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्चस्तर के द्योतक हैं ।

(४२) ऋग्वेद में विशा में ऋषि को सबश्रष्ट माना है —

ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनाम ऋषिर्विश्राणा महिषो मगाणाम ।

१ ऋ १।१६२।१७। २ य० २२।८ २५।४० । ३ अको० और अय कोपा में इन पदा के अय देखें । ३ अ देखा डा० हमचन्द्र राय चौवरी पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशियाट इण्डिया चतुर्थ मस्करण (१९३८), पृ० २०४-२९६ ।

श्येनो गृध्राणा स्वधितिर्वनाना माम पवित्रमत्येति रेभन् ॥^१
मानवमान विप्र है और ऋषि शूद्र ।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋचाओं के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रा का स्वामी नहीं हो सकता है ।^२

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलने हैं —

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नहीं थी ।

(२) वैदिक काल में गुण और कम का प्राधान्य था । जैसा गुण और कम जिस व्यक्ति में देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था ।

(३) समाज में पराधकार ज्ञान श्रम तथा गतिशीलता आदि गुणा को बहुत महत्व दिया गया था । इन गुणा से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे । ऋषि सब में श्रेष्ठ थे । अतः शूद्र सब में श्रेष्ठ थे । ऋषि सब वर्णों में निकलने थे । इस लिए उन का—शूद्रा का पृथक् वर्ण नहीं था ।

(४) इसी कारण शूद्रा का पृथक् यज्ञोपवीत संस्कार नहीं बताया गया है । जिस प्रकार त्रयी में चारों वेदों का अवबाध होना है उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनों वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

(५) कालांतर में ब्राह्मणा का और इतरवर्णों के शूद्रा का मध्यम चला जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में बौद्धिक कार्य के सम्पादन होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददर्लित हुए । जहाँ वही मिल सके वहाँ उन की गोत्रपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी ।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयमाण्डे ऋण्डमाः ३—७)



१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥

२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥

३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥

४-ययामङ्गलं वा मर्षेणाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का
शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(माण्ड २, ऋण्डमा ३—७)

१—ब्राह्मण उपनयन के लिये अष्टवर्ष (आठ वर्ष) या अष्टवर्ष (गर्भाष्टमे) का अवसर (वा) होना चाहिये ।
२—राजन्य उपनयन के लिये एकदशवर्ष (ग्यारह वर्ष) का अवसर (वा) होना चाहिये ।
३—वैश्य उपनयन के लिये द्वादशवर्ष (बारह वर्ष) का अवसर (वा) होना चाहिये ।
४—ययामङ्गल (ययामङ्गल) या मर्षेणाम् (मर्षेणाम्) का अवसर (वा) होना चाहिये ।

५—अथवा मर्षेणाम् का अवसर (वा) होना चाहिये ।

६—वैश्य उपनयन के लिये द्वादशवर्ष (बारह वर्ष) का अवसर (वा) होना चाहिये ।

७—अथवा मर्षेणाम् का अवसर (वा) होना चाहिये ।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युप्तशिगममलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७ परचादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।

तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय वलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (वृत्ति के लोग) को भोजन कराए ।

६—और (अब) उस (ब्रह्मचारी) को शिर मुँहवा 'कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुखड़े हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—‘(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत का प्राप्त हुआ हूँ’ तथा ‘(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।’

८—अब (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—

९—(बृहस्पति.) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी ब्रह्मवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [यज्ञमय] दीर्घ जीवन (वलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां वञ्चीते ।

११-इयं दुरुस्तं पञ्चिवाधमाना

वर्णं पवित्र पुनती म आगात् ।

प्राणापानाभ्यां बलमादधाना

स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युग सुनामाः परिवीत आगात्

स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति

स्वाध्यापो मनसा देवयन्तः ॥

इति वा ॥९॥

१०—(अथ आचार्य क कहन पर ब्रह्मचारा इन मन्त्रों को पढ़ कर)
मेखला (= तगड़ी) बाँधता है ।—

११—[दुरुस्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिवाधमाना]
नष्ट करता हुई (और) [मे] मेरे [पञ्चित्रम्] पावन
[वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपा) यश को [पुनती]
पवित्र करता हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान
(के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देतो
हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगान वाला (अथवा-
वहन के सदृश) [देवी] श्रोतनशाल (= चमकती हुई)
[सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या वरमंफल (= भाग्य) (देने)
वाला [इयम्] यह [मेखला] तगड़ी (आज से मुझे)
[आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)—[सुवासा.]

१३ तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-× अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५ [यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं

प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं

यज्ञोपवीतं वलमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनयामि ॥इति॥

सु दर व न घ र्ण कए हुए [परिवीत] (विद्याप्राप्त का भावना से) भरा हुआ (वा - प्राचाय स मगत हुआ) [युवा] गया ब्रह्मचारी [अर्गात्] (ब्रह्मचर्य व्रत क पानन न ॥७६ गुरु न वास) आया ह । [उ] नि म दह [स] बह [जायमान] (प्राचाय स ता शक्तों में तरस) उ र्न्न शक्ता हुआ [श्रयान्] श्रय (क जान हा आभार) (शब्दाथ—श्रेष्ठ) [भवति] होता ह [धीरास] सम्भार बुद्धिमान् [स्वाध्य] सु दर विद्याथी का आधान करने वाले [मनसा] मन म [देवयन्त] (ब्रह्मचारी का) वदायवत्ता विद्वान् बनान की इच्छा करते हुए [वयय] विद्वान् आचार्य (उस का) [उन्नयन्ति] (सद्गुरुयुक्त शक्ता प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करन ह ।

१३—अथवा चुप चाप (=मौन हो कर बिना मन्त्र बाले हा) (मलला बोधे) ।

१४—यद् यज्ञोपवीत पहना जाता ह—

१५—[यत्] जा [पुरस्तात्] पहले [प्रजापते] यज्ञ क [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (क ज्ञान

१६-अयाजिन प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्दृष्टेः वलीपस्तेजो

यशस्वि स्यान् सर्मिद्धम् ।

अनाह्नस्य वसन जरिष्णु पदीद

वाज्यजिन दधेऽहमिति ॥]

१८ दण्ड प्रयच्छति ॥११॥

क अ धार हा) क प तय अथवा परम [पात्रम्]
पावन [यज्ञोपवीतम्] (व्यावर्तनम्) यज्ञ का वापक
(जनक) [अग्र्यम्] अग्र्युत्तम [आयुष्यम्] आयु
[प्रतिमुत्र] प्रदान कर (यह [शुभ्रम्] सफेद रङ्ग का
[यज्ञोपवीतम्] जून् [धनम् तेन] वन और तज
[अस्तु] दन वाला हा ॥ [यज्ञस्य] (तम) ज क
[यज्ञोपवीतम्] जनक [अस्ति] हा । (म) [त्वा]
तुम क [यज्ञोपवीतम्] जनक [उपनह्यामि] पहनाता हू ॥

१६—अय (आचम्य ब्रह्मचार का) का मृग का चम दता है ।

१७—[मित्रस्य] मित्र (—दु ग स प्रवान वाल) की [चक्षु]
आख न सदृश, [धरणीम्] धाग, [वलीय] दृढ [तेन]
तजस्वा [यशस्वि] (और) यशस्वा [स्थविरम्] पुराना
[सर्मिद्धम्] चमकाला (—साफ सुथरा) [अनाह्नस्यम्]
पवित्र (करन वाला), [जरिष्णु] बिरकाल म फटन वाला
(अथात्—का) [इदम्] इस [वानि] ज्ञान और शक्त
का प्रताक [अचिनम्] काने मृग को खाल (स्त) [वसनम्]
वस्त्र का [अहम्] म (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हू ।

१८—(अब आचम्य ब्रह्मचार का) दण्ड दता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनराददे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मचर्चसायेति ॥१२॥

१-दीक्षावदेके दीपंसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति -

१६--(ब्रह्मचारी) उस डण्डे को ग्रहण करता है ।

२०--[य] (यह) जो [मे] मेरे [परापतत्] सामान आया हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायस] निरन्तर गति करने वाला, [दण्ड] (अनुशासन करने वाला) डण्डा (है), [तम्] उस को [अहम्] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (प्रगतिशाली) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (और) [ब्रह्मचर्चसे] ब्रह्मतेज (का प्राप्ति) के लिए [पुन] (अपने से) पहले के (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ ।

२१--(दार्ढ्य काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा देने वाला बालक) लम्बे सोमसत्र में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमसत्र को) दाक्षा (म दण्डग्रहण) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२--अथ जल से (भरी हुई) अपने (अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल में) भरता है ।

१-एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः--'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह' इ स आस्य यज्ञयोदचः' अभिप्रत ।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनं सूर्यमुदीक्षयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणां ममधिहृदयमालभते—

२७-मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चिन्तमनु चिन्तां ते अस्तु ।

मम वाचमेकमना जुपस्व बृहस्पतिर्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अञ्जलि को) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है) ।

२४—अथ उस (ब्रह्मचारी) का सूर्य का दर्शन कराता है ।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) 'तच्चक्षुः' आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है ।

२६—अथ (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है ।

२७—[मम] अपने (= आचार्य के) [व्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्यापृत करता हूँ ।

१—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । मदे रणाय वक्षसे ॥१॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरं ॥२॥

तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुम्मुच्चरत् । पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शत शृणुयाम शरदः शतं प्रव्रजाम शरदः शतमदीनाः स्थाम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को
नामामीति ॥१७॥

२९-असाग्रह भोऽइति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह—स्य ब्रह्मचायसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाह-
माचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्]
ज्ञान [अनु] क समान [अस्तु] हो । [मम] मेरा
[वाचम्] वाणी का [एवमना] एकाग्र मन से [जुपस्य]
सुना करना । [बृहस्पति] व्याधिपति परमात्मा [त्वा]
तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अथान्—मेरे से) शक्ति प्राप्त
करने के लिए) [नियुनक्तु] नियुक्त करते रहें ।

२८—अब उस के से व हाथ का पकड़ कर (आचार्य) कहता है—
तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (सुगुह) नाम वाले हो] ।

२९—वह (ज्ञानरु) उत्तर देता है—दे (आम्हन्) यह मैं—हूँ ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुगुदाग्रह)
किस के ब्रह्मचारी हो ।

३१—‘आग्रह का’ यह कहे ज्ञान पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र]
परमेश्वर्यशाला और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो ।
[अग्निः] अज्ञान और पाप आदि — अग्नि के समान जला
दहन वाला परमेश्वर वा ब्रह्मज्ञान तुम्हारा आचार्य है । वह मैं
भा तुम्हारा आचार्य हूँ ।

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्र परिददा-

म्यद्भ्यस्त्वौपधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा

परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा

भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२-अथ उस (ब्रह्मचारी) का [भूतेभ्यः] समस्त उन्नत पदार्थों से (उन्नित उप्याग लेने = लिए) करता है (शब्दार्थ—देता है) ।

३३-[अरिष्ट्यै] सु क्षा के लिए (म) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक प्रमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ । [देवाय] दी तमान् [सवित्रे] सप्तम जगत् का उपादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूँ । (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] उन्नी का (म) [औपधीभ्यः] अ पधीनों का [परिददामि] देता हूँ । (म) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] दृल'क आर पृथिव लोक (अथवा प्राण और उदान) का [परिददामि] देता हूँ । (म तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] सम्पूर्ण तत्त्व-पदार्थों का [परिददामि] सौंपता हूँ । [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्यः] (बसु, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूँ, (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्यः] भूतों (पृथिवी, अप्स, नेत्र, वायु और आकाश रूप या प्राणामात्र) को [परिददामि] देता हूँ ।

३४ प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अग्न्याग्ध्य आज्याहुतीहुत्वा प्राशनान्तेऽथैनं *सं *शास्ति-

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-कर्म कुरु ।

३९-मा दिवा सुषुप्या ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

३४—आग्न का प्रदक्षिणा कर व (आचार्य ऊँ बाई आर) बैठता है ।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत ऋ. (१४) आहुतिर्पाद कर, (यज्ञशय के) ला लन पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा देता है—

३६—(अथ) तम ब्रह्मचारा हो ।

३७—(सर इमों अथवा-सम्प्योपासन और मोजन क आरम्भ में) पाना पिया करो (अर्थात्-आचमन किया करो) ।

३८—(सदा) काम करते रहना ।

३९—दिन में न सोना ।

४०—(पृछे जाने पर) उत्तर देना ।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रखता कर ।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्षों की समाप्ति पर) किया करो ।

४३-अयाम्मै सावित्रीमन्वाहोचारतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोप-
विष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आमीनाय वैके ॥४॥

४५-पच्छोऽर्द्धचेशः सर्वा च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥

४६-संवत्सरे ऋणमास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे
षडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण
इति श्रुतेः ॥७॥

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुग्न वाले, बैठे हुए, (प्रणाम और भद्धाभाव से शिष्टा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देवते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे ।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे) ।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधा-आधा ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे) ।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए) ।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है ।

४८-त्रिष्टुभ् * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगती वैश्यस्य ॥९॥

५०-मर्वेपा वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अथ समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवस मा कुरु ।

यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येव मा[†] सुश्रवः
सौश्रवसं कुरु ।

यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिषा अस्येवमहं
मनुष्याणां वेदस्य निधिषो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् (छन्द वाली) (सावित्री ऋचा (सिखाए) ।

४९—वैश्य को जगता (छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाए) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली ऋचा सिखाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे) ।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (दक्का कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा]
मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो ।
[सुश्रव] हे उत्तम कर्त्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा]
जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवा] परम अवश्रुत हैं,
[सुश्रवः] हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश
वाला [कुरु] कर दे । [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस
प्रकार [त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य
पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिषा]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पयुच्योत्तिष्ठन्तमभिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्पे बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यम एवमहमायुषा मेधया
वचसा प्रजया पशुभिर्व्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो
ममाचार्यो मेधाव्यहममान्यनिगाङ्गण्यशस्वी तेजस्वी
व्रह्मवर्चस्पन्नादो भूयामँ † स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (= धारक) [अग्नि] में, [एवम्] उसी प्रकार
[अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में
[वेदस्य] वेद के [निधिप.] कोष का रक्षक [भूयांसम्]
बन जाऊँ ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि का (जल से) छिटक कर खड़े हुए
(हो) (अग्नि) में समिधा डालता है ।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान् [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न
(पदार्थ आदि) को ज्ञात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्]
समिधा [अहार्पम्] दी है । [अग्ने] हे आग [यथा]
जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा में [समिध्यसे]
प्रदक्षिणा दाती हो [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा]
आयु [मेधया] धारण करती बुद्धि (वर्चसा) तेज [प्रजया]
विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभि.] शान्ति और कल्याण
(और) [व्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन के सम्पत्ति से [समिन्धे]
प्रदक्षिणा हो जाऊँ । [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य
[जीवपुत्र.] दीर्घजीवा पुत्रों वाले (हो यथार्थ—परम गति-
शील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं) । [अहम्] मैं [मेधावी]
बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णु.] (गुह

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-एपा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुख विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि,
वर्चोऽऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्म तन्या ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

रे उपदश को) न भूलने (या-डुकराने) वाला, [यशस्वी]
कीर्तिमान् (= प्रसिद्ध) [तेजम्बी] तेज-वी [ब्रह्मवर्चसी]
वेद ज्ञान के तेज से युक्त, [अन्नाद] (और) समस्त भोग्य
पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम्] रहूँ । [इति]
(मेरे) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो ।

५६—इसी प्रकार (इस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी
(समिधा) डाले ।

५७—अथवा 'एपा ते'—(मन्त्र से समिधा डाले ।) अथवा ('अग्ने
समिधम्' और 'एपा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर
(समिधा डाले) ।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और
जल छिड़कने को (कियाँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है ।

ॐ एपा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व या च प्यायस्व । वर्धिषीमहि
च वयमा च प्याधिषामहि ॥ अग्ने वाजजिह्वाजन्त्वा ससृगँ स
वाजन्तिँ सम्मार्जिम ॥"—

६१-मेधां मे दवः सविता आदधातु, मेधां मे दवौ सरस्वती
आदधातु, मेधामश्विनौ देवाग्धत्ता पुष्करस्तजाविति॥८५॥

६०--(अग्ने) हे (प्राण और रतस् क प्रताक) अग्ने, (तनूपाः
असि) (तुम) शरीर क रक्षक हो (मे) मेरे [तन्वम्]
शरीर को [पाहि] रक्ष करो । [अग्ने] / अग्ने [आयुर्दा
असि] तुम जीवन के देन वाले हो, [मे] मुझे [आयुः]
(यज्ञमय गतिशाल) जीवन [देहि] प्रदान करो । [अग्ने]
हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम तेज देने वाले हो [मे]
मुझे [वर्च] तेज [देहि] दो । [अग्ने] हे अग्ने [मे]
मेरे [तन्वा] शरीर में [यत्] जा रुख [ऊनम्] कमी हो
[तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [अपृण] पूरा
कर दो ॥७॥

६१--[देव सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पद परमेश्वर [मे]
मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें । [दिव्य] अलौकिक
स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे
[मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें । [पुष्करस्तनौ]
वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ]
दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक
विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान) [मे] मुझे [मेधाम्]
मेधा [आधत्ताम्] दें ।

१-गुजरातप्रससस्वरणे कण्डिकासमाप्तद्योतकोऽव —

४ इति अनापि प्रदर्शितः ।

६२—(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३—व्यायुपाणि रोगेति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे^१ मे
हृदि च—व्यायुपमि त प्रतिमन्त्रम्) ॥४५॥

६४—अत्र भिक्षाचयचरणम् ॥१॥

६५—भवत्पूर्वा ब्राह्मणो भिक्षात ॥२॥

६६—भवन्मध्या^२ रात्र्यः ॥३॥

६७—भगदन्त्या वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गा ना लु कर (मन-मन म उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन श्री श्रवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—‘व्यायुपम्’—इन^१ (तीन मन्त्रों म से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गद्दन, दाढ़िन कंधे और हृदय पर व्यायुप (—त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक) लगाएँ ॥४५॥

६४—अब भिक्षा माँगन की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में ‘भवत्’ का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ।)

१—व्यायुप जमदग्नेः कश्यपस्य व्यायुपम् ।

‘यद् देवेषु व्यायुप तन्नो अस्तु व्यायुपम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-यद् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रयमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय भैवं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं
तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिं सन्तरण्यात् समिधमादृत्य तस्मिन्तन्मौ पूर्ववदाधाय
वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यचारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुद्धा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने में) इन्कार करने वाली नहीं होती ।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य (इन्कार न करने वाली होती है) ।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता में (भिक्षा माँगे) ।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को
आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में सयत
बाणों वाला रहे ।

७२—अहिंसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई)
समिधाँ ला कर उस (सहकार के समय प्रज्वलित की गई)
अग्नि में पहले के समान डाल कर (मन्त्र आदि) बाणों को
बोले (श०—छोडे) ।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो ।

७४—दण्डा रखना, अग्नि की (दहन द्वारा) सेवा, गुरु की सेवा
और भिक्षावृत्ति (करे) ।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आदृत्य—इति पाठः ।

७५-मधुमाँसमज्जनोपर्यासिनस्त्रीगमनानृतादृशदानानि
वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासाँसि शाण्डौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐण्येमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥

८२-ग्राजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९॥

७५—शराव, मास, (गोते लगा-जगा कर अतिशय) स्नान
(अथवा—मालिश), ऊँच आसन पर बैठना, तिनको से
ससर्ग, मूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे ।

७६—ग्रहतालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे ।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे) ।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ़ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे) ।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के
(होते हैं) ।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (= फाला गारह सीधा) नामक
हरिण का काला चर्म (हो) ।

८१—उत्तरीय का (उत्तरीय) कुरु नामक हरिण (की खाल हो) ।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो) ।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्गी वैश्यस्य ॥२३॥

८७-मुञ्जाभात्रे कुशारमन्तश्च बल्लजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-वैल्यो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-श्रौदुम्भरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो ।

८४—ब्राह्मण की तगड़ा मूँज की हो ।

८५—क्षत्रिय की (तगड़ी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो) ।

८६—वैश्य की (तगड़ी) मूर्वा घास की (हो) ।

८७—मूँज न मिलने पर डाम, अश्मन्तक (या) बल्ल नामक घास की बनी हुई (हो) ।

८८—ब्राह्मण का डण्डा टाक का हो ।

८९—क्षत्रिय का (डण्डा) बेल का हो ।

९०—वैश्य का (डण्डा) गूलर का हो ।

९१—अथवा सब के ही (डण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं) ।

६२-(वेशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य
घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

६३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२६॥

६४ शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठेत्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

६५-स एव वर्तमानोऽमुप्राप्य वसत्यमुप्राप्य वसतीति तस्य
स्नातकस्य कीर्तिमेवति ॥३१॥

६६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको
विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

६२—(ब्राह्मण का दण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो) ।

६३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

६४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए का (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास आ कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने) ।

६५—व्रत (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

६६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

६७-समाप्य वेदमममाप्य व्रतं यः समावर्तते स
विद्यास्नातकः ॥३३॥

६८-समाप्य व्रतमममाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः ॥३४॥

६९-उभयं *समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥३५॥

१००-आषोडशाद् *ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविं *शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ पञ्चविं *शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥३९॥

६७—जो वेद को (पूरा पढ़ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा
समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से ससार में) लौट आता है
वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

६८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ़)
कर (ससार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है) ।

६९—जो (वेद और ब्रह्मचर्यव्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य
कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक
(कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—
बीता हुआ नहीं है) ।

१०१—द्वितीय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब)
गामत्रीमन्त्र के उपदेश से व्युत्पन्न होते जाते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

१०४ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहारेयुः ४८॥

१०५-कालातिव्रमे नियतम् ॥४९॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितमात्रिभोक्ताणामपत्ये संस्कारो
नाध्यापनं च ॥४९॥

१०७-तेषां संस्कारेषुर्वात्यस्तोमेनेष्टा काममधीयीन्
व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४९॥५६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो
वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥५०॥

१०४—(विद्वान्) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ न (इन्हे)
पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें ।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल क धीत ज्ञान पर नियम क्यों कौन
करने वाले व्याक्त न (साथ किए ज्ञान वाले व्यवहार में)
समान (इन से व्यवहार करें) ।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायेत्री के उपदेश
से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (दाता है)
और न अध्यापन ।

१०७—उन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के
इच्छुक हों वे ब्राह्मणस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य
बन जाते हैं—इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं ।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तान चौटियों
(या) एक चौड़ी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर)
वाला स्वारो और नमकीन न खाने वाला रहे ।

१०६-सावित्रं पङ्कानं त्रिरात्रं सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीच्य दण्डमपो निधाय मेखलां
यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति प्रत्यृचं नमो वरुणायेति

१०६—सविता के (व्रत का बह) छै रात (या) त न रात या उसी समय (= उपनयन के समय) पालन करें ।

११०—उसी सविता के व्रत (न पालन) का देण कर दण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर' (और 'देवीरापो'—इन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र म (कमरा ; मगना (= तगड़ी) और

यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो वरुणाय'

*१—अप्स्वन्तर मन्त्रा विजयचन्द्रशमयदाचार्यैर्णैवं प्रक्त —
अप्स्वन्तरमृतमप्सु मेपमपामत प्रशस्तिवृत्वा भवत वाजिनः ।
देवीरापो यो व ऊर्मि प्रवृत्तिः ककुमान् वाजसास्तेनाय वाजं
सत् ॥ य० ६।६ पर ॥ सूत्रकाराय चतस्रः शृचो
अभिप्रेताः प्रतायन्ते या एव सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु मेपजमपानुत प्रशस्तये ।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥

अप्सु मे सोमा अब्रवीदन्तर्विश्वानि मेपजा ।
अग्निं च विश्वशभुवमापश्च विश्वमेपजीः ॥२॥

आपः पृथीत मेपज वरुण सन्वे मम ।
व्याक् च सूर्य दशे ॥३॥

इदनाप प्र वदत यत्किं च दुरित मयि ।
यद् वाहमभिदुद्रो ह्यमद् वा शेष उतान्वयम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१६-२२॥

२—तै० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है ।

त्रिमधुर दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमा-
दिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणद्वित्रिमिशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि
भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं, शुक्रियमौपनिषदं, शौलभं गोदानमिति
पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं
चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं, शुक्रियादिषु शुक्रियं, शुक्रमिः
श्रावयेत् ॥६॥

११४ औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं, शौलभिनोमिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार मीठा (=दही, शहद और
चोनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्प्रदा (=आग्नेय)
वेद के व्रत का उपदेश करें ।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच
वेदव्रत होते हैं ।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—‘एक
साल की अवधि’ में समाप्त होन वाले इन पाँच वेद व्रतों का
पालन करे और स्नान कर के ‘उपव्रत’ का पालन करे ।

११३—(शुक्रिय आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन ?)
होता है जो इस प्रकार है—शुक्रिय व्रत को शुक्रों से मुनवाए ।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को
शौलभानियों से (मुनवाए) ।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रित पाठः ।

११५-अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्, उदीरताम्, आ नो भद्रा,
आशु शिशान, इमां नु कम् इति च वेदशिरसाऽव-
गुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर “आ ब्रह्मन्”, “उदीरताम्”,
“आ नो भद्रा”, “आशु शिशान”, और “इमां नु कम्” इन
मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमार्ग (ऽसिर) से परदा करे ।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शूर
इषव्योऽतिव्याधो महारथो जायता दोग्धा धेनुर्बोढानङ्गानाशु
सप्ति. पुग्निघर्योपा जिष्णु रथेष्टा. सभेयो युवास्व यजमानस्य
वीरो जायता निकामे निकामे नः पर्जन्यो वषतु फलवत्यो न
ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम् ॥ य० २२ २२ ॥

२—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमा पितर सोम्यासः । असु य
ईयुरवका अतश्चास्ते नोऽवन्तु पितरा हवेषु ॥ य० १६।४६॥

३—आ नो भद्रा ऋतवो यन्तु विश्वतोऽदन्धासो अपरीतास
उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो
दिने दिने ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशु शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन क्षोभगश्चर्पणीनाम् ।
मज्जन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत सेना अजयत्
साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमां नु क भुवना सीपधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । आदित्यैरिन्द्रः
सगणो मरुद्भिरस्मभ्य भेषजा कर्तु । यज्ञ च नस्तर्बं च प्रजा
चादित्यैरिन्द्र. सह सीपधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अथगुण्ठनीं त्रिवर्लिं पञ्चवर्लिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य
वाग्यताञ्जयेऽधः शयीत ॥६॥

११७-ग्रामे गोष्ठे दवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृश्रमस्य, उदुं त्य, चित्रं देवानामित्युदितेऽर्के
जपति ॥१२॥

११६—तीन बलियों या पाँच बालियों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक
ढक कर और वाणी को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि
पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या सभाम्थान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उपाकाल हान पर परदे को जगल में छोड़ दे।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृश्रमस्य', 'उदुं त्य', और 'चित्रं
देवानाम्' इन मन्त्रों का जप करे (शु० करता है)।

१—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनां अनु । भ्राजन्तो अमन्यो
यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैव ते यानि
सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्याय भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्व
देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयसम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदुं त्य जातवेदस देव वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाव
सूयम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुमित्रस्य वरुणस्थानः । आशा
द्यावापृथिवी अन्तारक्षं सूर्य आत्मा जगत्स्तर्क्षुपश्च स्वाहा ॥

- १२०-वर्षेति द्यौः शान्तिरिति शान्तिं करोति ॥१३॥
 १२१-शान्तिभाजनं गुरुवे दद्यात् ॥१४॥
 १२२-एवमेवाथ गुण्ठनीं च ॥१५॥
 १२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥
 १२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥
 इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

- १२०—(शुलोक के) वरसने पर 'द्यौः शान्तिः' (मन्त्र का उच्चारण)
 कर के शान्ति (कां कामना) करता है ।
 १२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।
 १२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।
 १२३—गोदान (व्रत) में गौश्रो का जोड़ा (गुरु को देवे) ।
 १२४—(गो दो जाती है) इसी लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं,
 इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर
 कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री,
 प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक
 हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

- १—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तः पृथिव्या शान्तिरापः शान्तिरोप-
 धयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
 सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिर्देवि ॥
 य० ३६।१७॥

वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

पारस्करीथोपनयनसूत्र

परिशिष्ट १

सुकाशिनो टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकाया वा नयनमुपनयनम् । आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याग्रहण के लिए पहुँचाना उपनयन संस्कार कहलाता है । इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास दिटाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं ।

(II) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

“पिता पितामहो भ्राता शतयो गोत्रजाग्रजा. ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥”

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं । गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है । भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो । जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है । यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाए तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं ।

उपनयन का काल

(i) अष्टवर्षमिति—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम् । जिस के जन्म को आठ वर्ष गीत चुके हैं । गर्भाष्टमे—गर्भ. गर्भसहचरितो वर्ष अष्टमो येना तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु । बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है । हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है । इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं ।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र यही है । इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है । ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं* । ब्राह्मण का लक्षण यह है—

“अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा ।

दान प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥” मनु० १/८८

“शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मर्म स्वभावजम् ॥” गी० १८/४९

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुप्त से निरपेक्ष और दान लेने के सत्कार वाला बनाना आवश्यक है । उसे बहुत कुल्लुस्टना भी पड़ता है । कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है । एतेज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है ।

*यह विषय सवि पृ० २२८-२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है । वहाँ देखा जा सकता है ।

अतः उस के अध्ययन का काल ग्रन्थों से अधिक और सुदुमारावस्था में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के सत्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संदि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों — याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अतः यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

“प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च ।

निपयेन्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥” मनु० १/८६

“शौर्यं तेजो धृतिर्दान्य युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरत्वभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥” गौ० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रनिष्ठा आदि सीखने योग्य होता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

“पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥” मनु० १/६०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों का बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष का आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन का प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता-पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण-कर्म और स्वभाव के अनुचार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यास-प्राप्त भी। अतः यज्ञाभ्यास व समस्त नाचक की प्रवृत्ति और कामना व आभार पर उमर की श्रेणी नियत का जानी थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४ यथामङ्गलमिति—मङ्गलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। वैसा बालक के दित म हो। अभिप्राय यह है कि उपरान्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवरोध मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिमत् नहीं। हा सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निर्णित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वदज्ञान के हास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्मेलन कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मङ्गल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वर्ष, ६ ठे और ६ वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

‘ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पचमे ।

राशौ बलायिनः पष्ठे वैश्यस्यार्थाधिनाऽष्टमे ॥’

आपस्तम्ब के विरुद्ध भी निचारणीय हैं—“अथ काम्यानि । सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्काम नवमे तेजस्काम दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकाम द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।”

(iii) श्री शुकदेव क निचार मे ‘यथामगलम्’ के दो व्याख्यान हैं—

१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ण को जिस आयु में मुविधा हो उसी आयु में । २. पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ण अपने अपने वर्ण की वैकल्पिक आयुओं में से छाटी हुई किसी एक आयु में । इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में उपनयन करा सकते हैं ।

(iv) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (=शरद्) में उपनयन किया जाए । अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है । निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है । देखो गदाधर का भाष्य ।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है । इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं । अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है ।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है । ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

३ स० च० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्गों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त गालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अम्बेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संपर्क में वे हारे और समान में पद-दलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समान ४ अनेक दृष्टियों से विभाजित किए गए थे। उनमें एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और य० २६।२ के ब्रह्मराजन्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि ने समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अन्न कलना की विषय परिस्थितियों में वे अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत मस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही वे समान में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आयुस्मय के लेख—‘शूद्रा-

‘शामदुष्कर्मणामुपनयनम्’ का भी यही अभिप्राय है। होते होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५ ब्राह्मणानिति—पूर्वाक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आचीरिका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सर निशिष्ठ अरसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदा अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्काचार्य के मत में यहाँ ‘आद्व न खाने वाले ब्राह्मण’ अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में आद्व का विधान नहीं है। सम्वादकों ने परिशिष्ट रूप में आद्व की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। याद उस में दिये गये आद्व में खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जा आद्वभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो आद्व न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन आद्व व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तान बताई गई है।

६. तच्च—गदाधराचार्य के विचार में ‘च’ के प्रयोग से ‘भोजनकर्म’ का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेप

६. पर्युप्त—परि + वप् + त् । परि सर्वतः उस मुण्डित शिरः यस्य स पर्युप्तशिराः, तम् । मुडा हुआ, बाल कटाया हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुडवाना शौच और मागलिक कर्म समझा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छुट्गते हैं। अलंकृतम्—अस्म^१ क + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्ज - कर्ज माला आदि से अलंकृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अतः बालक के मन पर सस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलंकृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का सस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलङ्करण स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अवे० ११।७।२६ के—स स्नातो वभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्या बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने सवि० पृ० ८० पर 'प्रातः काल बालक का क्षीर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना ... मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिखा कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवपन भोजनात् पूर्वमेव' कह कर दस० का समर्थन किया है। डा० राजरत्नी पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मुण्डन और उपनयन सस्कार साथ साथ होते थे। यहाँ पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी निद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पितृ आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बैठाने का रहस्य

७ पश्चादग्नेः—प्रत्येक शुभ कर्म और सस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य सवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,^१ देवता सोम^२। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है^३। सोम^४ शान्ति मन-

सयम और इन्द्रियसयम—शम, दम) का द्योतरु है। यह दिशा सर्ग^{१५} (= देवों^{१६} = विद्वाना^{१७}) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है^{१८}। ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा का जानता है^{१९}। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (= इन्द्र) का अभिप्रेत पश्चिम दिशा में किया जाता था^{२०}। अथर्वनों (= अहिंसक विद्वानों) और आगिरसों (= प्राण विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है^{२१}। इसी दिशा में मह (= तेज) स्थित है^{२२}। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है^{२३}। इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का निधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निरुलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत = वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परि प्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तप्चरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं^{२४}—वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (= ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

१. जैउ०. ३।२।१२; अवे० ३।२।७।३. २. तै० ३।१।५।२।
३. वरुण सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देखें। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५. श० ३।१।१।७। ६. तै० २।२।६।२। ७. श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६, ऐ० १।७। ९. श० ३।२।३।१८। १०. ऐ० ८।१४। ११. तै० ३।१।२।६।१। १२. गो० १।५।१५। १३. तु० व० ऐ० ८।१४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि । वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और श्रुत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय मनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं । ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अवे० ११।७।१८।१६ आदि) । ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है । इस का सविस्तार अग्रे की व्याख्यान भूमान द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मात्रों का सक्षिप्त भाव सवि० पृ० ६८, ६९ पर देखा जा सकता है । ५० सातन-लेखर का अर्थ भी सुन्दर है । वैको० पृ० ३७० ३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में सकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें ।

आगाम्—आ + √इ लुट् उत्तमपु० एक व० । असानि—√अस् (होना), लोट् उत्तमपु० एक व० । हो जाऊँ, न जाऊँ । भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—‘ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रू३हि ।’ इस के उत्तर पर बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्’ । अत्र आचार्य कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रू३हि । और बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचार्य-सानि ।’ इस समय बालक यज्ञवेदी पर परिचम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर क बैठे ।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८ वास०—वासस् से द्वितीया एक व० (नपु०) । भाष्यकारों ने कारे—विना धुले (=अदृत) वस्त्रों का विधान माना है । तु० क० नित्यमनु पदतयासा मुमना मुगन्धि स्यात् । चरकसंहिता । जयराम ने ‘अदृत’ का लक्षण यह दिया है—

“इपद्भीत नव श्वेत सदृश यज्ञ धारितम् ।

अदृत तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्” इति ॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व० । सचं० के मत में वस्त्र पहनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है^१। वस्तुतः वस्त्र मानव के रूप हैं^२। उन से वह सुशोभित होता है^३। वे ओपधिस्वरूप हैं^४। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अतः आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शरण के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के अग्नि के होने चाहिए। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सू० ७६)।

९ इन्द्राय—इन्द्र पद√इन्द्र धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं^५। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है^६। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो^७। अतः हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का गुण बृहस्पति है। टीकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह विधि वैदिक काल^८ से चली आती है। यह कथा आर्यान्तिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अवे० ११।७।४—७ हैं। इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमात्र को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मणो लोक प्रजापतिं

१. सचं० पृ० ४१२। २ श० १३।४।१।५। ३ श० ३।१।२।१६
४ श० १।३।१।१४। ५. नि० ७।१० ६ तु० क० मघवापद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७ देखो वेमाप० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य। ८ यजुषि अवे० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उल्लिख्य से उत्पन्न माना है, तथापि अवे० ११।१०।७—

येत आसीद्भूमि पूर्वा यामद्वातय इन्द्रिदु ।

यो वै तौ विद्यान्नामथा स मन्वेत पुराणवित् ॥

के अनुसार वही पुराण वेद के सृष्टिविषयक मूल का द्योतक है।

परमेश्विन विराजन् । गर्भो भूवा अमृतस्य योनाविद्रो ह भूत्वामुरास्तवर्द ॥^१
अतः इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं । इसी आधार पर उन का
बृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है ।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहस्पति को वाणी का स्वामी^१, ब्रह्मपति^२,
ब्रह्मणस्पति^३ कहा गया है । ऋग्वेद^४ में आगिरसों को ऋत (= वेद) का
शसक, दिवस्पुत्र, असुर के धार विप्र और यज्ञ का ज्ञाता कहा गया है ।
बृहस्पति आगिरसों में है । अन. हिन्दी अनुवाद ।

पर्यदधात्—परि + √धा + लङ् प्रथम पु० एक व० । पहनाते से
अर्थात् पन्नात आए हैं । वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएँ सब
कालों का व्यक्त करती हैं । अमृतम्—न मृतम् (√म्रि + क्) अमर, मरण
रहित, अपरिवर्तित, अतः नियत, जिश्चित निर्धारित । ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त
इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,^५ सर्व आयु^६, प्राण^७,
आप^८, हिरण्य^९, आदित्य^{१०}, अग्नि^{११} और प्रजापति^{१२} । इन अर्थों की दृष्टि
में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है । सच०—दृढ़, नया । भाष्यकार अहत,
कोर । त्या—त्वाम् । आयुषे आयुत्वाय—आयुपद पकारान्त भी और
उकारान्त भी । दोनों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहाँ दोनों का एक साथ
प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक् पृथक् भाव अभीष्ट हैं । अथवा आयुष्—
आयु क अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनराक्त मानी
जा सकती है ।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में आयु क अर्थ वरुण, अग्नि, सवत्सर, यज्ञ, अन्न,
प्राण आदि दिए हैं^{१३} । वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है^{१४}, अग्नि

१ श० १४।४।१।२२। २ तै० २।५।७।४। ३ तै० ३।१।१।४।२
४ ऋ० १०।६।७।२ ५ श० १०।२।६।१। ६ श० ६।५।१।१० ७ गो०
२।१।१।३ ८ तै० १।७।६।३ ९ तै० १।७।६।३ १० श० १०।२।६।१।६
११ श० १०।२।६।१।७ १२ श० ६।३।१।१।७ । १३ देखो वैको० में आयुः
पद । १४ ऋ० १।२।५।१।०।

अग्रणीन्ध, दाहन्त्व आदि का, सप्तसर काल का, यज्ञ निद्याग्रहण, तपश्चरण आदि शुभ कर्मों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के^१ । अतः यज्ञ ये सभी भाग अभिप्रेत हैं । आयुत्वाय—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै । वलाय—शारीरिक शक्ति । वर्चसे—ब्रह्मतेज । जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य ।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(III) समस्त मन्त्र का स० च० का अर्थ इस प्रकार है— हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहस्पति) गुरु आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृत वास) जो जला, पटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र का (पर्यवधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिवधाभि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता हूँ (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (वलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए वा ऐश्वर्य के लिए ।

(IV) श्री गुरुदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे । पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है ।

१०. मेखलाम्—तगड़ी । जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि व धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी । ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न भिन्न मेखलाएँ बताई गई हैं । इन का वर्णन आगे आयेगा । मेखला—मीयते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे । ✓मी+सल् । बध्नीते—✓बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु० । धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है । यहाँ मेखला ब्रह्मचारी को बांधी जानी है । यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या ।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बध्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहाँ परस्मैपद होना चाहिये या^१। दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'मे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थ, गुणभूतश्च मन्त्र। उन्होंने ने यह कारिका भी दी है—

“बध्नीयात् त्रिगुणा श्रद्धयामिव दुरुक्तमुचरन् ।

आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न रटोरात्मनेपदात् ॥”

परन्तु 'रट्नीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र का क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों को क्रिया और उस में त्रिनिधुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त बान्धनीय है। देखो वेमाप० ११।३—४।

११ वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर रनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'वश' भी दिया है। यही अर्थ यहाँ ग्रहण किया है। स० च० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—निन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूँ। मेखला उस गुणग्रहणकामना को परित्र करती है। निश्चनाथाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्योंकि कि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रहा प्रतीत

१. देखो पा० १।३।७२, ७८, सिक्री० २१५८—६। पाणिनीय

धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु, या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तरु ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना—शरीर में यद्यपि दस वायुआ की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुए ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ^१, अध्वर्यू^२, धावापृथिवी^३ आदि रुढ़ा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को वश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। आदधाना—अ+√धा+शानच्, स्त्री० प्र० एक व० स्वसा—विश्वनाथ—वहन। जयराम स्वसृवत् हितकारी। मच० ने दस पद में लुप्तोपमा मानकर 'वहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ० २।१६ में इस की व्युत्पत्ति—मुष्टु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघ० २।५।१३ में इसे अगुलि का पर्याय माना है। अगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि को निघ० १।६।५ में अहर्नाम, २।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में सकलित पद गति, प्राप्ति और शान अर्थों के योक्त हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ओफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। देवी—जयगम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। सुभगा—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाली अर्थ किया गया है। मेखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

१. श० १२।६।१।१४, २ गो० १।२।१० ३ श० ४।२।१।२२।

यहा पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु वह तर्क भी और प्रवृत्तिविशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के सत्कारों से प्रभावित हैं । अतः ऐसा वर्णन किया गया है ।

१० युवा सुवासाः—सू० ३।८।४ दस० ने अपने भाष्य में तथा मत्पार्थ प्रकाश प्र० ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है । हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है । वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है । मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है । इति वा—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मूर्खोन्मथन में वैकल्पिक है । युवा—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था की प्राप्ति, जवान' होता है । हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे । मिश्रणमनुष्ठानम् । अनुष्ठता क्रियाम् । सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणामभिदाधानभिज्ञानादीनाम् । की है । अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों का करने वाला । जयराम के मत में गुणों का इकट्ठा करनेवाला (यौतीति एवा) । अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है । सच० दृढ़ शरीर वाला । सुवासा—यु शोभनानि वासासि यस्य सः । जयराम के मत में 'अहत=कोरा' बख्त हो शासन होता है । हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ बख्त । परिवीतः—परि + वि + √इ + क्त । चारों ओर से विशेष रूप से विरा हुआ, व्याप्त । हरदत्त—कृष्णाग्नि आदि से परिवेष्टित । जयराम—माला और ग्रामूरण आदि से सजा हुआ । परन्तु अभी उस ने मेराला और वृष्णाग्नि धारण नहीं की हैं । उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई है । अतः यहाँ पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से मरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है । आगात्—आ + √इ लुङ् प्रथम पु० एक व० । जयराम—मेराला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है । हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है । श्रेयान्—हरदत्त विद्या से भेष्ट । जयराम—शुद्ध । सच०—लोगों का कल्याण करने वाला । कठोप० १।२।२ में श्रेय और प्रेय को पृथक्-पृथक् माना है । धीरे पुरुष श्रेय की कामना करते हैं । अभी ब्रह्मचारी न विद्या से भेष्ट हो पाया है न कल्याणकर्ता । यद्यपि ये

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अभिप्राय' अर्थ प्रकरसोचित प्रतीत होता है। जायमानः—
 √जन् + शानच्। दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न हुआ, क्योंकि स्मृति का वचन है—'तेषां मातुषोऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

“आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्तः।

त रात्रीस्त्रिंश उदरे धिभतित जात द्रष्टुमभिसयन्ति देवाः ॥” अवे० ११।७।३
 इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। ५वें मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

“पूर्वो जातो ब्रह्मणो धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ॥”

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अतः हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। धीरासः—वेद में पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन में देवा और देवास दो रूप होते हैं। धी + र (मत्तुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रज्ञा (स्थिरप्रज्ञाः ?)। विश्वनाथ—परिष्ठता। रुचं०—बुद्धिपूर्वक कार्यरुचि। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतासि त एव धीराः। ऋ० ४।३१।२ में धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करने वाला किया है—धीरासः पुष्टिमवहन्मनायै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारना से)। ऋ० ४।३६।७ में कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—‘धीरासो हि ध्या कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि’। अतः धीरो को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। कवय—कौति शब्दयत्पुपदिशति स कवि। मेधावी विद्वान्। क्रान्त-दर्शनो वा। (उ० ४।१३६ में दस० का भाष्य)। √कु + इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान् । वेदभाष्य में दस०—अनूचाना विद्वान् । ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुधुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है । ऋ० १।१६।१६ में कवियों का जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकित्सुः) कहा है । ऋ० ६।१६।१ में कवि के गुण मद्र, दिय वहि (=धारक), विप्रमम और मधुवचन दिए गए हैं—‘मद्रस्य कवेर्दिव्यस्य बह्विप्रममनो वचनस्य मध्व ॥’ स्वाध्य—दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से) । सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से) । जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले । हरदत्त—कल्याणचित्त । ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्य कहा है । ऋ० १।१५।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले ‘स्वाध्य’ कहे गये हैं—‘मित्र न शिष्या गोपु गव्यव स्वाध्यो विदये अप्सु जीजनन् । अत हि दी अनुवाद । मनसा—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से । जयराम—मनोवृत्ति से । विश्वनाथ—मनोव्यापारों से । देवयन्त—देव ब्रह्मचारिण इच्छन्त इति । देव से नामधातु । लौकिक संस्कृत में नामधातु आमच्छा में प्रयुक्त होते हैं । यद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है । तु० क०—छदसि परेच्छायामिति वक्तव्यम् । पा० १।१।८ पर वार्तिक । जयराम—वेदाध्य शपन करते हुए । दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त । वेभा०—कामना करते हुए । हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अथात् भौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले । सच०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान् ।

युवा सुवासा का विनियोग

(ii) दस० ने सवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपान दो अगोष्ठे, एक उत्तरीय और एक कटियस्त्र दिये जाने का विधान माना है । परन्तु पारस्कर का मत ऐसा नहीं है । वे इस मन्त्र को धवल मेखलामधन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं ।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढ़े । यह ठीक नहीं । अर्थ के अनुसार इयं दुर्वक्तुं आदि को बालक और युवा युवासः को आचार्य पढ़े ।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है । अथवा मेललाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है ।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और प० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है । इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति' (१५-१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है । जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अग्निप्रदान का विधान नहीं किया है । अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अधिरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं । तु० क०—

“यन्नाम्नातं स्वशाखाया परोक्तमविरोधि च ।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयः अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥” कात्याय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं रचितम् । यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निमित्त । (√यज् + नङ् । उप + वि + √इ + क्त) । अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न । वैदिक संस्कृत में यज्ञ का महत्त्व यज्ञा भारी है । यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है । इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—‘यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः । (ऋ० १।१३।१) यह ही स्तर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होता है । (मन्त्र २) । ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं । यथा—प्राण, अन्तर (—हिसा-रहित), नमः, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित् । अर्यमा, वसु, स्वः, सुख. श्रेष्ठतम कर्म, विद्, ब्रह्मा, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वारू, वायु, सवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु भुवन की नाभि, अनुसू, आपसू, रेतः, विराट्, आहुति आदि । दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के 'रतुनिष' अर्थ इस पद के किए हैं । सत्त्व में जिस उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, मत्सर, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), सगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का समिभरण) और दान २ भाग पाए जाए वही यह है । इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं । ये ही यहा प्रमिप्रेत हैं । अग्नि में आहुति डालना रूप यह उपरोक्त प्रकार के यज्ञ का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन का आहुत करने का संदेश देती है । यजुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें । ऐसे यह में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित बहन सम्भव नहीं । अतः प्रत्येक पालक को उस में उपनत किया जाता था । इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है ।

१५. परमम्—२२ आत्मा मोयते नाप्यते तेन वाक्यापदेशाधिकारित्वात् (जयराम.)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है । भाव यह है कि यथावदात धारण करने पर पालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है । मिश्रनाथ—असाधारण, अत्यधिक । पवित्रम्—शोधक, पावन । क्या कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है । अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है । प्रजापते.—जयराम—ब्रह्मण । ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यह भी कहा है । प्रकरण में यही अर्थ सर से अधिक समीचीन जान पड़ता है । सहजम्—सह जायते, तम् । जयराम—स्वभावशुद्ध । इस अर्थ में प्रजापति में क्षुत्तोषमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है । प्रजापति का अर्थ 'परा' करने पर 'सहज' का स्वामाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सक्ता । पुरस्तात्—जयराम—पहले से ही उत्पन्न । मिश्रनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न । आयुष्यम्—आयुषे हितम् आयुष्यम् । आयु । अमृतम्—अमो भवम् । मृतम् । प्रविमुञ्च—प्रति + मुञ्च्, लीना, पहनना । उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीत परमं मन्त्र का अर्थ

(ii) इस मन्त्र का सन्कारचद्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता जुलता है। यह इस प्रकार है—

‘हि बालक (यज्ञोपवीतम्) “यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्” वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस “ब्रह्मसूत्र” को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—ज्ञायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापते, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम्) मुख्य है, ऐसे इस “ब्रह्मसूत्र” को मैं आन (प्रतिमुञ्च) बाधता हूँ (पुरुषव्यत्ययरत्नान्वस) (शुभ्र यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, अग्नि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुम्हें (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूँ) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बधता हूँ।” पृ० ३६५।

श्री शुक्रदेव ने यहाँ भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६ अथाजिनम्—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पास्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। अजिनम्—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। ‘चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।’ (सशकौको)।

(ii) अजिनदान के समय पढ़े जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—‘वसनम्.....अजिन दधेहम्’ से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर ब्राह्मणपरिवान पहले ही सूत्र ८-६ में करा चुके हैं। अतः यह अग्निदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अग्नि यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिङ्ग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्य करोति' दी गई है। मुद्गद-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सब का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षेत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, सगंध, दिन, जलहीन ओषधियाँ, अपने आप गिरी वृक्षों की शलाखें, पयः, अघेमास, (= कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं'।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में 'एणी का सम्बन्ध सपों' से बताया है। सर्प के अर्थ देव^२ और लोक^३ हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० ३४।८ में 'एनी को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अग्नि को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। चक्षुः—इस का लुप्तोत्पत्ति भी लिया जा सकता है और अग्नि का समानाधिकरण विशेषण भी। धरुणम्—धारयतीति 'धरुणम्'। √ धृ + उचत्। धारण करने वाला। वस्त्र शरीर की गर्मों-सर्दों से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। तेजः—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। स्थविरम्—तिष्ठतीति स्थविरम्। √ स्था + किरच्। ठहरने वाला, बृद्ध, मका। समिद्धम्—सम् + √ इन्ध् + क्त। प्रदीप्त। अनाहनस्यम्—आ + √ हन् = आहनम्, तत् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० मिलियम्स ने इस के अर्थ मित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अग्नि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है । जरिष्णु— $\sqrt{\text{जृ}} + \text{इष्णुच्}$ । जीर्ण होने के स्वभाव वाला । अर्थात् चिरकाल स्थायी । परि दधे—वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है । अतः यहाँ दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और नीचे में दो पद भी आए हुए हैं । वाजि— $\sqrt{\text{वज}} (\text{जाना}) + \text{घञ्} = \text{वाज}$ । वाज+इनि=वाजिन् । नपु० द्वितीया एक व० । वाज के अर्थ^१ अन्न, वीर्य, ओषधियाँ, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं । अतः वाणि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न । उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक ।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यों के समान किया है । दण्ड— $\text{द} \sqrt{\text{दम्}} + \text{ड} = \text{दाम्यन्त्युप-शाम्यन्त्यनेन स दण्डः}$ । उ० १।११४। शान्त करने वाला । इसे $\sqrt{\text{दण्ड}} + \text{घञ्}$ से भी बनाया जा सकता है । यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है । महाभारत में दण्डनीति का सुघिष्ठिर और अर्जुन के सवाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है । धर्म, तप, व्रत, आदि सब का रक्षा दण्ड से होती है । सामान्य दृष्टि से भी आर्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था ।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है ।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सू० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने नम्र विवरण प्रस्तुत किया है ।

२० वैहायसः—विशेषण द्यमति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायः । (देखो अकोमु० १।२।२; और २।५।२२) तस्य अयमिति वैहायस । वि+ $\sqrt{\text{ह्य}} + \text{अमुन्}$ । उस से अण् प्रत्यय । विशेष रूप से गति शील । डण्डा स्वयं तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है । इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

१. देखो वैको० में वाजपद ।

हो रहा है। अधि—सप्तमी और माधान्य का द्योतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सप्त पदांशों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। भूम्याम्—भवति इति भूमि। अक्रोमु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति मात्र आदि। पुनः—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—‘पुनः ग्रहणात् सोमदीक्षाया या दण्डा ग्राह्य तमप्याददे इत्याशयः’ अर्थात्—जो दण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता है यह भावना ‘पुनः’ शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र ‘दीक्षावदेकं’ से यह सुव्यक्त है कि पारस्कराचार्य यहाँ पर ग्रहण किये जाने वाले दण्डों के सोमदीक्षा के दण्डों से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहाँ पर ‘येनेन्द्राय बृहस्पति’ आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। ब्रह्मवर्चसाय—जयराम ने इस का अर्थ ‘याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे’ किया है।

२१ दीक्षावदिति—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग में दीक्षा लेने वाला दण्डों को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौत सूत्रपठित—“उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊँचो” मा पाह्यहस आस्य यशस्योद् अच” (य० ४।१०, का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहाँ भी चुपचाप, बिना ‘यो मे दण्ड आदि मन्त्र को पढ़े दण्डा ग्रहण करे और ‘उच्छ्रयस्व वनस्पते’ आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए’।

(11) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि ‘दीर्घसत्र

१. शुक्रदेव वर्मा की टीका में आ३म् सुसत्या कृरीत्कृषि। य० अ० ४

म० १०। इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा कर ‘आ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पते’

“इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने

हाथ में ग्रहण करे।’—यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लितवति

सुसत्या इति मुखसन्मितमौदुम्बर दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। त

दर्शयेनापद्यते ॥ का० औ० ७।६४-६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहा सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृहरि, कर्क और जयराम के मत में यहा पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वामुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के 'उच्छ्रयस्व' आदि मन्त्र का अर्थ यह है—[वनस्पते] हे दण्ड, [ऊर्ध्वः] (मेरे उठाने पर तुम) ऊँचे [उच्छ्रयस्व] उठो। [मा] मुझे (आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के) [अंहसः] पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से [पाहि] बचाओ। [आ] सब ओर से [अस्य] इस [यज्ञस्य] यज्ञ (के समान मुझे) [उद्वचः] तेजस्वी बना दो।

(iv) वनस्पते—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ^१ अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। अवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। वन^२ √वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मागना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहा सामिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहा अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्पतेदं

वान, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अञ्जलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अञ्जलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अञ्जलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आप.' के अर्थ 'सर्व कामनाओं के प्रायक, सत् पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीना रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेघ्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौ, यज्ञ, रेतस्, पशव', सर्वे देवाः, देवाना प्रिय धाम, शूद्रों का भक्ष, योगा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूर्ण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सर्व कामनाओं का प्राप्त करने में समर्थ, अनृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत् में प्रतिष्ठित, श्रद्धायान्, मेघ्य अन्नयान्, रक्षोघ्ना, वज्रयत्, वीर्यवान् आदि बनाने को प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी का अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सन्नादित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पतञ्जयेत्' का भाव भी लक्षित होना प्रतीत होता है।

(ii) सच० का विचार है कि यहां पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अञ्जलि कभी मित्रान्न से खाली न रहे और आचार्य मित्रा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्टेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—

आपो हि ष्टा (य० १।१५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ता] वे [न] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रण्याय] आनन्ददायक [चक्षुसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पावनता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवयमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [वः] (हे जलो) आप का [य०] जो [शिवतमः] परम कल्याणकारी [रस] रस (= सार) है, [इह] यहाँ [न] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशती] कामना करता हुई (अर्थात्—प्रेममयी) [मातर] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमें) [जिन्वथ] गतिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [घ०] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [च] और [आप०] जल [न०] हम का [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(v) महे—महते । महान्, भारी पुष्कल । रसाय—रमणीय, आनन्ददायक । चक्षसे—√चक्ष् + अक्षुन् । देखने के लिए, अतः ज्ञान के लिए । रसः—वस्तु का सार ही रस कहलाता है । भाजयत—√भज् से शिञन्त लोट् मध्यम पुरुष बहु व० । भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अरिहारी बनाओ । उशतीः—√वश् + शन् + डीप् + स्त्री० प्रथमा बहु व० । वैदिक रूप । चाहती हुई, अतः सिग्ध । क्षयाय—निरास और नाश दोनों अर्थों में इस की योजना की जा सकती है । दस० और सच० ने निरास अर्थ लिया है । सा० ने नाश । जिन्वथ—लौकिक भाषा में यह वृत्त्यर्थ म आता है । निघ० २।१४।८६ में यह गतिकर्मा है और निघ० ४।१।१०२ में पदनाम है । अतः इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते हैं^१ । दिक्० भी देखे । जनयथ—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

१. देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निषण्टु ग्रौफ़ यास्त्र, तथा वेमाप० ३०।२-४६ ।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है नितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्ष्यति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर की आत्मा माना है—‘सूर्य आत्मा जगत्स्तस्थुपश्च^१ ।’ वह दोनों का विचित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —‘चित्र देवानामुदगादनीकं चक्षुमित्रस्य वरुणस्याग्ने^२ ।’ ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, वृहत्, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृपति, यम, परीरजा, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहित (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम्] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुमति देने के कारण) हितकर [तत्] यह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक^३ की) [शुक्लम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षु] (देखने का साधन होने से) आर (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [पश्येम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जोवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रव्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

१ ऋ० १।१५।१ २ वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को ‘लोक’ भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, ता १।४।२।४, श० १२।६।२।१२ और श० १।४।१।१४।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-यद स्वयं ब्रह्म का भी चोतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में दस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहिन्म का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ-ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः दस० का अर्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

(iii) “जो ब्रह्म सच का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सच जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उद्देश करें, और उस को कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जायें, सुनें, सुनायें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।”

७७. मम व्रते मन्त्र का संवि० में दस० का अर्थ यह है—“हे शिष्य बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रखे।” पृ० ८५।

(ii) व्रते—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहाँ अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है ते हृदयं दधामि—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। चित्तम्—√चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त सस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहाँ पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। नियुनक्तु—भाव यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हो।

२५. आथास्य—या० भे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सू० ३० में भी यही स्थिति है। वहाँ पर 'आ' को 'आइ' से सम्बद्ध करना होगा। हस्तं गृहीत्वा—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। को नामासि—क नामा अस्ति। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२६. अस्तावहम् भो३—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. इन्द्रः—जयराम इसे √इदि परमैश्वर्ये से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अश्विन, स्तनपितृ ब्रह्म, प्रजापति, द्यौर्य, वृषा, रेत, उद्गाता, अहोमुख, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगशा में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेभाष० ४।१४६-१५०, परिशिष्ट ७।७-१०, १३। अतः यहाँ 'इन्द्र का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैए० में इन्द्रपद भी देखें। अग्नि — भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और बालक को उम का ब्रह्मचारी स्थापित किया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहाँ अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अप्रणीत्य, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अरु, पशव शिर, देवों की आत्मा, आत्मा, वाताना पति, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, सप्तसर, वाक् तेज, रक्षोहा, तप, मन, प्राण, ब्रह्म, देवाना गोपा, ऋत, भर्ग, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एक सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजु को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निध० ५।१।१ में इसे पदनामों में पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। आचार्य —“जो सागापाग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने द्वारा छलरूप रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश सत्य का हितैशी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।” दस० सवि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभाष० में लिखते हैं—“आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनयो को छुड़ा के अयो का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।” पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

‘सत्यवाक् धृतिमान् दक्ष सर्वभूतदयालु ।
 आस्तिको वदनिरत शुचिराचार्य उच्यते ॥
 वेदाध्ययनसपन्नो धृतिमान् विजितेन्द्रियः ।
 न याजयेद् वृत्तिहीन वृणुयाच्च न तं गुहम् ॥”

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

‘उपनीय तु यः शिष्यं वदमध्यापयेद् द्वितः ।
 सकल्प सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहाँ पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२ भूतेभ्य — √ भू होना + क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब ‘भूत’ कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में निवसमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती शत नहीं है। भूत व्यक्तियों को भूत सजा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं है। जैसा गदाधर ने लिखा है यहाँ ‘भूतेभ्य’ का विस्तार प्रजापति आदि आगमी मन्त्र (सू० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। परिददाति—परि + √ दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३ प्रजापतये—प्रजाना पति। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु प्रणेतृ, भूत, वायु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, ऋषि, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो वेको०। **देवाय**—देव शब्द √दिन् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, श्रुति, स्तुति, मोक्ष, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ मगत होते हों वह वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेमा० ६।३१-४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सरलित)। **सवित्रे**—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु + वृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता देवाना प्रसविता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विष्णु, स्तनयितु, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदा, अह, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यजु, राष्ट्रपति, हिरण्यपाणि आदि दिए हैं। **वावा पृथिवीभ्याम्**—गुणों के और पृथिवीभ्याम्। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के इतिर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य को किरणें, प्राण, मृदु, ओज, दिशाएँ, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गो आदि मिलते हैं तथा वहा इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टि अरिष्टि, तस्यै। √रिप् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमंगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगत दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यस कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि + √ई + त्यप्।

३५. अन्वारुह—अनु+आ+√रम्+क। माध्यकारो ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए धृत् (ओ आहुतियों) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञे' का अव्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। आज्याहुतीः—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का निरुण—'आधारानाज्यभागौ महाज्याहुतयः सर्वप्रायश्चित्त प्रायश्चित्त स्निष्टकृच्च' है। प्राशनान्ते—माध्यकारो ने सस्त्रप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने सस्त्र का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है। दस० ने होम में छोड़े हुए धृत आदि पदार्थ समझा है (व० २।१८)। अत यज्ञशेष। संशास्ति—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दस० ने तवि० पृ० ६२-६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७ अशान—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। लाओ, अर्थात् पीओ।

(11) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ म० २—'या होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। हातुन्तस्मादा एतदशिष्यन्त पुरस्ता चोपरिष्ठाद्यान्दिः परिधीतलम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के यन्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८ कर्म—ब्रह्मचर्यव्रत और शानोपार्जन के लिए उपयुक्त कर्म। सच०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. दिवा—दिन में सोने से आयु का हास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्ययधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. समिधम्—भाव यह है कि प्रतिदिन यह किया करो और उस से अनुभूति लो ।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहा से आगे वेदार्म्भ सस्कार है ।

४२. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐसी श्रुति । सामान्यतः गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं । उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था । अब वह उत्तर का ओर आ कर बैठा है । प्रत्यङ्मुखाय—अब उस का मुख पश्चिम की ओर है । उपविष्टाय—उप + √विश् + क्त । सामान्यतः खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त अनुविधा होती है । फिर भी आगे मूस० ४४ में 'खड़े हुए को भी उपदेश देने का वर्णन है । उपसन्नाय—उप + √सद् + क्त + चतुर्थी एक व० । समीप आए हुए । युक्तदेव—प्रसन्नचित्त । समीक्षिताय—सम् + √ईक्ष् + क्त + चतुर्थी एक व० पु० । परीक्षित, परखे हुए । समीक्षमाणाय—सम् + √ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु० । अङ्गी प्रकार देखते हुए । इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क वितर्क द्वारा विचार करने वाले । हिन्दा अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक सगत होता है । तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिष्यामितव्यः ।' वृत्राउ० । तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा ।"

(ii) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१-निरावन्त. श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुहुत एरुर्पि श्रद्धयन्तः ।

तेषामेवैषा ब्रह्मविद्या ब्रूते शिरोव्रत विधिवद् यैस्तु चीर्णम् ॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्, प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
मु० उ० १।२।१३ ।

२-नाप्रशान्ताय दातव्य नापुनायाशिष्याय वा पुन ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्र० उ० ६।२२-२३

३-असूयकायानृजवेऽप्यताय न मा ब्रूया ब्रूयन्ती यथा स्याम् ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

यमेव प्रिया शुचिमप्रमत्त मध्यानि ब्रह्मचर्यापन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत् कतमचनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ नि० २।४

श्री गुरुदेव ने यहा गुरु क पैर छूने का विधान माना है । पास्त्वर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती ।

४४ दक्षिणतः—अग्नि क दक्षिण में । यह कुछ आचर्या का मत है ।

४५ पञ्चः—पद् + शस् । पाद पादमिति पञ्चः, पदशो वा ।

पहले एक एक पाद (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए ।

अर्द्धर्चशः—अर्ध अर्धमिति अर्धर्चम् । अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः ।

आधी आधी अर्चा (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि)

कर के । सर्वा च—तासरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवि-

तुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धिया यो न प्रचोदयात् ॥) को एक साथ

आचार्य के अनुररण पर उच्चारण करे । यहा पर प्रणव (= ओ३म्) और

व्याहृतियों (मू, भुव स्व) क साथ मन्त्र पढ़ा जाना अमीष्ट है । अनुवर्तयन्

अनु + वृत् + णिच् + शतृ + पु० प्रथमा एक व० ।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६ पाण्मास्ये—यडेव मासाः पाण्मास्यम्, तस्मिन् । पाण्मास्ये

पाठ में वृद्ध्यभाव को ह्यन्दस मानना पड़ेगा ।

(ii) हरिहर माध्वकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रूषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहाँ पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का कारण प्रतीत होते हैं।

(iii) ५० शुरुदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस में वे बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७ सद्यः—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः वह तीव्रबुद्धि और वेदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थसहित ही अभीष्ट है। गायत्रीम्—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरो के परिज्ञान के साथ गावनी। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी, प्राण, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति, वीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४-३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पचाविर्वय' का द्योतक है। ऋ० १०।१३।०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त हो सकता है। यह भाव 'अग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण अग्नि के विशेषणों—कविक्रतु, जातवेदम्, अगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, चिकित्सान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेत, प्रचेता, प्रजानन् और बृहस्पति आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ॐ भूर्भुव स्व। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात् ॥

(iii) इस का विस्तार अर्थ दत्त० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। मृ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहाँ पर सरकारविधि का अर्थ ससक्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुरप परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (सुव.) सब दुराओं से छुड़ाने वाला, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने वाला है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विन्ध्य कराने वाले परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने वाला, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धोमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) अधुनिक अर्थप्रणाली में एक पद का एक ही रुढ़िगत अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से निवान्न भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति का दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर प्रसिद्ध महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितृ देव की वह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(vi) ओ३म्—यह श्रवण भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर त्रिपयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अब रक्षणगतिप्रान्तिप्रोत्तिवृत्त्यवगमप्रवेश अवशस्याम्ययाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनदिशादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार अग्र० १ में समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राण —य प्राणयति चराचर जगत् स स्वयम्भूराश्वर । सन जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर । भुवः—भुवस्त्वित्यपान —य सर्वं दुरमपानयति सोऽपान । सब दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुड़ाने वाला । स्वः—स्वरिति व्यान—यो विविध जगद् व्यानयति व्याप्राति स व्यानः । नानाविध जगत् में व्यापक । सवितुः—सुनोति उत्पादयति सर्वं जगत् । सु धातु प्रमन और ऐश्वर्य में आती है । यह पद सूर्य का भी यातन है । मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं । वरेण्यम्—वर्तुमहम् । स्वीकार्य, श्रेष्ठ । कोलघुः—पूजनीय । विल्सन—कमनीय । वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट । लैंगलोड—उदार । भर्गः—√भस्ज् +घञ् । भूतने वाला, शुद्ध करने वाला । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस का अर्थ पृथिवी, सृग्वेद, होता, अग्नि वसु, धाम्, वसन्त, गायत्री, प्राची आदित्य, चन्द्रमा, धीर्य और मित्र दिये हैं । इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्ग का अर्थ 'अन्न' दिया गया है । आधुनिकों के अर्थों में कोलघुः—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामरस्यमी—शक्ति, विप्रिय—महिमा, ल्यूङ्गिग—चमक, प्रमुख हैं । देवस्य—दीव्यति दीयते वा स देव । मुखदायक, कमनीय । यह √दिवु काटार्थिजिगीषाव्यवहारश्रुतिस्तुतिमोदमदस्वप्नान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है । कोलघुः ने इस का अर्थ दिव्य, शासक वेदार्थरत्न ने जाज्वल्यमान विप्रिय ने देव और ल्यूङ्गिग ने देवगण किया है । इस पद के अर्थों के निवेदन के लिये देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (सृग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सप्रवृत्त) । धियः—निघ० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायनाची बताया गया है । विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है । वेदार्थरत्न ने भावनाएँ, भक्ति, लैंग्लेओ ने प्रार्थनाएँ अर्थ किये हैं ।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र में बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है । शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निश्चय के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के श्रद्धादि निश्चामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य त्रय भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहाँ सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—भूयते इति श्रुतिः । √भ्रु भवणे + चिन् । सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर कण्ठ किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ भूयते शायते अनेनेति श्रुति किया जाए तो अर्थ अधिक सगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

“देव सवितः प्रसुव यज्ञ प्रसुव यज्ञपति भगाय । दिव्यो गन्धर्व केतूषू केतन्न पुनातु वाचस्पतिर्वाज न स्वदतु स्वाहा ॥” य० ६।१

(ii) य० ५।३६ भी ‘देव सवित’ से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृयज्ञ इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

“ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामढ वृणे सुमति विश्वजन्याम् ।

यामस्य कखो अदुहत्प्रपीनाँ सइलधारा पयसा मही गाम् ॥” य० १७।७४

१. य० शुक्रदेव ने मानवगृह्यसूत्र १।२।१ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु ?—श्रु० ७।४५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) देव सवितः—जयगम और उवट ने इस का श्रुति बृहस्पति देया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इम का देवता सविता और छन्द निष्टुम् (दस०—स्वराडापीं त्रिष्टुम्) है। यह मन्त्र १० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहा पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अशों से अर्थग्रहण की शैली पर यहा वाजम् का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसव' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का गठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) हे (देव) [समस्त गुणों के] दाता प्रकाशस्वरूप (सवितः) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (यज्ञम्) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (प्रसुव) प्रगति दें। (यज्ञपतिम्) [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुक्त ब्रह्मचारी] को (भगाय) [क्षत्रिशाचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (प्र सुव) गतिशील करते रहें। (दिव्यः) प्रकाशमान [क्षत्रगुणों को देने वाला] (गन्धर्वः) जगत् का धारक [और रक्षक] (केतपूः) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (केतम्) [हमारे] ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करें। (वाचस्पतिः) प्राणों के रक्षक प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) बल या वाणी को (स्वदतु) आनन्दकर बनाएं। (स्वाहा) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) गन्धर्वः—गा जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ की पाटि० ३ भी देखे। केतपूः—केत चित्तस्य ज्ञान पुनाति शोधयतीति। केतम्—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केतः अन्न का वाचक भी है। वाचस्पतिः—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। वाजम्—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, धीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। स्वदतु—√स्यद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितव्यर्थ धातु है। स्वाहा—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vii) भर्तृपञ्च द्वारा उद्धृत 'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) [चरेत्यस्य] श्रेष्ठ पूजनीय [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [ताम्] उस (सुविदित) [चित्राम्] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [विश्वजन्याम्] सब का कल्याण करने वाली [सुमतिम्] शोभन बुद्धि को [आवृणो] धारण करता हूँ [याम्] त्रि को (पा कर) [कृण्व] विद्वान् (सुत्रिय जन) [आस्य] इस (छिता—परमेश्वर की दी हुई) [पयसा] अन्न जल आदि से [प्रपीनाम्] प्रवृद्ध हुई [सहस्रधाराम्] हजारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [महीम्] महान् विस्तृत [गाम्] भूमि को [अदुहत्] दोहते रहे हैं।

(viii) विश्वजन्याम्—विश्वेभ्य सर्वेभ्यः जनेभ्य दिताम्। विश्व+जन+यत्। सुमतिम्—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि। कृण्वः—निघ० में यह मेधाविनामों में पड़ा गया है माधवभट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में श्रुति विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेमाप० ३०।५—७ में दिलाया गया है कि यह संहिताओं आदि में मेधावी अर्थ का द्योतक है। यह गत्यर्थक या शुब्दार्थक या निमीलनार्थक √कृष् से अथवा √कृण्व् वध करना से बनता है। प्रपीनाम्—प्रकृष्टरूपेण पीना पुनाम्। बढ़ी हुई। सहस्रधाराम्—सहस्र-सरयानर्थान् धरति ताम्। अदुहत्—वेद में मृतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का मार—मगमस्या वर्च आदिप्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् सितृष्यास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या बधूनि धूयता यम। सा मादुर्यध्वता गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः। एषा ते बुलगा

राजन् तामु ते परि ददासि । ज्योक् पितृप्रासाता आ शीर्ष्वा शमोप्यात् ॥
अवे० १।१४।१—३ में पाया जाता है । विस्तार के लिए देखो हमारा लेख
—ए न्यू इन्टरप्रेटेशन ऑफ अवे० १।१४ ।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं । अतः ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं ।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४६. जगती वैश्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

“विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमर्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुपसो विराजति ॥”

अ० ५।८।१२; य० १२।३

(ii) मर्त्यश ने यह मन्त्र माना है—

“युञ्जते मन उत युञ्जते धियो निप्रा निप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे व्युनामिदेरु इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति ॥”

य० ५।१४; अ० ५।८।११

(iii) विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—[कविः] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [विश्वा] सम्पूर्ण [रूपाणि] पदार्थों के स्वरूप को [प्रति मुञ्चते] प्रकट करता है । (वह) [द्विपदे] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [चतुष्पदे] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [भद्रम्] कल्याण [प्रासावीद्] करता है । [वरेण्यः] पूजनीय [सविता] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [नाकम्] समस्त दुखों से रहित (सुखों) को [वि अख्यत्] प्रकाशित किया है । [उपस] उपाओं के समान (आलस्य और दारिद्र्य आदि की दाहक) गतिशीलों के [प्रयाणम्] गमन के [अनु] पश्चात् [विराजति] (समृद्धि) चमक जाती है ॥

(iv) नाकम्—क सुखम् । न निश्चये क सुखं यस्मिन् तत् अकम् । न अकं दुःखं निश्चये यस्मिन् तत् नाकम् । उपसः—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओपति दहतोति उप' उपा वा टी है । श्रुग्वेद में 'उपा' सतत गतिशील है । यह प्रति दिन अपने पूर्व भर्ग पर आती है । यह मधोनी = धनयुक्त और धन देने वाली है । देवी श्रु० (३।६।१३-४ आदि) । प्रयाणम्—गमन, बोलना, चला जाना । भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होनी है ।

(v) भृगु यज्ञ द्वारा प्रदत्त 'युञ्जते मन उत' आदि मन्त्र का अर्थ दस प्रकार है—

[होत्रा] यज्ञशील [विप्राः] (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य [विप्रस्य] विशेष रूप से फल प्राप्त करने वाले [बृहन्] महान् [विपरिचत] (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) [मन] (अने) मनो का [युञ्जते] युक्त करते हैं [उत] और [धियः] कर्मों का [युञ्जते] (उसी में) संनियंत्रण करते हैं । [इत्] निश्चय से (यह) [दिवस्य] दिव्य [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक और परमेश्वर्य के सृजक परमेश्वर की [मही] महान् [परिष्ठातिः] महिमा (है) । [ययुनादित्] (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का निशासु (एकः) कर्मशील (में) समिता की इस महिमा को) [विदधे] (पूर्ण रूप से) धारण कर सकू ।

(vi) विप्राः—निष० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है । श्रुग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—“उपहरे गिरीणा सगवे च नदीनम् । धिया विप्रो अजायत ॥” श्रु० ८।६।२८ । विप्रस्य—महीधर ने इस का निग्रह—निशेदेण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य । ✓ प्रा पृत्तौ से । दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति का अपनाया है । विपरिचतः—तु० व० श्रु० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् निपश्चिन् । प० ५।१४ में महीधर-भाष्य भी देखें । यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणावृत्ति 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किया गया है । होत्राः—✓ इदं दानादनयोः से । यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है । अतः यज्ञ करने वाले ।

दधे—√धा से लट उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद । यहा भाव लोट् लकार मे अभीष्ट है । वयुनावित्—वयुन का अर्थ कर्म है । कर्मों को जानने वाला । अभी ब्रह्मचारी कर्मश नहीं हुआ है । वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है । अत यहा इच्छार्थ अभीष्ट है । मही—महती । वैदिक रूप । परिष्ठातिः—परि + स्तुति । सब ओर से स्तुति । अत यश, महिमा । एकः—एति गच्छताति एक । √इ + कन् । उ० ३।४३ । गतिशील, कर्मठ । सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक् पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक् पृथक् मन्त्रों का निधान किया जा चुका है । सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है । भेद कबल छन्द का है । छन्दों के वाचक पदों के अर्थों^१ मे भी एक सीमा पर एकता का स्रन परिलक्षित होता है । इस प्रकार बर्णों में मूलत कोई भेद नहीं रहता है । अत सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है । इस विकल्प मे मिलेले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित हाता है ।

समिधाधान

५१. अत्र—यहा । कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि मे' करते हैं । हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अब' का होता है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का । समित्—समिष्यते दीप्याते अग्निरनया इति । सम् + √इष् चमकना से । प्रदीप्त करने वाली । भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी ससार मे चमक उठो । तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं । अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है । देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स और दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसीफी ।

समिधः । प्राणा ह्येन समिधते । श० ६।२।३।४४ (२) यदेन समयच्छत्
तत्समिध समिच्चम् । तै० २।१।३।८ और (३) समिधो यजति वसन्तमेव
वसन्ते वा इद सर्वं समिध्यते । कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अग्नि,
गर्म, वसन्त और प्राण मिलते हैं ।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहा पर पारस्कराचार्य ने
कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही । आगे० सूख० ५४ में भी
समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय गोलें जाने वाला मन्त्र है ।
अतः या तो समिधाधान का प्रवृत्त स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति
होने और मन्त्रज्ञान किया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहा पर
दस० के सवि० ने वर्णन के अनुसार 'अप त इह्य आमा' समिधाग्नि
दुवस्यत, सुसमिद्धाय शोन्विषे तथा 'तन्त्वा समिद्धिरद्विरो०' मन्त्रों से समिधाधान
अभाष्ट है । यह भी सम्भव है कि अब तक अग्नि का कुछ मद पड़ जाना
स्वाभाविक था । अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से जिना मन्त्र पढ़े यज्ञवदी
में अग्नि में समिधाष्ट डाल दी जाए । उपराक्त तीनों मन्त्रों का यहा विनियोग
आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है । अतः उन का अर्थ यहा नहीं
दिया गया है ।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. पाणिना—भाष्यकारों का विचार है कि यहा पर 'पाणिना' में
एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही किया का विधान अभाष्ट है, दानों
हाथों से नहीं । कई क्रियाओं में अग्नि का सधुक्षण दोनों हाथों से किया जाता
है, परन्तु यहा नहीं ।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से जनता है । कुछ विद्वानों
का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्ययक 'पण्' धातु से सिद्ध होता है ।
परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती । दयानन्द सरस्वता जी ने अपने
वैदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है ।
यास्क का भी यही मत है (देखा महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८) । अतः पाणिनाऽग्नि परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ—
 'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि
 को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे ।' परिसमूहति—परि + सम् + √ ऊह् +
 लट् प्रथम पु० एक व० । भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संयुक्त्य—तेज
 करना, प्रचण्ड करना, जमाना' किया है । आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में
 २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा
 करना', सशस्त्रोको० में '५. एकत्र करना, ६ यज्ञाग्नि में समिधा डालना,
 ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना,
 ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं । यहाँ पर सू० ५१
 की दृष्टि में अर्थ सख्या २, ६ और ८ सम्भव नहीं । तीव्र अग्नि को जल से
 छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है । समिधाएँ डालते ही
 जलसेचन अनावश्यक है । वैसे भी इस का विधान आगे सू० ५४ में
 किया गया है । 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान
 न होने से वह भी अभिप्रेत नहीं है । अर्थ स० ७ में 'परिसमूहति' के साथ
 कर्म और 'अग्नि' में सतभी विभक्ति आनी चाहिए थी । अतः प्रकरण में शेष
 अर्थ ही अभीष्ट हैं । सच० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है ।

५३. सुश्रवः—शोभन श्रवो यस्य स । सम्बोधन एक व० । श्रव
 निघ० २।७।४ व में श्रव का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है ।
 विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं । उत्तम धन, कीर्ति और
 कर्मों वाला । सौश्रवसम्—सुश्रवाश्वासौ सौश्रवस तम् । सुश्रवस् और
 सौश्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है । जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को
 सुश्रवस् बनाओ । उन का शिष्य होने से मैं 'सौश्रवस' हो ही जाऊँगा ।"
 यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से असुश्रवस् समझने की
 भावना अवगत होती है । निधिपाः, निधिपः—निधि कोष प्राप्ति रक्षतीति ।
 वेदस्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । ब्राह्मणों में 'ब्रह्म,
 सविता, ये लोक, धारू और त्रयीविद्या' को 'वेद' कहा है । 'यत्, भूर्भुव. स्व,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सत्र की रक्षा की भावना गीष्म ऋतु से और ऋग्यजुषामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत है। मनुष्याणाम्—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का भारक्षक' अर्थ लेते हैं। देवानाम्—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाशयन्त इति देवा अगानि इन्द्रादयों वा। शरीर के अग अथवा ईन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'मिद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही मगत होते हैं। यज्ञस्य—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) अग्ने मुखवः०—इस मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ यह है—“हे (अग्ने) भौतिक अग्ने! (देवानाम्) जल आदि देवताओं के बीच में (त्वम्) तू (यज्ञस्य) यज्ञ इत्यादि भिया और शिल्प विद्या आदि के (निधिषा) कोश का रक्षक (असि) है (एवम्, अहम्) ऐसे ही मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (वेदस्य) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सत्र दिया के (निधिषा) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (भूयासम्) होऊँ।”

पृ० ४३३।

अग्निपरिसमूहन मे वितियुक्त मन्त्र

(iii) हरिद्वर आचार्य लिखते हैं कि सू० ५२ के अग्निसन्धुक्ष में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सू० ५३ में (१) 'अग्ने...मा कुर्व', (२) 'यथा त्वमग्ने मुखव ...सौश्रवस कुर्व' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम् ... भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने...कुर्व। २. यथा...सुश्रवा अति। ३. एव... सौश्रवस कुर्व। ४. यथा त्वमग्ने...निधिषा अति। ५. एवमह...भूयासम्।

५४. प्रदक्षिणम्—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। पर्युक्ष्य—परि+उक्ष्+त्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। महाचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे । समिधम्—गदाधर आचार्य सूत्र० ५१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं ।

७५ आहार्यम्—आ + √हृ + लुट् प्रथम पु० एक व० । आहृ—लाना, देना । जातवेदसे—मन्त्र०—ज्ञान देने वाला ईश्वर । गदाधर—जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै । समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को जानने वाला । ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएँ' का वाचक माना गया है । ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदम्' है । वेद में यह 'अग्नि' के निरोपण के रूप में आया है । नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में निवृत्त, जातचित्त जातधन, जातविप्र या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदा होता है । दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है । अग्ने—यह सम्योधन प्रयाग की शैली मात्र है । यद्वा प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्योधन नहीं । मेधया—मेधते तगच्छते सर्वमस्याम् । अक्रामु० १।५।२ । √मेधृ सगमे + अ । यद्वा पर धातुपाठ में 'मिह मेह मेधाहिसनयो । मेधृ सगमे च । (मिधू मेधू मेधाहिसयोरित्येके । मिधृ मेधृ इत्यन्ये ।)' पाठ है । यद्वा पर कोष्ठकों में प्रदत्त अश सिकौ० (बालमनोरमा) में नहीं हैं । इस में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्योंकि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है । शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिसन भी नगते होते हैं । अतः मेधृ के अर्थ मेधा, हिसन और सगम होते हैं । मेधा में अज्ञान की दिसा और ज्ञान का सगम (= प्राप्ति, मेल) होता है । गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि । प्रजेया—उमान्यतः । इस का अर्थ सन्तान होता है । ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं । अतः यह अर्थ प्रकरण में असंगत है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'निश्चयोति, इष', भूतानि, बर्हि, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं । अतः यद्वा पर विश्व ज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं । पशुभिः—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से । यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

यह पाले जाने थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष सगत नहीं।

(ii) व्रातण ग्रन्थों में 'पशयः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश्व, गन्ध, धृतक्षुत्, हनि, श्री, यश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूर्य, प्रजापति की कल्याणी तन् प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, छन्दसि और वपु' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी विश्व (तु० क० दैवी सप्त—गीता १६।१-३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ आदि सामान्य रूप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तन् विशेष रूप से सगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१-२ में सासारिक सुखों को प्रेय और पारलौकिक वा पारमार्थिक सुख को श्रेय कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तन् है। अतः पशुभि' का अर्थ कल्याण और शान्ति मिया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही मात्स्यिक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र म आयु आदि से प्रेय और पशुभि से श्रेय की कामना की गई है।

(iii) जीवपुत्र —जीवन्त पुत्रा यत्न सः। दीर्घजीवी पुत्रों वाला। इस पद का सहिताग्रों का प्रयोग इसी अर्थ की आर सक्त करता है—तु० क० 'जीवपुत्रा पतिलोर विरान प्रजा पश्यन्ती सुमनस्यमाना' ॥ त्रि० २।११।३। तत्वा दम्पती जीवन्तौ जावपुत्रावुद् यत्नयात् पर्यग्निधानात् ॥ अवे १२।३।३५। यय जीरा जावपुत्रा अनागस ॥ ऋ० १०।३६।६। 'जीव' पद ऋ० १।६।८।२ में अग्नि का विशेषण है। जो 'जानता' है, ऋ० १।११।३।१६ में 'अमु' का विशेषण है। ऋ० ५।४।४।३ में मेघानी विद्वान् का गोत्रिक प्रतीत होता है (देवो दयानन्दभाष्य)। अवे० १६।७०।१ में यह सुख, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है। अवे० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी युक्त क लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद सहिताग्रों में जीव, प्राणियार और जावत व अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ व साथ जावपुत्र का अर्थ—गतिशाल, बुद्धिमान् और वश के समुदायक (तु० क० स जाता यन जातेन याति वशः समुज्जतिम्) का पुत्र अर्थात् परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है । इस की पुष्टि ब्रह्म-चारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णु' होने की प्रार्थना से होती है । ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है । अनिराकरिष्णुः—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला । सच० किसी का तिरस्कार न करने वाला । यह पद न निराकरिष्णु (निर + आ + √ कृ + इष्णुच्) से बनता है । निराकरण के अर्थ सशक्तीको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) सण्डन, (४) देश निर्वासन, (५) तिरस्कार, (६) मुग्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं । इन में छूटा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं । ब्रह्मवर्चसी—सच०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला । जयराम—याजनादितेजोयुक्त । प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है । अतः 'वेदज्ञान के तेज से युक्त' । अन्नादः—अन्नमत्तोत्पन्नाद । समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्योंकि 'भोगना' 'पाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ 'शान्ति, पशु, भी प्राण, वाच, सप्त सरयू, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः' आदि दिए गए हैं । 'अन्न' की वहा 'वैश्वदेव' भी कहा गया है । देखो वैको० पृ० ३०—३१ । अतः यहाँ 'समस्त भोग्य पदार्थों का भाक्ता' अथ अभिन्नेत है । स्वाहा गदाधर—सुहुतमस्तु । यह मु + आ + आह से बना है—सन और से मुन्दर कथन । इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएँ हैं । यहाँ पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है । वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कौर्ष में स्वाहाकीर क अर्थ भी अश्लोकनीय हैं । मेरूत ४७ की प्रमादिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें ।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र स० ५५ को प्रत्येक बार पढ़ना होता है ।

५७. षष्ठा ते—समिधाधान में 'अग्नये समिधमाहर्षम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्नये समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समिध तया वर्द्धस्व चान्न प्यायस्व ।

वर्धिषीमहि च वयमा च प्यामिषीमहि ॥

अग्ने वाजजिद् वाज्जित्वा ससृजाम् स वाजजित सम्मार्ज्मि ॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समिध] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्द्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुक्त ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यामिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिपुत्र [ससृजाम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम से [सम्मार्ज्मि] प्रदीप्त करता हू।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकू। विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकू।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं को पूरी कर सकता है। भौतिक अग्नि नहीं। प्यायस्व—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। बढ़ाना। वर्धिषीमहि—√वृष्+दना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। प्यासि

पीमहि—यह √‘प्यै’ से आशीर्लिङ् का रूप है। वाजजित्—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाला = अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अन्न आदि का उत्पादक। सप्तृवांसम्—√स जाना क्यमु + पुल्लिङ् द्वितीया एक व०। गतिशील। सम्मार्जिम—माफ करता हूँ, प्रदीप्त करता हूँ।

जलसेचन

५८ पूर्ववत्—पहले के समान, जैसा ऊपर सू० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (= अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्ष्ण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर यज्ञवेदी के चारों ओर ‘अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)’ ‘अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)’ ‘सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)’ और “देव सवितः प्रमुन यज्ञं प्रमुव यज्ञमति भगाय दिव्यां गन्मर्वः केतपू, नेत न पुनातु वाच स्ततिर्वाचं नः स्वदतु ॥ (चारों ओर)” से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख ‘पर्युक्ष्ण अग्ने सर्वतो जलासेका’ का भी यही भाव है। क्योंकि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से ‘बड़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है’ यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने सत्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. प्रतप्य—प्र + √तप् + ल्यप्। विमृष्टे—वि + √मृश् + लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रभञ्ज और मुख को कान्तिमय कर देता है । यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं । विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें । यज्ञ पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की घूंटों को मलने की प्रथा देखने में आती है ।

६०. तनूपाः—तनूं पातीति तनूपाः । ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूनपात्' है क्योंकि वह शरीर की रक्षा करता है । श० १।५।४२ में 'रेतस्' (=वीर्य) को 'तनूनपात्' कहा है । शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है । 'तनूनपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है । उधर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं । अतः प्राण और रेतस् की प्रतीक अग्नि से शरीर को रक्षा की प्रार्थना की गई है । आयुर्दाः—आयुः वृद्धातीति । इयते प्राप्नोते यत्तदायुः । जीवनं वा । (दसउ० २।११८) अथवा, एतं प्राप्नोति सर्वानित्यायु-जीवनकालः (दसउ० १।२) । दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है । आयु पद गतिशील काल का श्रोतक है । इसी लिए इस के अर्थों में 'भवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है । अग्नि गतिप्रदान करती है । सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=सरत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे काल विधत् ।' अभिशानशाकुन्तल १।१ । बर्चोदाः—अग्नि वर्चस्=तेज का कोश है, यह मुजात है । तन्वाः—तनो । शरीर का अर्थात् शरीर में । ऊतम्—कमी । आपृण—आ+√पृण प्रसन्न करना, शान्त करना+लोट् मध्यम पु० एक व० । (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो । अतः अनुराद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है । इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है ।

(11) वेद में अग्नि को अंगिरा कहा है । अ० १०।६।२ में अग्निरस श्रुत के प्रशस्तक, सरलता के धारक, रुपुज, अमुर के धार, विद्वत्सदप्राप्त और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, अ० १।५।१७ में घनदायक और

आयुर्वर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वशज और य० ३४।१७ में पदज्ञ और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अतः यहाँ पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने अपने अनुरूप भावनाएँ प्रवर्ण करने का संकेत है।

६१. देवी—देव पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सू० ३३ में देवपद देखें। सरस्वती—सामान्यतः यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौ, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान सम्पन्न, सूरतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

‘पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीरती । यज्ञं वष्टु धियावसु ॥
चोदयित्री सुवृत्तानां चेतन्ती मुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥
महो अर्याः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धिया विश्वाविराजति ॥”

अतः वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की स्रोतक है (ऋ० ६।६१, १०।१४।५ आदि भी देखें)। अश्विनौ—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और साम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुतः कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की संगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१। ५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और बुलांक को पुष्करस्तज्जौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थों में भोजन, नासिका, अध्वर्यू, देव भिषज् भी आते हैं। श्रीमैकडोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

पद की व्युत्पत्ति 'अश्न + इन् — खाड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य हैं अहोरात्र कुछ सूर्यावधमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो रात्रा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ सगत नहीं होता है। आवाप्रथिगी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतात नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन^१ चक्षु^२ और प्राण, उदान^३ दिए गए हैं। मन और चक्षु शानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उसने द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक सगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त हो है। अश्विन् शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के पट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'हम मे गंगे यमुने' आदि मंत्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो श्रुताभू० पृ० ३७६। पुष्करस्तोत्र—श० ७।४१।१३ के अनुसार आस् के रस को ऊपर कर के उस को पुरन्त रक्षक बनाना 'पुष्कर' है। अपस् के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, भद्रा, यज्ञ, सर्वे देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्तोत्र का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से समग्र व्यक्ति हैं। सच० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शांभन नहीं है।

६०. अगान्यालभ्य जपति—यह अगस्पर्श पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अश परिशिष्ट रूप में पदण किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों में रक्खा गया है। पारस्करीय शाखा में यह कब से स्वीकृत हुआ यह जानना नभव नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ 'वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्र च म आप्यायताम्। ॐ यशो बल च म आप्यायताम् ॥ जयराम ने भी 'तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रिया विपरिणाम कुर्यात्' निग्न कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) आलभ्य—आ + √लभ् + ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के =स्पर्श कर के। इस धातु के अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ + √लभ् हिंसा अथ में प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरभितनया लम्भना रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अग्न्य पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञ में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ + √लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। जपति—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अतः मन ही मन (—उपाशु या मौन रूप में) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुनः पुनः उच्चारण करना जप नहीं है। यहाँ पर 'वाक् च म आप्यायताम्' आदि के जप में क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६१ व्यायुपमिति—भाष्यकारों के मत में 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'व्यायुपम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक एक क्रिया करे। 'व्यायुप जमदग्ने' से ललाट पर, 'कश्यपस्य व्यायुपम्' से ग्रीवा में, 'यदेवेपु व्यायुपम्'

से दाहिने कन्वे पर (अथवा दोनों ग्राहुओं के मूल में-शुक्रदेव) और तानों अस्तु ज्यायुपम्, से हृदय पर राख से त्रिपुण्ड्र तिलक लगाए। परन्तु यदि विधान वर्त्ता का यही अभिप्राय हाता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अतः सम्भव है कि उन्हें यहाँ चार मन्त्र अभिप्रेत हों। तिन को परम्परा अत्र विस्मृत हो गई है। इन में से दो कारण यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'यन धाता बृहस्पते रिन्द्रस्य चायुपेज्जगत्। तन ते वसामि ब्रह्मणा जीमातव नीननाय ॥ दार्यायुत्वाय उलाय उर्वसे। सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीम शरद शतम्' ॥ (१।७५-७६) और एक माध्यदिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३- 'शिवा नामासि म्वधिलिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिँसा। निवर्त्तयाम्यायुपेज्जनाद्याय प्रत्नननाय रायस्योपाय सुप्रजास्त्वाय सुवार्याय ॥' हो सकते हैं। कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि अगालम्भन और ज्यायुपति चक्र करण पारम्पर आचार्य को अभिमत नहीं है और इसी लिए उन्होंने ने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य प्रयोगों से ले कर यहाँ सम्मिलित कर दिए गए हैं।

ज्यायुप जमदग्ने. का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्ने] परम गतिशाल जनों का [ज्यायुपम्] त्रिया, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त शुद्धि, उल और पराक्रम का गुण [कश्यपस्य] क्रान्तदर्शी अन्तारकों का [ज्यायुपम्] श्रवण मनन और निदि यासन का गुण और [यत्] या [देवेषु] विद्वानों का [ज्यायुपम्] चार आश्रमा, चार वर्णों और परास्कार का गुण (है) [तत्] वह [ज्यायुपम्] तान प्रकार का गुण [न] मुझे [अम्नु] प्राप्त हो जाए।

(iii) देवेषु—शतरथप्राक्षण में विद्वानों का 'देव' कहा गया है। ज्यायुपम्—आयु की व्युत्पत्ति ✓ इ धातु म दा ना जुमी है। जा प्राप्त हो रहा आयु है। अतः यह गुण का वाचक है। देखा य० ३।६० में दस०

का भाष्य । त्रिभिध गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के ग्रन्थों के अनुरूप करना होगा । विद्वान् आश्रमा और यणों के धर्मा का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—तु० क० यदि द्विवृणोऽसि सृजारसोऽसि ॥ अवे० ५।१६।२ । जमदग्नेः—शतपथ ब्राह्मण में ससार के द्रष्टा और मनन करने वाले का जमदग्नि ऋषि कहा है । वहा इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है । यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्रयो वा प्रज्जलिताग्रयो वा' किया है । 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित' (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० पतहसिंह ने 'प्रयमित' (वेए० २६४) पढ़ा है । तीनों पद क्रमशः √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघ० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं । अतः दुर्गुणों का नाशक प्रगतिशील सयमी यशमय पुरुष । ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है । इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम होता है ।

(iv) कश्यपस्य—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यप पश्यको भवति' कह कर इसे √हश् से व्युत्पन्न किया है । देखने वाला, अतः कान्तदर्शी । प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है । अतः यहा 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है । कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है । इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, कान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है । वैए० २२८, दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभाभू० पृ० ३७१ । अरण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या कान्त द्रष्टा बन सकता है ।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पते] वेदज्ञान के पारगत [च] और [इन्द्रस्य] परमैश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वयामि] धारण करता हूँ ।

(vi) यह काण्वमहिता का मन्त्र है और मा यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है । अवपत्—✓वप् सेना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व० । गाना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना । अतः हिन्दी अनुवाद । तु० क०—‘तस्माद्यज्ञात् सर्वदुत मृच सामानि जज्ञिरे । छन्दासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तरस्मादजायत ।’ प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था । जीवातवे—जीने के लिए । यह ✓जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है । जीवनाय—जीवन के लिए । दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है । अतः जीवातवे का गत्यर्थ में लिया गया है । प्राणधारण गति ही है । जीवन—जल=रस=अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ ‘रस और अमृत की प्राप्ति के लिए’ भी किया जा सकता है ।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] यह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [वलाय] बल [वर्चसे] तेज [व] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण कारिणी विश्वज्याति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकूँ ॥

(viii) सुप्रजास्त्वाय—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सू० ५५ की टिप्पणियाँ देखें । शतम्—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा । तु० क०—भूयश्च शरदः शतात् । व्यायुष जमदग्ने मन्त्र के भाष्य में दश० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है । असौ, जीव—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है । प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है ।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने शान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है । [नमः] (मिरा) अव्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो । [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीड़ित न करो (अर्थात्—दुःख न हो) । [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नादाय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (स्वर्गों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी निश्चय्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हू ।

(x) नाम—√नम् से । पर्ययसन्, स्वरूप की पूर्णता । शिवः—

श० ६।७।१।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाउ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और सशकौका० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है । इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है । कतिपय विद्वान् दस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं । पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं । परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का योज्य अम्बक = नारिकेल में होने से^१ यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता । असि—अस्ति । पुरुषव्यत्यय । स्वधितिः—निघ० २।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पड़ा गया है । भाष्यकारों ने सामान्यतः यही अर्थ ग्रहण किया है । दस० ने ऋ० १।१६२।६ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ में विद्युत् अर्थ किए हैं । ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है । अतः यहाँ यह किसी वृत् (अश्वत्थ ?) (तु० क० अश्वत्थ. सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है । ऋ० १०।६२।१५ में इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है । ऋ० २।२।१०, २।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है ।

१. देखो कोकोनट इज दी ओरिजन ऑफ शिवकल्ट, एस० के० गुप्त, आइओका० १६४८ (सन्ने१) ।

(X1) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधिति माना है। धिति शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो विक्रो० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ लिया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण मे पशु-से प्रतीत होते हैं। नमः—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४, ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यज्ञ अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। हिंसी—दुबोध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिन् से लुट् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। निवर्तयामि—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(X1) त्रिपुण्ड्र के यज्ञोपवीत के समान ही तीन शृणों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। समभवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह लिया वैदिक प्रतीत नहीं होता। अन्नाधाय—ता० १।१।८ में अन्न का 'वाज' और ए० ५।२७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अन्तु याग्यमाध्रम्—भक्षण, उपभोग क याग्य। प्रजननाय—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारा ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। रायस्पोपाय—ब्रह्मचारी का धन लिया है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अमीष्ट है। श० ३।५।२।२ में 'भूमा' (महिमा) का 'रायस्याप' कहा गया है। सुवीर्याय—कल्याणकारी वीर्य = शक्ति के लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहा भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है । मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है ।

भिक्षा मागने की रीति

६५-६७—भवत्पूर्वाम्—भाव यह है कि ब्रह्मचर्यम् का इच्छुक भिक्षा मागते समय 'भवान्/भवती भिक्षा ददातु' कहे, ज्ञात्र तेज का इच्छुक. 'भिक्षा भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षा ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे । यहा पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि और भिक्षा देहि भवति का सम्बोधन बताया है । गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण क कुलों से ही मागनी चाहिए । सम्भवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी क वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा । परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ़ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है । अतः ये प्रयोग ब्रह्मचारी की विद्याविशेष के ही द्योतरु माने जा सकते हैं ।

६८-६९ तिस्र.—माता आदि माग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेक ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मागे जो देने में इकार न करें क्योंकि इकार से मलक क मन में क्षोभ हाता है । दस० ने माता, पिता, बहन भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मागना बताया है ।

७० माता कभी भिक्षा के लिये इकार नहीं करती । अतः उस से ही सन से पहले मागा जाता है ।

७१. निवेदयित्वा—मागने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से जुधाशान्ति कर बाणी को सयम में रखे, कम और सयत पद बोले अथवा मौन रहे (१) । त्स० ७२ की दृष्टि में यहा

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्माचार्य इस मौन को वैमल्यिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७०. अहिंसन्—नन् + √ हिस् + शतृ + पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् बिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृद्ध आदि में भी जीव होता है—तु० व०—मनु० १।४६

“तमसा ऋरूपेण वेष्टिता कर्महेतुना।

अन्तःसृजा भवन्त्येते गुणदुग्धसमन्विता ॥”

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृत्तों को पीड़ा पहुँचनी है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का व्रत लेता है। अतः वह वृत्तों का भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सुख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहा अभीष्ट है। अरण्यात्—समिधाए जगल से चीन कर लानी हैं, बस्ती में से माग कर नहीं। बस्ती में से मागने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्मलता की भावना, जगल में जाने से यहा का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्या० √ ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का द्योतक है। अतः अरण्य से समिधाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। समिधम्—समिध् से द्वितीया एक व०। समिधः—पा० मे०। यह बहुवचन का रूप है। तस्मिन्—उसी पूर्व की अग्नि में जिस के समस्त यशोपवीत धारण की क्रियाएँ की गई थीं। पूर्ववत्—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्षण और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में यहा के लेखानुसार समिधा दें। अथ ब्रह्मचारी बोल सकता है। आधाय—आ + √ धा + ल्यप्। प० मुखदेव ने यहा उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

का विधान माना है (—गो० गृ० मू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आशयान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३ ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा^१ तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दत्त० ने सस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश सकलित किए हैं।

७४ ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में मद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यो की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण^२ (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा’। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यो का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्ष निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अतः ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक ब्रह्मचर्य ही जीवन है’ में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराय। मांस—यहा पर पशुओं आदि का

१. प० सुखदेव ने ‘अक्षारलवण’ का अर्थ ‘सँधा नमक’ किया है।

२. प० सुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—‘जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन सस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रखे और साथ प्रातः उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।’

उन के बध द्वारा प्राप्त मास अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद में मासभक्षण को बहुत निरुप दृष्टि से देखा गया है। तु० व० 'वृत्तान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रस दिप्सति पितृवौ अग्ने यो अश्वाना यो गवा यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेन स्तेयकृद् दध्नमेतु नि प हीयता तन्या तना च' ॥ ऋ० ७।१०।४।१०। मास रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। मज्जन—भाष्यकारों ने 'हृददेवतीर्थस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उपर्यासन—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन प्रिलासमय जीवन से रचना प्रतीत होता है। स्त्रीगमन—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। अनृत—भूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाना है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गागामी कर देती है। इस से बचने की भावना से ही यागदर्शन में 'अस्तेय' का यमों में रक्ता है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिमह—इन पांच योगशास्त्र के यमों का मास, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि—जयरामाचार्य के मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अधीत ?) वेद की आहुतिया दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(11) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं^१—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी से जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सू० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपर्युक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सू० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है, शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये त्रयधिया ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणकामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्योंकि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्गों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिद्धा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्ययन

१. इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४।१, ६४, ३; ११४, १ आदि।

उड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा । इन दोनों वर्णों — गुणोद्भूतों के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समस्त लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शनैः शनैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्णों में से उठ गया । ब्राह्मणोत्तर वर्णा के शूद्रपदवाच्य पद के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या इन जाने स्वाभाविक थे । इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे । इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्णा के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उस निःशेष कर दिया होगा । प्रत्यग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार नमगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजन इस हास की प्रगति बढ़ जानी स्वाभाविक थी । पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है । इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्णा का नहीं । शतपथ २।५।२।६ और ३।६।२।३ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश्व ही थे । अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद नातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे । (अवे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें ।) इसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का चिह्न रह जाया और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे ।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम् । वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ।

वर्णों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाण०^१—यजुर्वेद में बहुत से पशुधर्मों को विभिन्न देवताओं से

१ प० मुखदेव न आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१६।६—यदि वासांसि वसीरन्—कापाय ब्राह्मणो माञ्जिष्ठ क्षत्रियो हारिद्रं वैश्य' के आधार पर ब्राह्मण के लिए रोहण, क्षत्रिय के लिए मजीठे और वैश्य के लिए पीले वर्णों का विधान माना है ।

सम्पन्न कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक-ठीक न समझ पायें। परन्तु शाण और चौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन क गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये मूल बने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन के विषय का चोतन। आनकल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि के ज्ञातकों, प्रत्यक्षज्ञातकों तथा गवशकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८० ऐशेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में ऐणी का सम्बन्ध सपा से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सप के साथ गतिशील होने के कारण लाकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सर्पराक्षी कहा गया है। इन गुणों के आधार को ध्यान में रख कर ही ऐणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों का प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का बध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐशेय' आदि पद गुणों के चोतव रहे हों, फिर ऐणी आदि के वालों और तत्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, प्रकरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(11) य० २४।८ में 'एन्य' को 'मैत्र्य' कहा है। 'ऐशेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'ऐणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के प्रयोग में सप का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षत्र क्षत्रपति, घोरसस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अह, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि मिलते हैं।

८१ रौरवम्^१—रुरो इदमिति रौरवम् । य० २४।३६ में रुर को रौद्र = रुद्र सम्यन्धी कहा गया है । वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अथा मे रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, त्विष्मरुत, देवों में श्रेष्ठ और श्रेष्ठ घोर प्राण, मह आदि दिये हैं । रुद्र के रूपों में मय, ईशान, उग्र, अशनि आदि भी हैं । ज्यम्बरु = नारिकेल^२ से उस का पापक गुण लक्षित हाता है । क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं ।

८२ आजम्—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम् । य० २४।३२ में 'अज' (रुरा) का सम्बन्ध 'पूपा' से बताया गया है । ब्राह्मणों में पूपा के अर्थ शूद्रवर्ण, पापक पृथिवी, वायु पुष्टि, सूर्य अग्नि, अज, पशु, रेवती नक्षत्र, विशा विटपति, प्रजनन, माता का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवाना भागदुध, अदन्तक आदि दिये गये हैं । गव्यम्—गो इद गव्यम् । गाय का । गो + यत् । यजुर्वेद के पशुप्रकरण में 'अकेले गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है । इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१६ में अतिच्छदस् से बताया गया है । अतिच्छन्दस् के

१ रुर का लाल रंग का बताया गया है (य० सुतदेव का अनुवाद) सशक्रौको० ने इसे काला हिरन बताया है । यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है । ब्राह्मणग्रन्थों में विश्वेदेवा : के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणों, प्राण, ऋतुएँ, इन्द्राग्नी, श्रोत्र दिशाएँ उपद्रव, प्रजापति के पुत्र वैश्य, विश्व पशु, अश्व, गो, अज सब कुछ' आदि दिये गये हैं । इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणसारता सब पर शासन सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है । वह अपने आप को वैश्य ही समझे । उस से भिन्न नहीं, क्योंकि विश्व—समस्त प्रजा—वैश्य है । इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊँच नीच की भावना उत्पन्न हो कर ग्रन्थ हुआ है । २ देखें कोकोनट (ज्यम्बरु इन दी श्रृंगवद) इन दी ओरिजन औफ शिवकल्ट, आइओका० १६४८ (स०) ।

अर्थ 'उदर, शृक्, छन्दों का रस, लोह और वर्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गर्य का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, सवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान् मूधा, सदस्य उद्गाता, उद्गीथ, अधर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितर, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, चित्यति, ये लोह, वह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, वायु के अर्थ पवन, सब का निवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता जातवेदस्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य तीनों लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र पुरोहित, मह, यज्ञ वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और बृहस्पति के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, शुम्भ (=धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहां पर पोषक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकांश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठहरते हैं, जातिविशेषों के चोतक नहीं। मानवों में जो वर्गक्रिया उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता था वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. असति—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुसक०।
अपने-अपने वर्ण के लिए नियत चर्मों के अभाव में। प्रधानत्वात्—यहां

पर हेतु में पञ्चमी है । 'गव्य' व सत्र ग्रन्थों में प्रमुख होने के कारण । इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर व वर्णन से सुस्पष्ट है । इस ने सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं । अतः देखें, रौरव और याच चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है । यहाँ पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है गाय मात्र नहीं । भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म का गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है । तु० ४०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मण । पुरुषप्रधान हि गव्य चर्म श्रुतौ पश्यते । तेष्वप्युक्तं पुरुष गव्येता त्वचमदधुरिति । —कर्मभाष्य ।

८४—८८ सच० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्त लाना दिए हैं । पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूत्र की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है । शशकौका० न क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है । वहाँ धनुर्ज्या का मूर्वा निर्मित माना गया है । महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुत्र वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या क तृण वा बल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है । (सवि० पृ० ६१ पाठि०) । सच० में इन घासों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं । मुत्र को मधुर, स्थान, शीतल, विदोषनाशक और वृष्य, दर्भ का विदोषनाशक, मधुर, कपिला और शीतल बताया है । सन का खट्टा, कपिला, मलमर्ष, रुधिर को गिराने वाला, वमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अर्शा के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है । मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों में जाने जा सकते हैं । आपधियों को राने लगाने और पदनने में रोगों को दूर करने में जा सहायता मिलती है वह सुप्रयत्न । इसी दृष्टि से ये मेखलाधारण की जाती थीं । उपरोक्त घासों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध ज्ञात है ।

(11) मौञ्जी—मुञ्जद्वय इय मौञ्जी । मौर्गी—मूर्गाया इयमिति मौर्ग ।

५० सुखदेव—कास की । भाष्यकारों ने इसे 'मुच' से व्युत्पन्न किया है ।
धनुर्ज्या—भाष्यकारों ने इसे तान्त को (=स्नायुमग) या त्राम का (वर्णमयी) माना है । दम० ने इसे धनुष् नामक धातु बताया है ।

५७ कुशेति—कुश अश्मन्तक^१ और पल्व^२ नी घासों के नाम हैं । बहुधा कुश और दर्भ का एक ही माना जाता है । ये तानों कमश ब्राह्मण क्षान्द्य और वेद्या के गुणों के अभिलाषिया के लिये हैं (हरिहराचार्य) ।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

५८—९०—सच० में दण्डधारण के लाभ शरासरक्षा, मेरुदण्ड का सीधा रखना दिए ह । पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि में किया गया है । सच० ने इन के गुण अभिनगनिगण्ड के आचार पर इस प्रकार दिये हैं—पलाश दीर्घ, पलकूर्ता, दस्तावर, गरम कपैला चरपर, कडवा, खिग्ध ग्रण गंले और गुदा के रोगों का नाशक टूटी हड्डी का जोड़ने वाला, वातादि दोषों, मग्नहृषी, मगसार और कृमियों का नाशक है । बिल्व (या बेल) कपाय, कड़वी प्राही, रुक्ष, अग्निगर्धक, पित्तकारक, वात और कफ नाशक, पलकारक, लघु उष्ण और पाचक होता है । उदुम्बर या गूलर शीतल, रुक्ष, भारी, मधुर, कपैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोमक होता है । इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कनिष्य रोगों का प्रतिरोधक है । सच० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनसातियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है । विभिन्न वृक्षा के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना स्वाभाविक था । उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.-२ ५० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुट अर्य और पल्व का अर्थ कास किया है ।

होता । ऐसा प्रतीत होता है कि मौझी, धनुर्बा और मौर्वी तथा पलाश, वैल्न और औदुम्बर पदों का ऐश्वर्य आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है । उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं । ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं ।

६१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण चांद भी वर्षा किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है ।

(ii) अग्नि, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गृह्यसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्षा की एकता और सत्र के लिए एक जैसे निधान की सत्ता के द्योतक हैं । इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐश्वर्य आदि का प्रयोग वर्षाभाज की दृष्टि से नहीं किया गया है ।

वर्षों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह निधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है । यह इस में पीछे से मिलाया गया है । सच० ने इस मापभेद को वर्षाभेद का द्योतक माना है । वस्तुतः केशवद उ० ५।३३ में $\sqrt{\text{क्लिश}}$ से व्युत्पन्न हुआ है । अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रखा है^१ । ललाट तक दण्ड के निधान से शारीरिक उल को बुद्धि के अधीन रखने का संदेश दिया गया है । प्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है । इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है । वैश्य ही मिश्र—ग्रन्थ—राष्ट्र के प्राण हैं । वे ही विश्वे देवा. और मरुत् हैं, सत्र के मित्र भी । प्राण भी विश्वेदेवा हैं ।

(ii) इस मापनिधान में एक और भाव भी हो सकता है । योगचूडा मण्युपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुसुमलिनी का जागृत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

१. ध्यान रहे कि जहा ब्राह्मण का तपस्वी माना गया है, वहा य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से रखा है, ब्राह्मण को नहीं ।

“कुण्डलिन्या समुद्रता गायत्री प्राणधारिणी ।

प्राणविद्या महाविद्या यस्ता वेत्ति स वेदवित् ॥”

अतः इस मापविधान में कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रुवों के बीच में स्थित आह्लाचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र^१ । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है । हरिहराचार्य ने दण्डों के मान की केशों के मूल, भ्रूमध्य और ओष्ठों तक उता कर इसी मुक्ताव की ओर सचेत किया हो सकता है ।

६३ आहूतः—आ + √ ह् + क । बुलाया हुआ । उत्थाय—उद् + √ स्था + ल्यप् ।

६४ शयानम्—√ शी + शानच् + पु० द्वितीया एक व० । आसो नम्—√ आस् + शानच् + पु० द्वितीया एक व० ।

स्नातक की कीर्ति

६५ अमुन—परलोक में विष्णु लोक में जहा भूरिशृङ्ग, और अय गौए = विद्याए रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास (मृ० १।१५।६) । स्वगस्थान, मोक्षस्थान । भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है । कुछ, विद्वान् इस से मरने पर मुक्ति का कहना करते हैं । परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है । यहा पर ‘अमुनाय वसति’ की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर चल देने के लिये की गई है । स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला विद्यार्थी ।

स्नातकों के भेद

९६ त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है । इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—गु० क० तेषामुत्तम श्रेष्ठस्तुल्यो पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—मुखदेव सस्तरण) ।

९७ वेदम्—एक या अधिक वद का अध्ययन। असमाप्य व्रतम्—ब्रह्मचर्यव्रतमालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु वद का नितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अतः ब्रह्मचारी ग्राहक दिन गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर नगर में जीवन मरताने चला जाता है।

९८ यज्ञ पर व्रत की अवधि तो पूरी हो जाती है, परन्तु वद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, पर भी ब्रह्मचारी सप्ताह में प्रविष्ट हो जाता है।

९९ यज्ञ वद अध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी घर को लौटता है। समावर्तन—उम् + आ + √वृत् + लट् प्रथम पु० एक व०। लौटता है गृहस्थ जनन के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष का आयु तक कराया जा सकता है। इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उद्देश से वञ्चित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना व वेदाध्ययन के अधिकार नहीं मने हैं। पतितसावित्रीका—पतिता अधिकार भावात् सता सावित्री येन्यस्ते। मनु ने इस अवधि की केशान्त संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।

१०४ इस में पतित सावित्रियों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित मानिज्युत और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के मूल में ऐसे लोगों को ब्राह्म्य कहा जाता था (देखो मनु० २।३६) । इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें ब्राह्म्यस्तोम नामक यज्ञ कर क पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था । कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यो द्वारा निन्दा किए हुए लोग ही पतित—आधुनिक शूद्र बने होंगे । यदि ऐसा हो तो निम्नलिखित यह है कि ये ब्राह्म्य से शूद्र कैसे कहलाए जाने लगे ।

(ii) उपनयेयु — उप + √नी + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० ।
 अध्यापयेयु — अधि + √इ + णिच् + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० ।
 याजयेयु — √यन् + णिच् + विधिलिङ् । प्रथम पु० बहु व० । व्यवहरेयुः—
 वि + अव + √हृ + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० । इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं ।

१०५ कालातिक्रमे—कालस्यातिक्रम । उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर । जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त सस्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है । परन्तु यहाँ पर समस्त प्रकरण उपनयन सस्कार का हा है । अतः उतना ही भाव अभीष्ट है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं । नियतवत्—भाष्यकारों के मत में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिषु सर्वप्रायश्चित्त करे । इस प्रायश्चित्त के करने पर सस्कारों का पुन अधिकार प्राप्त हो जाता है । श्री हरिहराचार्य लिखते हैं कि यहाँ काल का अतिक्रमण बसल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रयुक्त अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है । इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत = नियमों के पालक—सयमी के समान आचरण करे । जैसा सयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें । हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है ।

१०६. त्रिपुरुषम्—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियाँ—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं । अपत्ये—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान । चौथी पीढ़ी और उस के आगे । संस्कारो नाध्यापनं च—इस में 'न' का सम्यन्ध मय्य में स्थित दीपक के समान संस्कार और अध्यापनम्—दोनों से है । हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्यन्ध केवल अध्यापनम् से है । अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है । परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन् पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामपत्ये पुनः संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति ।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं । उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है । ४० मुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है ।'

१०७. तेषाम्—इन सावित्री के उपदेश में और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से । ईप्सुः—√आप्+सन्+उ+पुल्लिङ्ग प्रथमा एक व० । ब्रात्यस्तोम—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है । स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर सिद्धली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था ।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीको को ब्रात्य नहीं कहा है । यह नामकरण मनु आदि सिद्धले लेखकों का है । अथर्ववेद के ब्रायकाण्ड में ब्रात्य नीचता का श्रोतक नहीं । वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का श्रोतक है । (दिग्गं अवे० १५।१०; १२; १४-१८ । ब्रात्य-

कारण के डा० सम्पूर्णानन्द और प० क्षेमरुण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार वाय की आज्ञा के बिना यह से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यह हैं। अतः वाय को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव वायस्तोम यज्ञ के किए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) कामम्—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। अधीचीरन्—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। व्यवहार्याः—वि + अव + √हृ + ण्यत् + पुल्लिङ् प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहा पर प० मुखदेव ने वेदारम्भ सस्कार का विधान माना है।

१०८ यहा से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुनराती प्रेस के सस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सू० १०८-१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के प्रिनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त हा उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पाच वदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'सामधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'शुच वाच प्र पथे' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के औपनिषद् व्रत में द्रव्यह प्राजापत्य (१) आदि उपनिषद् भाग के, शैलभ व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २८।१२), 'उदीरतामवर' (य० १६।४६), 'आ नो भद्रा' (य० २५।१४), 'आशु शिशानो' (य० १७।३३) और 'इमा नु क' (य० २५।

४६) — इन शौलभिनी ऋचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्ल, औपनिषद् और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि सू० ११२ में बताई गई है।

(IV) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार मद्राधर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनावश्यक होने से यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता है।

११० उदीक्ष्य—उत् + √ईक्ष् + ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। अपः—भाष्यकारों के क्रियावर्णन के अनुसार और 'अप्सवन्तर' मन्त्र के विनियोग के कारण यहाँ सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। अप्सवन्तः—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहाँ की क्रियाएँ उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को प्रशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहाँ 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अवगुण्ठनम्—यहाँ पर शुक्ल, औपनिषदों और शौलभिनीयों से श्रावण (= सुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५ अविद्यमाने—यदि सू० ११३-११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मम्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (= वेदज्ञान के सार) से अवगुण्ठन किया जाये।

१. तु० क० प्रायोज्ज्वल शीर्षम्। को० ८।१ तथा भीरु शिर।
श० १।४।५।५।

११८. सू० ११३ म मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था। वहा पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है।

११८ इस की विधि का सू० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान विचारणीय है। व्युत्थायाम्—उपा काल हो जाने पर। अरण्ये—इसे अरण्य = ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सू० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रसर्जन मानने पर सू० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है। वहा पर वस्त्र की अवगुण्ठनी का विधान है, जो गुरु को दी जाती है।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अभीष्ट है।

१२१ शान्तिभाजनम्—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—‘श्री शान्तिः’ इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु का आश्रम में सब के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था।

१२३. गोदानम्—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी। इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यो को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्योंकि गो = वाक् ज्ञान और यज्ञ का प्रतीक है। तु० क० तै० स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमद। तथा ऋ० १०।६०।१६, ११।७।६, अवे० ५।१६ आदि।

श्रीसुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य
आचार्य डा० सुधीर कुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०,
शास्त्री, प्रमाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार
स्कारीय उपनयनसूत्रों की सुकाशिनी
टिप्पणिया समाप्त हुई।

वेदालवण्यम्

पारस्करोयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णनानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों को सत्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में दनाये गए सदर्थों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

अक्षरालवण्य	७३	अतिच्छन्दस्	८२	अपत्ये	१०६
पाटि० १		अत्र	१४, ५१	अपत्	६१ (iv)
अग्निः	३१	अथर्ववेद में अजिन का		अप्स्वन्तः	११०
अग्नि का परिसमूहन और		विधान नहीं	८०	अभिवादन	६४
उस का भाव	५२	अथाजिनम्	१६	अनुव	६५
अग्नि के विशेषण	४७	अथास्य	२२	अमृतम्	६ (iii)
अग्नि परिसमूहन मे		अदत्तादान	७५	अरण्यात्	७२
विनियुक्त मन्त्र ५३ (iii)		अदुहत्	४८ (viii)	अरव्ये	११८
अग्निम्	३४	अधि	२०	अरिष्टयै	३३
अग्ने	५५	अधीयीत्	१०७ (iii)	अर्द्धर्चशः	४५
अग्ने सुश्रव मन्त्र के		अध्यापयेयुः	१०४ (ii)	अलकृतम्	६
उत्तरार्द्ध का सच० का		अध्वर्यु	६१	अवगुण्ठनम्	११३
अर्थ	५३ (ii)	अनाहनस्यम्	१७ (ii)	अवगुण्ठन (यस्त्र)	११६
अग्र्यम्	१५	अनिराकरिष्णुः	५५ (iii)	अवपत्	६३ (vi)
अगान्वालय जपति	६२	अनुवर्तयन्	४४	अविद्यमाने	११०
अगालम्भन पारस्कर को		अनृत	७५	अशान	३७
अभिमत नहीं	६३	अन्न के अर्थ	५५ (iii)	अश्विनी	६१
अगिरा	६० (ii)	अन्नादः	५५ (iii)	अष्टयर्म	१
अजिनम्	१६	अन्नाद्याय	६३ (xii)	अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि	
अजिनों के लिए पशुवध		अन्वारब्ध	३५		७६
की सभायना	८०	अर्पः	११०	असति	८३

असमाप्य व्रतम्	६७	आ पृष्ण	६०	के विकल्प	४
असानि	७ (iii) (ii)	आयु	६ (iii) (ii)	(ii अ-iii)	
अनावहम् भोऽ	२६	आयु	६०	उपनयन की चरम सीमा	
असि	६३ (x)	आयुत्वाय	६ (iii),	१००-१०३	
प्रसौ	६३ (viii)		६ (iii) (ii)	उपनयन के काल—	
अ णिम्	५५	आयुर्दा	६०	विशिष्ट विद्यालयों में	
अहिंसन्	७२	आयुषे	६ (iii)	जाने के काल ४ (ii)	
अगात्	१२	आयुष्यम्	१५	उपनयन के लिए ऋतु	
आगाम्	७ (iii) (ii)	आलम्ब्य	६२ (ii)	आदि का निधान	
आग्नेयो वै ब्राह्मण	४७	आसीनम्	६४	४ (iv)	
आगिरस	६ (iii)	आहूत	६३	उपनयन के समय किए	
आचमन का प्रयोजन	इति वा		१२	जाने वाले उपदेशों का	
	३७ (ii)	इन्द्रः	३१	प्रयोजन	७३
आचार्य	३१	इन्द्राय	६	उपनयन के कालातिक्रम	
आजम्	८२	ईप्सु	१०७	पर प्रायश्चित्त	१०५
आज्याहुती	३५	उल्लयत्वं वनस्पते मन्त्र		उपनयन संस्कार पृ० १	
आथास्य	२८	का अर्थ	२१ (iii)	उपनयन होते ही वेदा-	
आदधाना	११		पृ० २५	ध्ययन का अधिकार	
आदित्य (ब्रह्मचारी)	उत्तरतोऽग्ने		४३	प्राप्त	१०६
	७६ (ii)	उत्थाय	६३	उपनयेयु	१०४ (ii)
आधाय	७२	उदीक्ष्य	११०	उपनेता	पृ० १ (ii)
आधुनिक शैली पर		उदुम्बर के गुण	८८-६०	उपर्याप्तन	७५
गायत्री का अर्थ	४७ (v)	उपदेश के योग्य ब्रह्म-		उपविष्टाय	४३
आनयन्ति-	६	चारी के गुण	४३	उपव्रतम्	११२
आपि	२२	उपनयन का काल	१	उपसन्नाय	४३
आपो हि ष्ठा मन्त्र का			पृ० २	उशती	२३ (v)
अर्थ	२३ पृ० २६	उपनयन के आयुमान		उपसः	४६ (iv)

ऊनम्	६०	को नामासि	२८	जगती छन्द वाली	
श्रुति नामों की ऐतिहा-		सुत्रिय वैश्य ही	८१	सावित्री	४६
सिक्ता की कल्पना		(पाटि० १)		जगती वैश्यस्य	४६
	४८ (viii)	क्षयाय	२३ (v)	जनयथ	२३ (v)
एकः	४६ (vi)	गन्धर्वः	४८ (vi)	जपति	६२ (ii)
एषी	१७ (ii)	गर्माष्टमे	१	जमदग्नेः	६३ (iii)
एनी	१७ (ii)	गवय	८२	जरिष्णु	१७ (ii)
एन्यः	८० (ii)	गुव्यम्	८२	जल से अंजलि भरना	
एपा ते	५७	गह्वाजिन की प्रधानता		और उस का रहस्य	
एपा ते मन्त्र और उस		का कारण	८३		२२ पृ० २६
का अर्थ	५७ (ii)	गायत्री का उपदेश सच		जलसेचन	५८
ऐषेयम्	८०	के लिए	५०	जातवेदसे	५५
ओ३म्	४७ (vi)	गायत्रीम्	४७	जायमानः	१२
क	२८	गायत्री मन्त्र—आधु-		जिन्वथ	२३ (v)
कएवः	४८ (viii)	निक शैली पर अर्थ		जीव	६३ (viii)
कर्म	३८		४७ (v)	जीवनाय	६३ (vi)
कवयः	१२	—दस० का अर्थ		जीवपुत्रः	५५ (iii)
कश्यपस्य	६३ (iv)		४७ (ii-iv)	जीवातवे	६३ (vi)
कामम्	१०७ (iii)	—महत्त्व	४७ (vii)	तच्चक्षुर्देवहितं मन्त्र का	
कालातिक्रमे	१०५	गोदानम्	१२३	अर्थ	२५
कुण्डलिनी बोधन से		गोमृग	८२	तच्चक्षुर्देवहितं मन्त्र का	
वेदज्ञान	६२ (ii)	चक्षुसे	२३ (v)	दस० का अर्थ २५ (iii)	
कुरोति	८७	चक्षुः	१७ (ii)	तश्च	६
केतपूः	४८ (vi)	चित्तम्	२७ (ii)	तनूपा.	६०
केतम्	४८ (vi)	छन्दोनाम मन्त्रार्थ प्रका-		तन्याः	६०
केशान्त सस्कार का		शक	५० (पाटि १)	तस्मा अरगमाम मन्त्र	
काल	१००-१०३	द्वै वेदमन्त्र	१०८ (ii-iv)	का अर्थ २३ (iv) पृ० २७	

तस्मिन्	७२	दण्डं प्रयच्छति	१८	नाम	६३ (x)
ता सधितुः मन्त्र का अर्थ		दण्डों का मापविधान		निधिपः	५३
४८ (VII)		उड्यानचक्र के भेदन		निधिपाः	५३
तिलक लगाना	६३	का द्योतक	६२ (ii)	नियतवत्	१०५
तिलः	६८-६९	दधे	४९ (VI)	नियुनक्तु	२७ (ii)
तूष्णीं वा	१३	दर्भ के गुण	८४-८६	निवर्तयामि	६३ (xi)
तेजः	१७ (ii)	दिवा	३९	निवेदयित्वा	७१
तेषाम्	१०७	दीक्षावत्	२१	पच्छः	४५
ते हृदय दधामि	२७ (ii)	दीर्घायुत्नाय मन्त्र का		पतितसावित्रीका.	
त्रय	९६	अर्थ	६३ (VII)		१००-१०३
त्रिपुरङ्ग तिलक लगाना		देवयन्त	१२	पतितसावित्रीकों	कों
अनावश्यक	६३ (xii)	देव सधितुः प्रसुव मन्त्र		वेदाध्ययन का अधि	
त्रिपुरस्यम्	१०६	वा अर्थ	४८ (IV)	कार नहीं	१०६
निष्ठुम् छन्दवाली सावित्री		देवस्य	४७ (VI)	परमम्	१५
	४८	देवहितम्	२५ (ii)	परिददाति	३२
निष्ठुम् राजन्यस्य	४८	देवानाम्	५३	परिदधे	१७ (ii)
न्यायुपतिलक पारस्कर		देवाम्	३३	परिधापयति	८
को अभिमत नहीं	६३	देवी	११, ६१	परीत्य	३४
न्यायुपम्	६३, ६३ (iii)	देवेषु	६३ (iii)	पयदधात्	९ (iii)
न्यायुप जमदग्ने का		द्यावापृथिवीभ्याम्	३३	पलाश के गुण	८८-९०
अर्थ	६३ (ii)	धनुर्न्या	८४-८६ (ii)	पवित्रम्	१५
त्वा	९ (iii)	धरुणम्	१७ (ii)	पशव	५५ (ii)
दक्षिणतः	४४	धिय	४७ (VI)	पशुओं और देवताओं	
दण्ड	१८	धीरासुः	१२	का सम्बन्ध	७९
दण्डधारण का प्रयोजन		धेनु	८२	पशुभिः	५५
और उस के भेद का		नमः	६३ (xi)	पश्चादग्ने	७
विवेचन	८८-९०	नाकम्	४९ (iv)	पश्चिम दिशा	७ (ii)

परिरीत	१२	प्रधानत्वात्	८३	ब्रह्मवर्चसाय	२०
परिश्रुति	४६ (VI)	प्रपीनाम्	४८ (VIII)	ब्रह्मवर्चसी	५५ (III)
परिसमूहति	५० (II)	प्रयाणम्	४६ (IV)	ब्राह्मण आदि पद गुण	
पर्युक्ष्य	५४	प्रवचन की प्रतिज्ञा	११३	वाचक	७८ (II),
पर्युप्त	६	प्रास्थापानाभ्या	उलमा		८२ (II)
पाणिना	५२	दधाना	११	ब्राह्मण और शूद्र दोनों	
पाच यम	७५	प्राशनान्ते	३५	तपस्वी	६२, ६०
पुन	२०	वर्गीते	१०		(पाटि० १)
पुरस्तात्	१५	बल	१५	ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्	
पुराण ६ (पाटि० ८)		बलाय	६ (III) (II)		१ (VIII)
पुष्करस्तनौ	६१ (IV)	मित्र के गुण	८८-६०	ब्राह्मणान्	५
पूयंवत्	५८, ७२	बृहस्पति	८२	ब्राह्मणों के आचार के	
पूषा	८२	बृहस्पति	६ (III)	अनुकूल शूद्रों का उप	
प्यायस्व	५७ (V)	ब्रह्म	७ (III) (II)	नयन मिदित	४ (VI)
प्यासिपीमहि	५७ (V)	ब्रह्मचर्यम्	७ (III)	भर्ग	४७ (VI)
प्रचननाथ	६३ (XII)	ब्रह्मचर्यव्रत ७ (III) (II)		भवत्पूर्वाम्	६५-६७
प्रजया	५५	ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि		मात्रयत	२३ (V)
प्रजापतये	३३		७६	मिदित मागने की राति	
प्रजापति	८२	ब्रह्मचारी का वेप	६		६५-६७
प्रजापति की कल्याण्यो			पृ० ७	भुव	४७ (VI)
तन्	५५ (II)	ब्रह्मचारी का परिचम में		यू	४७ (VI)
प्रजापते	१५	मिटाने का रहस्य	७	भूतेम्य	३२
प्रतप्य	५६		पृ० ८	मूभ्याम्	२०
प्रतिमुञ्च	१५	ब्रह्मभोज	५ पृ० ७	मज्जन	७५
प्रत्यङ्मुखाय	४३	ब्रह्मभोज के उपयुक्त		मधु	७५
प्रदक्षिणम्	३४	ब्राह्मण का लक्षण		मनसा	१२
प्रदक्षिणम्	५४		५ (II)	मनुष्याणाम्	५३

मन्त्र—अध्यात्म में	का सच० का अर्थ	वयुनावित्	४६ (VI)
विसर्जन ११८	१५ (II) पृ० २१	वरुण	७ (II)
—अवगुण्ठन ११३,	यथामगलम् ४	वरेण्यम्	४७ (VI)
११६	याजयेयु १०४ (II)	वर्चसे	६ (III) (II)
—शान्तिभाजन १२१	सुझते मन उत मन्त्र का	वचोदा	६०
मम व्रते मन्त्र का दस०	अर्थ ४६ (V)	वर्णम्	११
का अर्थ २७	युवा १२	वर्णों को अपेक्षित सम्प	
मही ४६ (VI)	युवा सुवासा १२	ज्ञाताए १ (II—VIII)	
महे २३ (V)	युवा सुवासा का विनियोग	वर्णों की एकता ७८ (II),	
मास ७५	१२ (II—III) पृ० १८	८२ (II), ६१	
मामभक्षण निकृष्ट ७५	येन धाता मन्त्र का अर्थ	वर्णों के लिए दण्डों के	
माता से भिक्षा ७०	६३ (V)	विभिन्न माप का कारण	
मित्र ८० (II)	येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ	६२	
मित्रस्य १७	(सच) ६ (III) (III)	वर्णों के वस्त्रों के रंग ७६	
मूज के गुण ८४—८६	यो व शिवतम मन्त्र का	(पाटि० १)	
मेखलाधारण से लाभ	अर्थ २३ (III) पृ० २७	वधिपीमहि ५७ (V)	
८४—८६	रणाय २३ (V)	वमु (ब्रह्मचारी) ७६ (II)	
मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी	रस २३ (V)	वस्त्रपरिधान का महत्त्व	
द्वारा ही १०	राजन्यम् १ (VIII)	८ पृ० १०	
मेखलाम् १०	रायसोपाय ६३ (XII)	वस्त्रों और मेखला के	
मेधया ५५	रुद्र ८१	मेद का कारण ७६	
मौखी ८४—८६ (II)	रुद्र (ब्रह्मचारी) ७६ (II)	वाचस्पति ४८ (VI)	
मौधी ८४—८६ (II)	रौरवम् ८१	वाज १७ (II)	
यश १३	वन २१ (IV)	वाजजित् ५७ (V)	
यशस्य ५३	वनस्पतियों में जीवन	वाजम् ४८ (IV)	
यशोपवीतम् १३	७२	वाजम् ४८ (VI)	
यशोपवीत परम पवित्र	वनस्पते २१ (IV)	वाणि १७ (II)	

वायु	८२	विवेचन	७६ (ii)	शुद्धम्	१५
वासः	८	वेदारम्भ संस्कार	पृ० १५	शुद्ध—आर्यों से श्रेष्ठ	
विद्यार्थी में आवश्यक		वैकल्पिक विधानों का		४ (v) (५)	
गुण	४३ (ii)	महत्त्वं	६१ (ii)	—निरुद्ध ४ (v) (१)	
विपश्चितः	४६ (vi)	वैश्य, समस्त प्रजा	८१	—उददलित क्षत्रिय ही	
विप्रस्य	४६ (vi)	(पाटि० १)		४ (v) (४)	
विप्राः	४६ (vi)	वैश्यम्	१ (viii)	—मूर्ख ही ४ (v) (२)	
विभिन्न वर्णों के उप-		वैश्य (=विश्व) ही राष्ट्र		—वर्णों में श्रेष्ठ व्यक्ति ही	
नयन में आयु की		के प्राण	६२	४ (v) (५)	
भिन्नता का कारण १		वैहायसः	२०	—काम-सेना ४(v)(३)	
(ii—viii) पृ० २—४		व्यनहरेयुः	१०४ (ii)	शुद्धों के उपनयन के	
विमृष्टे	५६	व्यनहार्याः	१०७ (iii)	विधान के अभाव का	
विश्वजन्याम् ४८ (viii)		व्युष्टायाम्	११८	कारण ४ (v—vi)	
विश्वा रूपाणि मन्त्र का		मन्त्रे	२७ (ii)	पृ० ५—७	
अर्थ ४६ (iii)		मन्त्र १०४, १०७ (ii)		श्रुतिः ४७ (viii)	
विश्वेदेवा ८१ (पाटी० १)		अतिथि, परमात्मा १०७		श्रेयान् १२	
विश्वेदेव्य देवेभ्यः ३३		(ii)—की आज्ञा से यह		पाण्मास्ये ४६	
वेदब्रह्मचर्यम् ७६ (iii)		में लाम १०७ (ii)		संशालि ३५	
वेदम् ६७		मन्त्र से शुद्ध १०४		संस्कारो नाध्यापनं च	
वेदमन्त्र अपारस्करिय		मन्त्र स्तोम १०७		१०६	
१०८		शतम् ६३ (viii)		सद्यः ४७	
वेदमन्त्र—छै १०८		शयानम् ६४		सन का गुण ८४—८६	
(ii—iv)		शाण० ७६		सन वर्णों की एवता	
वेदशिरस् ११५		शान्तिभाजनम् १२१		७८ (ii), ८२ (ii),	
वेदस्य ५३		शिवः ६३ (x)		६१	
वेदाध्ययन के लिए		शिवो नामास्ति मन्त्र का		सन के लिए गायत्री का	
निर्धारित अर्थ का		अर्थ ६३ (ix)		उपदेश ५०	

समस्त प्रजा वैश्य	सवित्रे	३३	सूर्यमुदीक्षयति	२४	
८१ (पाटि० १)	ससुवासम्	५७ (v)	सोम	७ (ii)	
समावर्तते	६६	सहजम्	१५	सौम्रवसम्	५३
समित्	५१	सहस्रधाराम् ४८ (viii)	स्त्रीगमन	७५	
समिध	७२	सावित्री का उपदेश ४३	स्थविरम्	१७ (ii)	
समिधम्	४१	सावित्री के उपदेश का	स्नातक	६५	
समिधम्	५४, ७२	काल परिमाण ४६	स्नातक की कीर्ति	६५	
समिधाधान	५१	पृ० ३६	स्नातकों के भेद .	६६	
सामधाधान का भाव	✓ सावित्री—जगती छन्द	स्व	४७ (vi)		
५७ (iv)	वाली ४६	स्वदत्तु	४८ (vi)		
समिद्धम्	१७ (ii) ✓—त्रिष्टुप् छन्द वाली ४८	स्वधिति	६३ (x—xi)		
समीक्षिताय	४३	सावित्राम्	४३		
समीक्षमाणाय	४३	सुप्रजास्त्वाय ६३ (viii)	स्वसा	११	
सम्मार्जिम	५७ (v) ✓ सुभगा	११	स्वाथ्य	१२	
सरस्वती	६१	सुमतिम् ४८ (viii)	स्वाहा	४८ (vi), ५५ (iii)	
सर्प	१७ (ii)	सुवासाः १२	हस्त गृहीत्वा	२८	
सर्वा च	४५	✓ सुवीर्याय ६३ (xi)	हाथ तपा कर अगो के		
सवितु	४७ (vi) ✓ सुध्रुवः	५३	स्पर्श का लक्ष्य	५६	
✓ सवितृदेवता का त्रैष्टुभ	सूर्य	२४	हिंसी	६३ (xi)	
मन्त्र	४८	सूर्य २५ (ii)	होत्राः	४६ (vi)	

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये
ऋक्सूक्तानि

(य० ३१ च)

वेदलावण्यम्

भूमिका

ऋग्वेद का परिचय

वेदशब्द

१—वेद शब्द/विद् से बनता है। यह धातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय लगता है। अतः यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वा, सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः^१। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित फलों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद में केवल ७५ मन्त्र हो ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष अर्वाचीन। इन में कर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर क्रिया के क्रम से रख दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों में समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अर्थ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं^२। इस की पुष्टि अनेक बार ऐसे

१-सुभाभू० पृ० २५।

२-वेमाप०, २०।२४-२५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होती है ३ ।

शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं । किसी समय इन की संख्या ११२७ रहीं बताई जाती है ४ । आज-कल इन में से कुछ ही मिलती हैं । उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है ! इस के आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कुछ मन्त्रों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन । इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५ ।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद । शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता । इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है । वैपम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही काण्व संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६ । इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७ । इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं, काण्वसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्णन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है । कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३—बही, १७।१०६; सीएसडी० पृ० १७०-१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७ ।

४—ऋभाभू० पृ० ३४८; वेभाप० २०।७३; वैसा पृ० ६६ ।

५—नेवैशा०, पृ० १३, संदर्भ २ ।

६—बही, पृ० ५-८, १३ (संदर्भ ३)

७—वेभाप०, ५।५६ ।

भा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदमन्त्रों का अनेक दृष्टियों से संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक क्रियावाण्ड का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तेत्तिरय, मैत्रायणी और काठक को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यान से युक्त संस्करण कहा जा सकता है ८।

४—सामवेद की दो शाखाएँ हैं—कौथुम और जैमिनीय। प्रथमवेद की भी दो हैं—शौनक और पैप्पलाद। इन की पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण ९।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं की भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं १०। आधुनिक विद्वान् शाखा-साहित्यों को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं ११। परन्तु ये बात ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व संदर्भों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा १२।

८—वैभाष० ५।१।

९—नवैशा० पृ० ८—१३। वैसा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद मान जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। दसो वैदिक बाह्म्य का इतिहास (भगवद्गुप्त), १६३५, पृ० २१२।३।

१०—वैसा०, पृ० ६६।

११—नवैशा०, पृ० १—२।

१२—वैसा० पृ० ६६—१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उस की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे । आज-कल न तो सर शाखासंहिताएँ मिलती हैं, न उन के सर ब्राह्मण । अब तक योडे-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषातकि और शाखायन १३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण १४ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद १५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जौमनीयोपनिषद्, मन्त्र, आप्येय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गायथ ब्राह्मण मिले हैं । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं । इनमें अपनी-अपनी संहिता से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है । सामान्यतः इन्हें कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानों को याज्ञिक । परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ न इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उत्तरी सामित नहीं । ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-पद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से सुव्यक्त हो जाता है कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है । उन के वेदार्थ और कर्मकाण्ड के विवेचन में यह दृष्टि श्रोतप्रोत है । इस प्रकार उन के वेदार्थ अनेकविध हैं । उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं । वहाँ

१३—कुछ विद्वान् कौषातकि और शाखायन ब्राह्मण को एक ही मानते हैं । डा० जी० आर० चिन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है । दत्तो आदेशोका० ६, पृ० १६४॥

१४—इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और ऋग्वेद मिलती हैं ।

१५—मन्त्र, आप्येय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे । हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता से छपा है । मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण मन्त्रा जाता है । दोनों का स्वरूप अध्येतव्य है ।

वरुण क्लोम भी है, सविता यदुत् भी और दोनों ब्रह्म और वाक् भी । इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री भरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त धारणाओं के कारण और ठीक-ठीक अवगत न करने के कारण महान् उपेक्षा की गई है । आजकल कुछ विद्वान् अपने वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं १६ ।

आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं । सायण आदि विद्वानों के मत में अरण्य में पड़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है । इस की अपेक्षा इन्हे अरण्य=ज्ञानविशेष-मोक्षदायक ज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होने के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है १७ ।

८—आरण्यकों में महाव्रत और होध आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवेचन किया गया है १८ । इन में मन्त्रों की अनेकार्थक माना गया है १९ ।

९—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है । अब तक ऋग्वेद के ऐतरेय और शांख्यायन या कौपीतिक आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहद्) आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन बृहदारण्यकोपनिषद् (और काण्व बृहदारण्यकोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २० या तबलकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं ।

१६—देखो डा० फतह सिंह, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरुज्योति आदि ।

१७—वेमाप० ७।२ ।

१८—वैसा० पृ० १५०—१५१ ।

१९—वेमाप० ७।६ ।

२०—इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं ।

भाषा का और निरुक्त में पदों का विश्लेषण, छन्द में वैदिक छन्दों के लक्षण आदि और ज्योतिष में कालगणना और सूर्य आदि ज्योतियों के विषयों का प्रतिपादन मिलता है ।

१४—ऋग्वेद के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र आते हैं । श्रौत सूत्रों में चौदह वैदिक यज्ञों—सात इवियज्ञ और सात सोमयज्ञ—का वर्णन किया गया है । गृह्य सूत्रों में जन्म से मृत्यु पर्यन्त किए जाने वाले संस्कारों, सात पाक यज्ञों का वर्णन मिलता है । धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म, दायाधिकार, आदि सामाजिक, राजनीतिक और पारमार्थिक कर्मों का वर्णन पाया जाता है ।

१५—आजकल उपलब्ध सूत्रों की संख्या पर्याप्त है । इन में आश्वलायन, आपस्तम्ब, पारस्कर, शाखायन, गोभिल, मानव, बौधायन आदि के गृह्यसूत्र, आश्वलायन, शाखायन, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के श्रौत सूत्र और वसिष्ठ, मानव और गौतम के धर्मसूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है । ये सूत्र विभिन्न वेदों या उन की शाखाओं से सम्बद्ध हैं । सम्भवतः कुछ सूत्रग्रन्थ स्वतन्त्र भा रहे हों । ये ग्रन्थ ही पिछले काल की स्मृतियों का आधार बने ।

ऋग्वेद

१६—ऊपर के वर्णन से यह सुव्यक्त है कि ऋग्वेद समस्त वैदिक वाङ्मय में प्राचीनतम और पूज्यतम ग्रन्थ है । वैदिक और प्रत्यग्वैदिक साहित्य में वेदों की बड़ी महिमा बताई गई है । स्वयं वेदों ने अपने को परमेश्वर से उत्पन्न, उस के अङ्ग, कल्याणकारी, पुरातन विद्वान् और आदित्य, कर्म का स्रोत, वीर्य, तप, ब्रह्मवर्चस्वर आयु प्राण आदि के देने वाले कहा है । ऋचाएँ देवों के निवास स्थान परम व्योम अक्षर स्वरूप में रहती हैं । इन में भद्र लक्ष्मी निहित है । इन्हें यज्ञ से जाना जा सकता है । परमात्मा ऋचाओं में प्रकाशित

होता है, ऋचाएँ परमात्मा से। वे दुःख और पाप आदि से छुड़ाने वाली हैं। ऋचाओं से ही जगत् और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणग्रन्थों में ऋग्वेद को अग्नि से उत्पन्न, भूलोक, अग्नि देवता गायत्र छन्द और पृथिवी स्थान वाला, भर्ग आदि कहा है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ऋचाओं के ज्ञान से रहित व्यक्ति ब्राह्मण, वशिष्, कुशीलव, शूद्रों का स्वामी, स्तेन और चिकित्सक नहीं हो सकता है २२।

१७—आधुनिक काल में भी विद्वानों ने वेदों की महिमा मुक्त कण्ठ से वर्णित की है। भारतीय सभ्यता और विचारधारा के मूल स्वरूप, विकास और विस्तार के लिए, आधुनिक नूतन विज्ञानों धर्म-विज्ञान, संस्कृतिविज्ञान और भाषाविज्ञान, इतिहास और दर्शन आदि के अध्ययन के लिए समस्त वेदों का, विशेषतः ऋग्वेद का महान् महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसी कारण इस वेद के अश्लेषों को आधुनिक संस्कृताध्यायन में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अतः इस वेद का यहाँ कुछ विस्तृत परिचय दिया जाता है।

ऋग्वेद का काल

१८—जब से आधुनिक युग में वेदों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से ही ऋग्वेद के काल के निर्णय की विकराल समस्या विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुई है और उन्होंने ने अपनी-अपनी दृष्टियों से ऋग्वेद का काल निर्दिष्ट करने का प्रयास किया है।

१९—यह प्रश्न प्राचीन काल में भी विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ। ऋग्वेद के मत में सर्वहृत यज्ञ त्रिराट् से ऋक्, सामन्, यजु और छन्दस् (= अग्न्यवेद) की उत्पत्ति हुई २३। अभी

२२-पञ्चसू० ३।३, वेमाप० १।१३ भी देखें।

२३-ऋ० १०।६०।६। दसो आगे मन्त्रसंख्या २०।

मानव की सृष्टि का सूत्रपात भी नहीं हुआ था कि इन ऋक् आदि की विराट् पुरुष से उत्पत्ति हो गई। भारतीय परम्परा में अन्य आचार्यों और ग्रन्थों ने भाचारों सहिताओं को अग्नि, वायु, आदित्य और अगिराः के द्वारा सृष्टि के आदि में ईश्वर से उत्पन्न माना है।

२०—सृष्टि की रचना की गणना ज्योतिष के ग्रन्थों में मन्वन्तरो की कल्पना द्वारा की गई है २४। उन्होंने ने इस गणनाक्रम को चिर काल तक अध्ययन, परीक्षण और विचार के पश्चात् स्थिर किया था २५। इस गणना का सूत्रपात वैदिक काल में हो चुका था। अथर्व-वेद में ब्रह्मा के मन्त्र में यह क्रम पूर्ण विकसित लक्षित होता है—

“शत तेऽयुत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृणमः।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमाना ॥” २६

इस गणना के अनुसार ऋग्वेद आदि चारों सहिताओं का आविर्भाव काल आज से १६६०८५३०५८ वर्ष पूर्व है २७। प० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिकसम्पत्ति में विचार प्रस्तुत किया है कि वेदोत्पत्ति का काल वैवस्वत मनु का युग है।

२४—देखो सूर्यसिद्धात, १ । १२—२०, २०—२३, विष्णुपुराण १।३।१८—२२।

२५—वही, १।३।१२—यहाँ पर पुराविदः शब्द से यह निष्कर्ष सुस्पष्ट है।

२६—अवे० ८।२।२१ ।

२७—देखो अभाभू० पृ० २६—२७ (स०)। वहाँ की गणना में १६३३ वि० से आज २०१५ वि० तक के ८० वर्ष और जोड़ लें। वेभाप० २०।१८ भी देखें।

२१—इस मत का आधार वेदों की अपौरुषेयता है। आधुनिक आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन में अपौरुषेयवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। आज विकासवाद का सिद्धान्त मानता है कि मानव और उस के मस्तिष्क का विकास शनैः शनैः हुआ। जब मानवों को कवित्व शक्ति प्राप्त हो गई तब उन्होंने वेदमन्त्रों की रचना की। मानव का इस विधित अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

२२—इस विचारधारा पर अनेकों विद्वानों ने ऋग्वेद का काल निश्चित किया है।

मैक्समूलर का मत

२३—मैक्समूलर ने प्रस्ताव किया कि लगभग १५०० ई० पू० में बुद्ध के निर्वाणोपरान्त बुद्धधर्म के प्रसार के समय वेदसंहिताओं, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्रों का निर्माण हो चुका था। इन को चार कालों—छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक काल के साहित्य की उत्पत्ति और विकास में कम से कम २००-२०० वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के निर्माण में कम से कम ८०० वर्ष लगे होंगे। इन को बुद्ध के निर्वाणकाल में जोड़ने और सूत्रकाल को ६०० ई० पू० से प्रारम्भ तथा बुद्ध का समकालीन मानने पर वेद का रचना काल ८०० से १२०० ई० पू० ठहरता है। पाँच-स्वयं मैक्समूलर ने इस तिथि को १५०० ई० पू० तक पहुँचा दिया।

डा० मैकडोनल का मत

२४—डा० मैकडोनल मानते हैं कि अथेस्ता और ऋग्वेद की भाषा में इतना घनिष्ठ साम्य है कि यदि अथेस्ता की भाषा १५-६ सौ वर्ष पूर्व की मिल जाती तो वह ऋग्वेद की भाषा से क्या है। कुछ

भिन्न हाती । उधर १४० ई० पू० क बापाज काई के शिलालेख में कुछ वैदक देवताओं का नाम मिलता है जो भारत-ईरानी आर्यों के पृथक् होन के काल का है । अतः सृग्गद की रचना १५०० ई० पू० क पीछ की है ०७ अ ।

२७अ-हाल ही म पायो नयर (२८ १ १६) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार अणुशक्ति के पराक्षण सभारत में आर्यों के आगमन की तिथि २००० ई० पू० से १६०० ई० पू० ठहरती है । इस पराक्षण और पराक्षित सामग्री की पूरी जानकारी प्राप्त हुए बिना कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नह । यह समाचार इस प्रकार है—

ATOMIC EXAMINATION DATES ARYAN INVASION⁽¹⁾ OF INDIA

BOMBAY Jan 25-Examination through atomic apparatus of the archaeological finds at Navdatoli on the banks of River Narmada 60 miles south of Indore, has indicated that the Aryans came to India between 2000 and 1,600 B C

Articles found at the site included charred grains of wheat and rice burnt wooden posts and pieces of painted pottery These were sent to Pennsylvania University for C 14 tests which are said accurately to determine the age of archaeological objects Experts at the University are of the opinion that the objects ranged from 1600 B C to 1100 B C.

२५—परन्तु भाषाओं और भावों के विकास की गति इतनी नियमित नहीं है जितना इस वादों में माना गइ है। भाषाएँ सदस्यों वर्षों तक अपने साहित्यिक रूप में बनी रहती हैं, उन का पुनरुद्धार और प्रसार भी होता है। उधर न बुद्ध के निर्वाण की तिथि निश्चित है, न जरथुष्ट की। बुद्ध का निर्वाण काल ३६८ ई० पू० से २४२ ई०

So for the date of the Aryan Invasion of India based on linguistic evidence could not indicate the exact period of their descent on the Indo Gangetic plain. Historians however have opined that it must have taken the Aryans some 400 years to move from the frontiers to Central India where they ultimately settled.

Dr H D Sankalia Director of the Deccan College Post Graduate Research Institute, Poona who has been engaged in research work on the site, told NAFEN that the 20 specimens of Navdatoli finds subjected to C 14 tests were the first Indian objects to undergo the test.

According to Dr Sankalia, between 1600 and 1100 B C peasants cultivated wheat and later rice gram field peas and misoor (lentil). They lived in round square and rectangular houses and had beautiful painted pottery comparable in shape and design to that from Iran at that period. It is probable the invading tribes had brought to India the art of making such pottery.

1 This is the first time that something Iranian can be definitely located in India at a period that can be dated he added-NAFEN

पू० (चीनी और तिब्बती परम्परा) के बीच में और जगशुष्क का काल ६०० ई० पू० से ८,००० ई० पू० के मध्य में रक्खा जाता है । यद्यपि प्राचीनतम तिथियों की ओर आधुनिक प्रवृत्ति नहीं है तो भी निचली सीमाओं के मतभेदों में भी पर्याप्त ऊँची तिथियाँ मिलती हैं । बोधज-काई के मिलाना शिलालेख में प्राप्त, ऋग्वेदीय देवताओं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ के नामों-नसत्-र, ढरु व-र, इन्द्र-र और न-स - अत् - ति - इत्य को भारतीयों और ईरानियों के सर्वप्रथम पृथक् होने के काल का और आर्यों के भारत की ओर बढ़ने के काल का मानना सम्भव नहीं । ये नाम मित्र आदि यदों के मूल या पूर्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत पाछे के विकृत रूप हैं । अपि च - आर्यों के पश्चिम से भारत में आने का साहित्य में कोई निर्देश नहीं मिलता है । पुराणों में उन्हें पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ वर्णित किया गया है । ऋग्वेद के नदीयुक्त से भी यही क्रम निकलता है ।

सिन्धुघाटी सभ्यता

२६—३००० ई० पू० की सिन्धु घाटी सभ्यता को अवैदिक और प्राग्वैदिक माना जाता है । उस के पक्ष में प्रमुख युक्तियाँ ये हैं — (१) ऋग्वेद में अश्व का महत्त्व है, परन्तु सिन्धु घाटी में बैल का । (२) सिन्धुघाटी में न अश्व मिला है, न उस का चित्र । (३) इस सभ्यता में शिव की पूजा मिलती है जो वैदिक शिव से भिन्न है । (४) ऋग्वेद का धर्म मूर्तिपूजक नहीं है, सिन्धुघाटी में मूर्तियों का प्राबल्य है । वहाँ किसी घर में भी अग्निकुण्ड नहीं मिला है ।

२७—इस विषय पर पर्याप्त विवाद चला है । डा० लक्ष्मण स्वर्ण ने इस विषय में पर्याप्त लिखा है । यद्यपि ऋग्वेद में अश्व का वर्णन पाया जाता है तथापि यह विचारणीय है कि अश्वपद और उस के पर्यायवाची सर्वत्र ही 'घोड़े' के वाचक हैं, अथवा किसी अन्य

अथ के । यदि अ य अथ होते हैं ता क्या वे घोड़े को लक्षणा से सगत होते हैं अथवा उस के बिना भी प्राप्त हो जाते हैं । 'अश्व' के स्वतन्त्र प्रयोग का विश्लेषण यह बताता है कि इस के २०५ प्रयोगों में से ११४ आगिरसों के, २५ मित्रावरुणा के, १६ आत्रेयों के, २३ विश्वामित्र के, ७ मरानि के, ३ वरुण के और १४ विभिन्न ऋषियों के हैं । इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अश्व' सब युगों में प्रिय नहीं था । वैसे भी भारत में दैज, घोड़ों से १२० गुना अधिक मिलते हैं । अश्व और उस के त्रिष का उपलब्ध न होना कोई आश्चर्य नहीं । ऋग्वेद में भी अश्व देवताओं का वाहन नहीं है, जहाँ मालूम पड़ता है वहाँ अर्थात्तर या भावान्तर सुस्पष्ट लक्षित होता है ।

२८—अपि च सिधु घोड़ों का प्रदेश है । घाड़े का एक नाम सैन्धव भी है । इस कारण यह कल्पनातीत है कि सिधु घाटी के लोग घोड़ों का प्रयोग न करते हों । वैसे भी इन अवशेषों में घोड़े का भी एक अवशेष ऊपर के स्तर पर मिला है २८।

२९—सिधु घाटी का शिव वैदिक त्र्यम्बक = रुद्र का पिल्लो विकास है २९ । वैदिक रुद्र का भौतिक पक्ष नारिकेल के रूपकौमक वर्णन के अनुरूप है और उस में पौराणिक शिव के लक्षण पर्याप्त मिलते हैं । अतः शिव को अनाय मानना उचित नहीं । यद्यपि ऋग्वेद में मूर्तियों की सत्ता का कोई वर्णन नहीं है, तो भी 'प्रतिमा' पद की सत्ता से

२८—यह अवशेष १ फीट १० इंच नीचे मिला है । देखा सरजान मार्शल, मोहन जो दही सिविलीशन माग २ पृ० ६५३—४ ।

२९—देखो मुषीर कुमार गुप्त, कोकोनट (त्र्यम्बक इन दो ऋग्वेद) इज दी ओरिजन ऑफ शिव फल्ट, आइओका० (स०) १९४८ ।

शत होता है कि कुछ मूर्तियाँ-खिलोने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक वर्णन कुमार-देष्णा पद से भी यही भाव निकलता है। सिंधु घाटी की लिङ्गपूजा भा वैदिक रुद्र = नारिकेल का ही विरचित रूप है ३०।

३०—सिंधु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड के सदृश स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सभ्यता की प्राग्वैदिक सिद्ध नही करता है। आज भी प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

ज्योतिषविषयक

३१—श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण से एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय वृत्तिकाएँ प्राचीन दिशा में ही उदय होती थीं, परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालान् स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचीनतर हैं। दोनों के निमाण के लिये २५०-२५० वर्ष गन कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिश्नदेवा पद को विद्वाना ने लिङ्गपूजको का निर्देशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाव अब्रह्मचारी लेते हैं। सीएसडी० पृ० २२८-२३३ भी देखें।

३१—एच० आर मण्डल के वर्ग २ विभाग बी मकान XI कमरा स० ८५ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान।

३२—डा० गोरखप्रसाद भारताय ज्योतिष का इतिहास पृ० ५० पाटि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्होंने २५०० ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—५० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है—अदितियुग, मृगशिरायुग, कृत्तिकायुग और अन्तिम युग। अन्तिम युग वेदांग ज्योतिष की रचना (१४०० ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा। वेदांग-ज्योतिष में भविष्य के आदि में सूर्य और चन्द्रमा के उत्तर को ओर घूमने का वर्णन आया है। यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी। यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ। यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ श्रौत, स्मार्त्त आदि रचे गये। कृत्तिकायुग इस से पूर्व रहा। इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्प्रात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। शतयज्ञब्राह्मण के उपोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतयज्ञब्राह्मण का निर्माण हो चुका था। इस से पूर्व वसन्तसम्प्रात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे। इस काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गये। इस मृगशिरा युग से भा पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्प्रात का उल्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा। इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में संकलित किए गए। जैकोबी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० में अधिक पहले जाग उचित नहीं समझते हैं। श्री दीनानाथ शारङ्ग जुलेट ने भा अपने दृग-संज्ञा ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल थाप स तीन लाख वर्ष पूर्व माना है। आ पा० सा० सेनगुप्त ने अत्रि का काल २६ जुलाई ३६२८ ई० पू० और इन्द्र के मयवा बनने का काल ४१७० ई० पू० निर्धारित किया है। श्री शार० दे० प्रभु ऋग्वेद की

१०,००० ई० पृ० म और चांडेर १५,००० ई० पू० के पहले रखते हैं ।

३३—श्री कथ, विश्वरनि ज और वे० सी० चटोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाण्यक नहीं मानते हैं । उन का कहना है कि ज्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से काम चिना गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अप्रत्याकृत सरल अर्थ किए जा सकते हैं । अतः व इन ज्योतिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुनः पराक्षण आवश्यक समझते ।

भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अत्रिनाथचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों—समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद—हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं ।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वसुतत्सम्पातों का एक चक्र २१,००० वर्षों में पूर्ण होता है, जिस के परचात बड़ा भयकर शीत युग या हिम युग (ग्लेशियल युग) आता है । इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था । ऋग्वेद (२। १२, १७५, १। ३०। १, १। १३। ४ आदि) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है । आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की सत्ता मानी है । ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है । श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ विषयक ऋग्वेद में वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

६,००० २० ५० रक्खा है। वैदिक सस्कृति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमो ने इस के स्थान पर २४०,००० स ६, ००, ००, ००, ००० ई० पू० काल दिया है।

३६—वैदिक साहित्य के प्राग्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यत विद्वानों को बड़ा सकोच होता है। इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनाएँ उपस्थित करता। इस सशय की निवृत्त आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपञ्जरो से स्वतः हो जाता है।

३७

३७—एक युक्ति यह भी दी जाता है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है। अतः जिस काल में वेद का रक्खा जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक सस्कृति की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नही माना जा सकता। परन्तु सब देशों का मानविक और बौद्धिक विकास एक ही धारा में एक ही गति से नहीं होता है। आज भी तो मुख्य और अधमुख्य जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः यह सिद्धांत उचित नहीं।

निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े भारी भेद हैं। अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम सामा ही निधारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नही हो सकता। इस से अधिक कहना सम्भव नहीं। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव करके और उन्हें

सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्माण के विवाद को समाप्त कर दिया हो सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विश्वास

३६—परमारा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अगिस्त द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निःश्वास के समान प्रकारा किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्होंने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार की अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं। ३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि त्रियात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं। ३५

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋभाभू०—वेदोत्पत्तिविषय। सप्र०—११। १३०—१३३। इन में उद्धृत प्रमाण भा देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धान्तविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और श्री एम० मोनियर विलियम्स ने अपनी रचना—‘इण्डियन विज्डम’,

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरवृत्त मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब भारतीय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो वे अपने साथ एक धर्म लाए थे जिसमें देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तियाँ थीं जिन को पुरुषाधार में वर्णित किया गया है। उन में से कुछ देवता जैसे धी, मायारोषय काल व हैं, और अन्य, जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र भारत में—ईरानी काल में हैं। ये अपने साथ अग्नि और सोम की पूजा भी लाए। जैसा ऋग्वेद और अथर्ववेद की तुलना से सुस्पष्ट हो जाता है। इन ऋषियों को यहुवध छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी शात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य यहि (यज्ञवेदी पर विद्यमान घास) पर रक्ते हुए सोम रस और तैपाप हुए धी की अग्नि में आहुतियाँ देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारत में आर्यों के आक्रमण के प्राचीनतम काल में प्राप्त और ऋग्वेदसंहिता में सुगन्धित सूक्त सामान्यतः ऋषियों ने कुलों में पैतृक परंपरा से रचे गए हैं। इन को ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुगन्धित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को द्वेम्बवद्ध नहीं किया गया। वर्यों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इस में कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। श्री मैकडोनल

१८६३ ई० पृ० २—३ में किया है और इन में विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन ने वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अदृष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के सम्यक् आर्यसमाजियों की सुत्तियाँ पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती हैं।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणकाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर त्वरसन्धि के नियम लगाए जिस के कारण कुछ स्थलों पर छन्दाभंग हो गया है। इस प्रकार छन्द-काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में सकलित हुए ३६।

४३—इस मत की पुष्टि मन्त्रों के अपने लेखों में भी होती है। वर्षों पर अनक बार मन्त्रकार, मन्त्रवृत् प्रादि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र का रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्य स ऋषिः१ साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणी ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हों ३७। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी कथन आया है ३८।

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं ३९। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। बहुत से

३६—देखो मे०—वैरा० भूमिका, तथा वैदिक साहित्य के इतिहास-२४

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद, सूरजभान, ऋग्वेद के बनाने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—मुधेर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का-धर्म में सङ्कलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में बहुत से ऋषिनामों के निर्वचन और अनेकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्रह्म को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परस्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वेदमन्त्रार्थ' का भी स्रोतक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में कण्व आदि को व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अवशेष माधवभट्ट के कण्वान्तः के भाष्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में दैरिभाषिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४५—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। ये पद उन के अर्थों को बताने वाली सहाय्य ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप विस्मृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विकासवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना, बुद्धिमत्त्व नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को जानने में समर्थ हो या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखो—मुर्षीर कुमार गुप्त, सयर्स ऑफ़ दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलोसोफी (और उस का हिन्दी अनुवाद), बेमाप० ४७८—१२४ ५।१२—२४, १७।२८—६६ आदि।

४१—सीएसडी० में ओरिजन एण्ड ऑरिगिनिटी ऑफ़ दी हिंज ऑफ़ दी ऋग्वेद देखें।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वदमन्त्रों की रचना और सम्मेलन के शम्र बाद हा उन का सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप के सुरक्षित रक्खा गया ।

४७—वद का कण्ठस्थ करना सरल काम नर था, पर तु इस को प्राचीन काल म अनिवार्य किया गया । इसी स आज तक वद सुरक्षित चला आ रहा है । यह परम्परा अब चलाय हो रही है जिस से वेद की अक्षररणा रक्षा को आधान पहुचना स्वाभाविक है । हस्तलेखा और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे का भूलें रह जाती हैं, पर तु कण्ठस्थ करने वालों में यह दोष नहीं रहता है । यथाप दुष्ट मनुष्य वहाँ भी बिनार उ प न कर सकता है, पर तु अन्य वौदकों का उस पर अक्रुश रहता है ।

४८—इस क साथ ही कुछ पाठों की रचना का गड । इन में सब म पहला पदपाठ कहलाता है । पदपाठ म सब पदों को अलग अलग स्वतन्त्र रूप म पढा गया है, प्रत्यक्ष पदों के आगे हात और समास के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रज्ञात प्रत्यय आदि के बाच म अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । इस वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है । यह विशेषता अन्य पाठों म उपलब्ध नहीं । आनकल शाकल्य का पदपाठ ही सबत्र उपलब्ध होता है । रावण का भी पदपाठ मिला है । गार्ग्य क सामवद के पदपाठ में लगभग सभा पदों में अवग्रह लगाया गया है यथा मिऽवम् । अऽय । अन्ऽये । च द्रऽमम । सुऽऊर्यस्य ४५ । ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं । अतिम

४९—भगवद्गुप्त, वैदक बाष्पय का हातहास, भाग २ (२), प्रथम सस्करण से साभार सगृहात ।

पदपाठ म्वा० द्या० २ मरम्बती का मिलता है । यह शाकल्य के पदपाठ के समान है परन्तु उसमें अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३ । भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ में अपना मतभेद प्रकाशित किया है । ऋग्वेद में छै म २ ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ वहाँ मिलता है । उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है ।

४६—इस के पश्चात् क्रमपाठ रनाया गया । इस में पदपाठ का प्रत्येक पद का गणना जाता है—अपने में पहले और अपने से आगे के पद के साथ—क ख, खग, गघ । यह पदपाठ के समान प्राचान है । इस में पश्चात् चटापाठ का रचना का गढ़ । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पढ़ा जाता है—कख, खक, कख, खग, गख, खग, गघ, घग, गघ । इस की चरम सीमा घनपाठ में मिलती है । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों का उलटा और तीन पदों का मिलता कर सीधा और उलटा भी पढ़ा जाता है । उस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि ।

४०—प्रातःशास्त्रों में शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का विवरण मिलता है । इन में अरना अपनी संहिताओं का पदपाठ भी मिलता है । ऋग्वेद का प्रातिशाख्य शीनक की प्रणीत है ।

४३—देव्या वभा० १६, सोएसडा०—दी पदपाठ और दी ऋग्वेद ऐज़ गिवन बाइ दयानन्द ।

४४—ऋ० ७।५६।१०, १०।२०।१ २०।१० १६०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य ईह प्रचित मानते थे । परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अथ एस समझे हैं । इन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता है । वभा० ६ ।

५१—अनुक्रमणियों में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रसंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बंधित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक के गृह्यदेवता को भी इसी श्रेणी का कहना उचित होगा।

ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों का इस प्रामाणिकता के साथ सुगन्धित रखा गया है कि इतने वर्षों में अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आने पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहाँ भी ग्रन्थों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—इतना शाने पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाड़े ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थल एकत्रित किए हैं। प० विश्वबन्धु ने अपने बम्बई प्राच्यसम्मेलन के वैदिक विभाग के सभापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एन्टलर तो समस्त वेदमन्त्रों को विज्ञान मान कर उन का मूल पाठ बनाने में सलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहा किमा है कि जहाँ वे अर्थ का आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसीटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण अव० १।१।४३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने समोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है। देखो सुधीर कुमार गुप्त, एन्थू इण्टर-प्रीटेशन ओफ़ अव० १।१।४।

ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

५४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं । यदि इन में प्रष्टम मण्डल में प्रातः ग्यारह बालस्वित्य सूक्तों को भां जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १०२८ हो जाते हैं । इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं । इस प्रकार माना यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है । सर म छोट सूक्त में एक मन्त्र और सद से बड़े में ५८ मन्त्र हैं । अकल ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का ।

५५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है । पहला अष्टक विभाग है । यह अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचा है और पूर्णतः यान्त्रिक है । इस में समस्त मन्त्रों को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है । वे सर लगभग बराबर ही हैं । प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में पाँच या छह मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं । स्वाध्याय और प्रवचन का हाट से यह विभाजन विशेष उपयोगी है ।

५६—दूसरे विभाजन में समस्त मन्त्रों का दस मण्डलों या खण्डों (मै०—मन्त्रों श०—चन्द्रों) में बाँटा है । प्रत्येक मण्डल के सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों का संख्या और सूक्तों में मन्त्रों का संख्या विभिन्न है, इस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है । यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है । इस से ऋग्वेद के मूल सव्यभाज्य का परिचय मिलता है । उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है । अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है ।

ऋग्वेद की संघटना

५७ प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वेद के मन्त्रा को ही नहीं प्रत्युत चारों महिताओं के मन्त्रा को एक ही समय में ईश्वर में प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वेद समन्वित हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापय नहीं है।

५८ विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वेद को विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ मानने ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों की रचना में पौर्वापय रहा होगा। इस की पुष्टि सर्वानुक्रमणियाँ में पदों वैदिक ऋषियों की वंशावलि में होती है। वहाँ एक ऋषि की मन्त्र पुत्र पौत्र प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९ वंशमण्डल—इस आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१ मूल भाग—यह ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस में मण्डल २ में ७ आते हैं। २ अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १, ८, ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वरूप में एक समान हैं। दोनों परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वंश के ऋषियों की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी महिता के रूप में सुरक्षित रखने रहे।

६० इस परम्परा की पुष्टि अन्तर्माक्षिया—सूक्तों में वर्णित ऋषिनामों और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवों में होती है। इन वंशमण्डलों में संघटना एक जैसी है—इन में से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओं के सूक्तों के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १, ८ और १० में यह विनियोजन नहीं मिलती है। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वंशों के ऋषियों की रचनाएँ हैं और वे किसी एक एक वंश के ऋषियों द्वारा नहीं रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलों से इस लिए विशिष्ट है कि इस

में समस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बनाये गये हैं।

६१ वशमण्डलो में सूक्ता का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई संख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना को ध्यान में रखा जाये तो वशमण्डला का क्रम बढ़ती हुई सूक्तसंख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वशमण्डला की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार थे जो पीछे की मिलावटों से आधुनिक रूप को प्राप्त हो गये।

६२ अर्धाचीन मण्डल—मूल मण्डला के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डला में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अलग-अलग ऋषि की रचना हैं। इस भाग में वशमण्डलों की अन्त मघटना का अपनाया गया है।

६३ मण्डल ८ प्रमुख रूप से वण्व वंशजा की रचना होने से वशमण्डला के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होती है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसंख्या सप्तम मण्डल से कम है। इस से प्रतीत होता है कि यह वशमण्डला के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४ प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १-५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्ता के रचयिता वण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

है। उन का प्रिय छंद प्रगाथ भी यहा उपलब्ध हाता है। दाना संग्रहा म बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोना सूक्तममुदाया में कोई-न-कोई भद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नहा दिखाया जा सका है कि य दोना मूल भाग के आदि और अन्त में जोड़ जा कर अलग-अलग कैसे हो गय।

६५ पहले आठ मण्डला के एक सूत्र में वंघ जान पर मण्डल ९ भी जोड़ दिया गया। इस में समस्त सूक्त पावमान संग्र के हैं। वगमण्डलो में सोम का एक भी सूक्त नहीं है। प्रथम और अष्टम दोना मण्डला म मिला कर सोम देवता के सामांय पक्ष के वणन करनवागे केवल तीन ही सूक्त पाय जाते ह। मण्डल ९ के सूक्ता के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वगमण्डला के क्यों कि उस में वगमण्डलो के ऋषिया के प्रिय ध्रुवक मिलते हैं। अत यह माना जा सकता है कि प्रथम मे अष्टम तक के सब मण्डला मे पवमान सोम के समस्त मात्र निकाल कर मण्डल ९ म १-८ मण्डला की सहिता के अन्त म रख दिय गय। इस प्रकार यह उदगाता के लिए एक पथक सहिता बन गयी। णप भाग होता मे सम्बन्धित रह गया।

६६ मण्डल ९ की गौली और सूक्ता में गूढ़ आख्यायिक निर्देशा मे ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठा के पीछ की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतन ही प्राचीन हों सकत हैं जितना भारत ईराना काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७ इस मण्डल को दो भागा में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १-६०) म सूक्ता का सवलन मात्रा की घटती मख्या क अनुमार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मात्र है और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१-११४) म यह क्रम नहीं मिलता है। इस म बहुत लम्ब-लम्ब सूक्त भी हैं यथा—एक म ४८ और दूसरे में ५८ मात्र है। दाना भागा में छंद वा भी भद है। प्रथम भाग में केवल चार मात्रा

को छाड़ कर शेष सब गायत्री छन्द में हैं, दूसरे भाग में अथ छन्दा—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८ दशम मण्डल सब से अन्त में जोड़ा गया। इसकी भाषा और विषयों में ज्ञात जाना है कि यह शेष मण्डल में पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डल के ऋषियों से परिचित हैं। इस के सहिता के अन्त में हाने और सूक्ता की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्ता के बराबर (अथान्-१९१) होने से यह मुख्यतः है कि यह महिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्ता की रचना अनेकों ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वही हैं जो अन्य मण्डल में भी आये हैं, परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्ता के सम्बन्ध में किसी मूल्य का नहीं है।

६९ दशम मण्डल का स्वरूप सामान्यतः अर्वाचीन होने पर भी इस में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डलों के। इन सूक्ता का दशम मण्डल में इस लिए स्थान मिला हुआ संभव है कि शेष मण्डलों के संकलन के समय वे किसी कारण से उन में सम्मिलित न किये जा सके।

७० दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूप और पदों का प्रयोग क्षीण हुआ रहा है और नये पद और अर्थों का विकास हुआ है।

७१ विषय की दृष्टि से दशम मण्डल में अमृत भावा दासनिव विवचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित जादू-टाने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख हैं।

७२ परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये युक्तियाँ पूर्णतः सबल नहीं। इन का प्रमुख आधार मवानुक्रमणियों में वर्णित मन्त्रों से सम्बन्धित और बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों का उन का रक्षयिता मानना है। यह मान्यता निर्भ्रान्त और निर्विवाद नहीं। ये ऋषिनाम रक्षयिताओं के

नहीं हैं प्रत्युत उन उन सूक्तों के अर्थों की प्रकाशक मझाएँ हैं।^१ अब ऋषि और उन के वंश ही नहीं रहे तब वाममण्डला और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों के अनुसार मण्डलों के पौवापय या सूक्तों के वर्गीकरण की कल्पना का प्रसंग ही नहीं रहता।

७३ वाममण्डला में और अन्य मण्डला में देवताओं के सूक्तवर्गों में भेद भी आपातन ही है। ऋग्वेद का देवतावाद एक मत का विस्तार है। वहाँ अग्नि और इन्द्र तथा अन्य देवताओं में मूलतः भेद नहीं है। बाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदैविक) से अग्नि एक अग्नि नहीं वह विविध विषयों की समान गुणों के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि पदों की स्थिति है।^२ वैसे भी देवताओं के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद हैं। मण्डल २ में सूक्त ३ में कई देवताओं के मन्त्र हैं। इसी प्रकार ऋ० ३।२ ब्रह्मन्तर अग्नि का ३।४८ आदि बहुदेवताक है। ऋ ३।३३ इन्द्रसूक्त नहीं है। ऋ ४।३।१ इन्द्र का है अग्नि का नहीं ऋ ४।१८।१ ५-७ वामदेव के हैं इन्द्र के नहीं। ऐसी ही अव्यवस्था मण्डल ५ ६ और ७ में पायी जाती है।

७४ सूक्तों के सकलन में वाममण्डला में भी सबत्र एक ना नियम नहीं है। उदाहरण के लिए ऋ ३।२७-२९ के अग्निवर्गीय सूक्तों में मन्त्रमध्या

४६ देखो सुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वेद के ऋषि और उन का दान वेदवाणी ७।१-२ विकृतिवेदाङ्क १९५८ सीयम औफ दी ऋग्वेद देयर मैनेज एण्ड फिलोसोफी तथा वेभाग ० ४५ ६ १७ के ऋषि विषयक सन्दर्भ। इस से ही श्री मैकडोनल आदि विद्वानों के सर्वानुक्रमणियों के ऋषिवर्णन पर अविश्वास का बाद भी निराधार हो जाता है। ४७ इस देवतावाद के वर्णन के लिए देखो सुधीर कुमार गुप्त महर्षि दयानन्द और देवता शब्द का अर्थ, ऋग्वेद का धर्म, वेभाग ० ४५ ६ १७ के देवताविषयक अनुच्छेद।

क्रम से १५,६ और १६ है। ऋ ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इन नियम के अपवाद हैं। स्वयं मण्डलों का क्रम भी मन्त्रमह्या के अनुसार नहीं है। यथा मण्डल २ में ४३, ३ में ६२, ४ में ५८, ५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५ मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलों के सोमसूक्तों का मग्न मानना और माघ ही इसे पहले आठ मण्डलों के पीछे रखा हुआ मानना परम्परा विरोधी विचार है।

७६. दशम मण्डल और वशमण्डलों में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विनिष्ट भावों की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वद्गण के सामने है। इस रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तों की टिप्पणियों से यह मुख्यतः हो जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं। ऋ ४।४२।४, ६ आदि में ऋ १०।१२५ के वाक्सूक्त की शैली ही अपनायी गयी है। प्रनीयमान जादू-टोन्टों आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७ भाषा के आकार पर पौर्वापर्य निश्चय करना सम्भव नहीं। कतिपय व्याकरण के रूप जो दशम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं वशमण्डलों में भी मिलते हैं। पदप्रयोग विषयानुसूल करने में ही अर्थ-सम्पत्ति मिट्ट होती है।

७८. अतः ऋग्वेद में मण्डलों या उन के अंशों में पौर्वापर्य का निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना सम्भव नहीं। हो सकता है समस्त महिमा का सकलन किसी एक हो व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों से सूक्तों की संप्रतिष्ठा की हो।

ऋग्वेद की भाषा

७९. ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक मस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमा में जकड़ी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इस में लौकिक मस्कृत की अपेक्षा रूपभङ्गत् बहुत अधिक है। नञाआ और सर्वनामा के विभक्तियों में रूपा की प्रचुरता है। इस में शतृ गानच् और क्तवान् पदों के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदा में यह रूप समृद्धि सविशेष लक्षित होती है क्या कि ऋग्वेद में लेट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में विलुप्त भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लाङभाषा में केवल एक तुमुन् ही शेष बचा है।

८०. ऋग्वेद की भाषा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर संगीतात्मक है और वण्ठध्वनि के आरोहःपरोह पर निर्भर है। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। वहाँ स्वर अब परिमाणात्मक रह गया है ध्वन्यात्मक नहीं है। इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है जब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दों का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१. ऋग्वेद की सन्धि लौकिक सन्धि में अधिक स्वाभाविक और प्राचीनतर है। पदान्त न और च छ या न, थ के बीच में न् या म् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्त ए और ओ के पञ्चान् ऋग्वेद में 'अ' बहुधा होता रहता है पूर्वरूप नहीं होता है। लोक में यह अ नियमित रूप से पदान्त ए, ओ में एरूप हो जाता है।

ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२. सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्यात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादों और पाँच पादों के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

छिपदा भी माना गया है यथा ऋ ५।२४।१। परन्तु एत स्थाना पर दा-न्दा मन्त्रा को मिला कर एकत्रन भी माना गया है। ऋग्वेद में और आग सवत्र पाद (१०—एक चौथाई भाग) छन्दा का इकाइ है। इन पादों में बहुधा आठ ग्यारह या बारह वण (एक बार में वाला जान वाला स्वर या स्वरसहित व्यञ्जन) हान है। सामान्यतः मन्त्र के सब पाद एक समान होते हैं परन्तु कुछ विरल प्रयुक्त छन्दा म विभिन्न परिमाण के पादा का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह छन्दा का प्रयोग पाया जाता है। इनमें से सात छन्दा का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इनमें भी त्रिष्टुभ गायत्री और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वेद के लगभग दा तिहाई भाग म प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ में ग्यारह-ग्यारह वणों के चार पाद गायत्री में आठ आठ वणों के तीन पाद और जगता में बारह-बारह वणों के चार पाद हान हैं। प्रत्येक छन्द में चार चार वण वृद्धान से अथ छन्द बन जाता है। कई बार छन्दा म वण-संख्या कम पड़ जाता है। उस अवस्था में सन्धिच्छेद कर क अन्तरसंख्या पूरी का जाता है। यथा विष्णानु क वीयाणि प्र धाचम में वीयाणि का वीरि आणि पठन म छन्द का पूर्ति का जाता है। ऋग्वेदप्रानि शास्त्र के मत में अथ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादा का अंग-पाछ कर क मन्त्रा के छन्दा को बदला भी जा सकता है।^१

८३ वैदिक छन्दा में परिमाणात्मक लय पायो जाता है जिस म लघु और गुरु का बारी-बारा से प्रयोग किया गया है। पाद क अन्तिम चार या पांच वणों का क्रम नियमित है। ग्यारह बारह तथा अधिक वणों वाला पादा

४८ इस कथन में छन्दा के अवान्तर भन्ना प्रजापत्य दैव और तामुर छन्दा के विभागा का सम्मिश्रित नहा किया गया है। प्रातिशास्य क एवविध छन्दाविस्तार का आधार मन्त्रा के अनकविध अथ है। इस विस्तार में छन्दा नामा को वेदाथनापक सनाएँ माना गया है। दत्ता वभाष० १०।९-३१। ४९ वही १०।१४।

में यति भी होती है। डा० मैक्डोनाल्ड का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवैस्ता के छन्दा और लौकिक सस्वृत के छन्दा के बीच के ठहरत है क्या कि अवैस्ता में केवल वणसख्या होती है और लौकिक सस्वृत में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छन्दा में वैदिक छन्दा की-सी अर्थानुमारी योजना का अभाव पाया जाता है। अतिच्छन्दस विच्छन्दस भूरिक् विराट् और निचूत् छन्दों के लक्षणा से ज्ञात होता है कि परम्परा वैदिक छन्दा में वणसख्या पर ही विशेष बल देती है वणपरिमाण पर नहीं।

८४ सामान्यत एक सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई बार सूक्तममाप्ति पर एक मन्त्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्ता में दो या तीन-तीन मन्त्रों के जोड़े भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न-भिन्न छन्दों के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाप कहते हैं। मण्डल ८ में इन का बाहुल्य है। तीन मन्त्रों के जोड़ा—तृचा में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुधा यह छन्द गायत्री हाता है।

ऋग्वेद का धर्म

८५ आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रमान है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं में की गई प्रायनाएँ हैं। इन के साथ सोम और घी की आहुतियाँ देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवता-वादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्ता में विश्वदेवतावादी (विराट्वादी) लक्षित होता है।

८६ ऋग्वेद में देवताओं की संख्या सामान्यत ३३ बतायी गयी है। इन्हें तीन क्षेत्रों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में ग्यारह ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि सप्त देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८७ देवताओं का जन्म भी हुआ है। उन का आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख आया है। कुछ देवताओं को अया की सतति बताया गया है। सोम पी कर अथवा अग्नि और सविता ने सोम पा कर देवता अमर बन हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मत्स्य मानव थे।

८८ देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उन के शरीर के अंग का बहुत वर्णन किया गया है। य अंग विविध प्राकृतिक द्रव्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन है। उदाहरण के लिए सूर्य की किरणें ही उस के हाथ हैं और अग्नि की ज्वालाएँ हा उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता विष्णु के रूप में वर्णित किये गए हैं। अग्नि और ब्रह्मपति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताये गये हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अय पशु चलाते हैं। इन चाहना से देवता आकाश में से हान हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध भी अन्न भोजन वकरिया और घ्राण्य पशुओं का मांस है। य वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती हैं। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिल्ली घास पर आ कर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक पद पश्याय सोमलता का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—नीमरा द्युलोक—स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे सोमरस से तृप्त हो कर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८९ देवताओं के गुण अनन्तविध हैं। इन में सबप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उन का शासन समस्त प्राणियों पर है। कोई उन के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आयु का मान करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

है। देवता दयालू हैं और मनुष्यों को समृद्धि देने हैं। केवल एक रद्र ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता मत्स्य हैं। किमी को धाखा नहीं देने हैं। वे सच्चे और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करते हैं।

९० देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वा का निराकरण नहीं किया गया है। अतः उन का स्वरूप अनिश्चित और व्यक्तित्व से विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणा से विभूषित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता सँ ही सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे के क्षेत्र में बाह्य हाते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणा से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेश्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक मूर्त में अदिनि और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति में तादात्म्य बताया गया है।

देवताओं का वर्गीकरण

९१ समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बाटा जा सकता है—१ स्थानीय, २ अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में द्यौ, वरुण मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विनी, उपस् और गन्धी आते हैं। इन्द्र, अग्नयन्, रद्र, भृगु, वायु, पर्जन्य और आप अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और सोम पृथिवीस्थानीय।

प्रमुख देवता

९२ ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेक मूर्तों के देवता हैं। वरुण ऋतु का देवता है। वह पापियों को अपने पाश में बाँधता है।

मिन मूय सवितृ और पूषन मूय के विभिन्न पक्ष हैं। उपस् उपाकाल की दबता है। यह प्रतिदिन आती है। पुरानी हाने हुए भी सदा नयी है। इस के आन पर यज्ञ हात है। यह मूय की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृत्र आदि राक्षसा का वध करता है और सात सिन्धुआ को मुक्त करता है। रुद्र मुखकारक भी है और पापिया को दण्ड देने वाला भी। यही आगे चल कर पौराणिक शिव में परिवर्तित हो गया है। मभवत इस के वर्णना के मूल में त्र्यम्बक - नारिकेल का पुरुषविध रूप भी है।^{१३} अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप में वर्णित हुआ है। यह विद्युत् और मूय के रूप में भी आती है। यह हविया को देवताआ के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। साम एक लम्बा का रस है। जिसे पी कर इन्द्र अमुरा का जोतता है और देवता अमर हो जाते हैं।

अल्पस्तुत देवता

१३ कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। त्रित विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत ईरानी काल का है। मातरिस्वा स्वाहा से मनुष्या के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताआ में सिन्धु विपास और शतुद्री आदि नदियाँ आती हैं। इन में सरस्वती सर्वप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के समस्त वर्णना में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहा हुआ है।

अमूर्त देवता

१४ विचारा के विकास के साथ कतिपय अमूर्त देवताआ का ना कल्पना की गयी। ऐसे कुछ देवताओं प्रमुख देवताआ के विशेषण मात्र हैं जो कालांतर में देवता के रूप में कल्पित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

५० देखो सुधीरकुमार गुप्त काकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) ब्रज दी ओरिजन ऑफ शिव कल्ट, आइआका० (म) १९४८।

द्युलोक, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधातृ, धर्तृ, ऋतृ और नेतृ का वर्णन अल्पात्यल्प है। त्वष्टा का अनेक बार वर्णन हुआ है, परन्तु उस का कोई सूक्त नहीं है। वह देवशिखी है। उस ने इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह सोम का रक्षक और सरण्यु का पिता है। प्रजापति समार का रक्षयिता है। विश्वकर्मन और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'वस्मै देवाय हविषा विधेम—विम देव की हम हवि से मेवा करे' से हिरण्यगर्भ के विशेषण में देवता रूप में बिकसित होने का क्रम लक्षित होता है। वृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन दाना भागा में पाया जाता है।

९५ अमूर्त देवताओं के दूसरे वर्ग में भाववाचक सज्ञाओं में बने देवता आते हैं। इन में मन्यु 'मोध', श्रद्धा, अनुमति '(देवा की) अनुकूलता', अरमति 'भक्ति', मूनीता, अमुनीति और निरुद्धति आते हैं। मन्यु के दो सूक्त हैं और श्रद्धा का एक।

देवियाँ

९६ एक अन्य अमूर्त देवता अदिति की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इन का प्रमुख कर्म भौतिक यन्त्रणाओं और नैतिक पापों से मुक्त करना है। वह आदित्या की जननी है। अदिति का केवल तीन ही बार नाम आया है।

९७ ऋग्वेद में देवियों का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इन के दो सूक्त हैं। वाक् का एक सूक्त है। पृथिवी, रात्री और अरण्यानी के भी एक-एक सूक्त हैं। देवताओं की पत्नियों अम्नायी, इन्द्राणी और वरुणाणी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

युग्म देवता

९८ ऋग्वेद के धर्म की एक विघटिता युग्म देवता है। य द्वा द्व समाप्त स व्यक्त किय गय है। दाना ही देवतानाम द्विचन में प्रयुक्त होते ह और एक दूसरे के वाचक ह। इन में सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। धावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जाइ भायारापीय युग का है।

संघ देवता

९९ देवताओं के कुछ अनिश्चित स समूह भा मिलते हैं। इन का किसी विघटित देवता से सम्बन्ध होता है। मरुता का सम्बन्ध इन्द्र स है। इन की संख्या सर्वाधिक है। आदित्या का नायक वर्ण है। य सदैव अदिति के साथ वर्णित किय गय है। इन का संख्या सात है जा मातृण्ड का गिनकर आठ हो जाती है। एक मात्र में इन म स छह का नाम आया है—भिन्न अयमन भग वर्ण दक्ष अग। सम्भवत सूर्य सातवा था। वसुओं का न व्यक्तिस्व स्पष्ट है न उन की संख्या बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्व देवा—की स्तुति बहुत से सूत्रों में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओं का छोटा सा भाग होता है परन्तु अनेक बार इन की स्तुति अथ देवताओं यथा वसु और आदित्या के साथ की गयी है।

लघु देवता

१०० ऊँचे और प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छोटे देवता भी ह। इन में प्रमुख ऋभु है जिन के ग्यारह सूक्त हैं। य अपन कौण्ड स ही देवता बन है। इन्हा न त्वष्टा के एक चर्मस को चार बनाया। इन्हां न अपन माता पिता को पुन जवान बनाया। इन के इन दोनों जोर अथ तीन चर्मत्वारों के अनेकविध व्याख्यान दिय गय है।

१०१ ऋग्वेद में अप्सराआ का भी बहुधा उल्लेख मिलता है। य गंधर्वपत्निया हैं। य एक से अधिक है परन्तु नाम केवल उवसी का ही आया है। गंधर्व एक ही है जो अन्तरिक्ष में रहता है दिव्य सोम की रक्षा करता है और जलों से सम्बन्धित है।

रक्षक देवता

१०२ कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वास्ताष्पति घरा का देवता है। वह घर में सुप्रवेग का दाता रोगों को दूर करनेवाला रक्षक और समृद्धि देने वाला है। धत्रस्य पति पशु और घाड़ देता है और कुशलक्षम का स्वामी है। सीता से खता और समृद्ध कामनाएँ प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गयी है।

पाथिय वस्तु—देवता रूप में

१०३ प्रकृति के प्रमुख दृष्ट्या के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदार्थ भी देवता रूप में कल्पित किये गए हैं। इन में पर्वता को अय देवताआ या अय प्राकृतिक वस्तुआ के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियों का एक सूक्त है। य रोगों को दूर करती है। यन का वस्तुआ में मूष बहि द्वारों देवी प्रावाण उल्लाल और मुसल है। प्रावाण अमर अजर शलोक से भी अधिक समर्थ और राक्षसा तथा नाग के अपहन्ता है। वम इषु इषुधि धनुष और डाल की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

असुर

१०४ ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार के हैं—१ ऊँचे और शक्तिशाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर बहुत कम कहा गया है। दाम या दस्यु से इन्हें बहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यतः भारत के आदि निवासियों के माने जाते हैं। ऋग्वेद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप से एक देवता और एक असुर में ही होता है यथा इन्द्र और वृत्र का संग्राम। वृत्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उसकी माता दानु है। दूसरा शक्तिशाली अनुर वल है। यह गौआ की अपधा (गुफा बाण) का ही पुरुषविध रूप है। यह इस अपधा की रक्षा करता है। अगिरस आदि अपने सहायका के साथ इन्द्र इस बाड से गायों को निकालता है। इन्द्र के अथ गन्धु राक्षसा में से अबुद एक दुष्ट हिंसक पशु है। इन्द्र इस की गौआ को छीन लेता है। विवस्वत् ख्वष्टा का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। त्रित और इन्द्र इसे मार कर इस की गौओं को छान गेते हैं। स्वर्भानु मूय को निगलन वाला है। कुछ अथ दास भी हैं जिन्हें इन्द्र मारता है। राक्षसा का एक बग पणि इन्द्र का प्रमुख गन्धु है। इन्द्र सरमा (एक कुतिया) की सहायता से उन के स्थान को खोज कर उस में गौआ को छुड़ाता है।

१०५ दूसरे बग में पार्यिव राक्षस आते हैं। ये मनुष्या के गन्धु हैं। इन का सामान्य नाम राक्षस है। इन का वणन सामान्यतः किसी दैवता के साथ आता है। यह दैवता इन राक्षसा का वध करता है। यातु और यातु धान अनेक बार राक्षसा के साथ वर्णित हुए हैं। संभवतः ये गुप्तचर हैं। पिशाचा का ऋग्वेद में वणन विरल है।

१०६ लगभग तीस सूक्ता में देवताओं की स्तुति आदि से भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दर्जन सूक्तों में जादू और तांत्रिक क्रियाओं का वर्णन है। ये अधिकांश रूप में दशममण्डल तक ही सीमित हैं। इन के विषय गन्धुन (२।४२-४३) विषापनयन (१।१९१) रोग की निवृत्ति (१०।१६३) बच्चों के हिंसक राक्षस के नाश (१०।१६२) गन्धुआ के लिए दुर्भावना (१०।१६६) या मपत्नीमदन (१०।१४५) हैं। कुछ सूक्ता में आपुरक्षा (१०।५८ ६०) निद्रा लाना (५।५५) या सन्तति प्राप्त करना (१०।१८३) का वर्णन है। एक सूक्त (७।१०३) में मण्डूका की स्तुति है जो बपा के लिए की जाती है।

ऋषि दयानन्द का मत

१०७ इस के विपरीत ऋषि दयानन्द ने बड़े जोरदार शब्दा में इस बात की घोषणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है।^१ अपने वेदभाष्या में इन्होंने अग्नि^२ सविता^३ इन्द्र,^४ और वरुण^५ आदि पदा का परमात्मा अर्थ किया है। अपने भाष्या में आप ने कही भी यह भाव नहीं झलकने दिया है कि वेद में अग्नि देवता, सूर्य देवता, वर्षा देवता, आधी देवता आदि किन्हीं देवताओं की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूर्य का अर्थ क्रम से आग,^६ और सूरज,^७ अवश्य किया है परन्तु उन का अर्थ प्रकाश और गरमी पहुँचाने वाले आग और सूर्य ही हैं। मसार में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए।^८ उदाहरणतः भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में कल्लो में आग का प्रयोग अतुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है।^९ सूर्य की किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य और रोगों से मुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कल्लो आदि में प्रयोग समृद्ध बना देता है।^{१०}

५१ सत्यार्थ प्रकाश (कलकत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५४, ८३।
 ५२ ऋ० १।७।१। २, आदि। ५३ ऋ० १।२।८। ५४ ऋ० १।३।५।
 ५५ ऋ० १।२।३। ५६ ऋ० १।५।३। ५७ ऋ० १।२।३। ५८ ऋ० १।२।७। ८। ५९ ऋ० १।१।१, ७, ८, इत्यादि। ६० ऋ० १।२।६। इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अङ्क में पृ० ५, कालम ५ (नीचे) पर एक समाचार के अनुसार डा० प० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस में एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिकों ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है और प० जी ने स्वयं इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

निवेदन

१०८ ऊपर के लेखा से स्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि वेदा में अनका देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।^१ आचार्य मैक्समूलर के विचार में वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक (Henothestic) है।^२ उन के मत से यद्यपि ऋग्वेद में अनका देवताओं को मायता दा गयी है तो भी प्रत्येक रूप अन्या से स्वतंत्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रायना के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपन पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को सत्य परम और एकमात्र देवता (as a real divinity as supreme and absolute) के रूप में अनुभव किया जाता है।^३

१०९ प्रा० मकडानल इस विषयता का वैदिक कविता की अतिग योक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११० आपका यह बलान मानना पडा है कि वैदिक देवताओं का पुरपा कार परिच्छात्मक वणन और चरित्रगत व्यक्तित्व से हीन है। वे अभी किञ्चित् मात्र ही विकसित हुए हैं। उन के व्यावृतक गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति शक्ति परोपकारिता और बुद्धिमत्ता आदि बहुत से समान गुण पाये जाते हैं। अनका वार एक देवता की विषयताओं को दूसरे देवता में भी बताया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती है (उदाहरणाय देखो ऋ० ५।३।१)। अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणा की दृष्टि

६१ देखा गुरुत्त विद्यार्थी दी टर्मोनालीना आफ वेदाज एण्ड पूरा पियन स्वाय ५ ४९।

६२ लैक्चर आन दी साइन्स ओफ रिगीजियन प० १४१-१४२।

६३ एंगियट सस्कृत लिट्रचर पृ० ५३३।

में परम महत्त्वगाली देवता अग्नि के स्वरूप पृथ्वी पर भित्त भित्त अग्नियों के रूपों में उस की विविध अभिव्यक्तियों बिजली में प्राप्त अतिरिक्तस्थ अग्नि तथा सूर्य में प्राप्त दिव्य अग्नि उस के अग्र रूपा—जिन का वैदिक ऋषि पहेलियों में उल्लिखित करने की बड़ी रुचि रखने हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार से यही प्रतीति होती है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्ता के अनका वाक्या में पाया जाता है। ऐसे कथन बताने हैं कि ऋग्वेद काठ की समाप्ति तक ऋषियों के बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था। *

१११ श्री मैक्समूलर और श्री मैकडोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की सामालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक दूसरे से तादात्म्य है तथा उन में गुणा की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यव्यक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। वही शक्ति ऋषियों की भिन्न भिन्न रुचियों तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोनों विद्वानों ने समझ लिया है। अतः उन्होंने घोषणा की है कि देवताओं की इस सारभूत एकता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता का ऋषियों द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्तों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

११२ ऋ० १।१६४ का दगन अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में दीघतमा औचध्य न ऋ० १०।११४ का अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में वैरूप सघ्न न ऋ० ५।३।१ का भूम की तीसरी पीढ़ी में वसुधृत आत्रय न किया था। भूम का पुत्र अत्रि अनक द्वारा अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में भरद्वाज का समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा का समकालीन ही हो। इस

प्रकार वसुधुत अग्निरा की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अतः समस्त देवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रख्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र बहुत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के सम-कालीन हैं जिन में प्राकृतिक दृश्या के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। अतः बंदिक धर्म न बहुदेवतावादी (Polytheistic) हो सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न तात्कालिक देवतावादी (Henotheistic)। इस की एकेश्वरवादिता।

‘मर्वे वेदा यत्तदमामनन्ति तपामि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संप्रद्रेण श्रीम्योमित्येतत् ॥’

आदि उपनिषद् वाक्या, वेदान्त सूत्र (१ १ ४) तथा अन्य ग्रन्था में जोरदार शब्दा में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा के ही भिन्न भिन्न रूप हैं—इस तथ्य के घोषक मन्त्र चारा संहिताओं में बिखरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में विश्वामित्र के पिता गांधी कौशिक द्वारा दृष्ट ४० ३।२०।३, अग्निरा की चपावी पीढ़ी के भृगु के गाद लिये

६५ ऋषिप० २।१५, स्वतास्वतराप० ५।६ भी देखें।

६६ ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विषय ‘विद्वान् कथं वर्तते’ दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहाँ पर परमात्मा का वर्णन है। ‘देव’ पद का हिन्दी अनुवाद अनुद्ध है। ‘पृष्टवन्धा के मस्कृत और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मेरी प्रवृत्ति भावार्थ की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। प्रकरण के उपरोक्ती पद ‘भूरीणि अमृतस्य नाम’ है।

६७ इस मन्त्र का दयानन्द का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद ब्रिष्पिय आदि आधुनिक विद्वाना का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पोते गृत्तमद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३^१, य० ३२।१, और अवे० १३।४ (१)।४, ५ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दाना मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३ प्रो० बेट्टी हाइमेन्न का विचार है कि प्रारम्भिक विचारक की दृष्टि को पदार्थों की एकता की अपेक्षा उन की विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। वह प्राकृतिक दृश्यों में परम सत्ता का अनुमान नहीं कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विकसित हो चुका है तो भी उस में एक से अधिक देवता हैं। तथाकथित ऋग्वेदीय एकेश्वरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६४।४६ में "दो, बल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप से हमारे मन में इस शिक्षा के लिए एकेश्वरवादी परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर मशय उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहाँ पर देवता के किसी व्यक्तिगत रूप को नहीं वरन् नपुंसक सद् एवम् को वास्तविक आगर बनाया है। दूसरे हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुंसक) अनेक रूपों (बहुधा) में व्यक्त हुआ माना गया है। चाहे कुछ भी हो इसी कथन के द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की स्थिति में प्रारम्भिक एकेश्वरवाद की भावना व्यावर्तित हो जाती है।"

११४ भाषावैज्ञानिकों तथा भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यह माना है कि अपनी मातृभाषा के पदों को सीखने समय एक बालक पहले विषमता के स्थला का व्यावर्तन कर के भिन्न भिन्न पदार्थों के अन्तर्गत एकता के या समानता के सूत्रा को पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद को देख और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, सूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकारमान वस्तु को देखता है तब वह उन सब के समान गुण—चमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एक गाय, घाड़े या भैंस को

६८ ऐनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट अक स० २८, १९४७ कैथोनोथियिज्म एण्ड दानस्तुतिज।

देवता है नव वह उन के समान गुण चतुष्पादत्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५. इसी प्रकार मृत्ति के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, मूल्य और तारे आदि सभी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उस ने उन्हें नियत रूप से समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उस ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार यह समानता ही है विषमता नहीं जिस ने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उस के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सम्य और मस्कृत लोगों में भी जब दो पदार्थ किसी मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएँ तुरन्त ही उस के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव क्रम से पीछे आता है और आयाससाध्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में यह आयास मनुष्य की अध्यक्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का मप्रयास ज्ञान नहीं होता है। अतः तथाकथित मूल-एकेश्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रारम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदवादी मानव सम्यता और सस्कृति के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उस ने मूल-एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहु-देवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उस ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की मारभूत एकता को मालूम कर लिया था उस ने इस एकता के स्वरूप पर भी विचार कर लिया था। वह उसे न पुल्लिङ्ग कह सकता था न स्त्रीलिंग और न ही नपुमक लिंग। ऋ० १।१६४।४६ के 'सद् एवम्' में नपुमक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; श्वेताश्विनर उप० ४।३ और ५।१० में व्यक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को उस के अपने विचारों के अनुसार भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उस का भिन्न भिन्न ही वर्णन करते हैं । प्रो० हाइमेन को अनन्त रूपों में अभिव्यक्ति तथा भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न वर्णनों के परिच्छेदात्मक रूप को समझन में आति हुई है । मात्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नहीं है जैसी श्री हाइमेन न निकाली है । इस का यथाथ भाव यही है कि परमात्मा एक केवल एक ही है । य मन्य ही है आ उस को भिन्न रूपा म वर्णित करते हैं ।

११७ आधुनिक विद्वानों के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध म विचारों का आधार उन की यह कल्पना ही है कि ऋग्वेद काल म मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था । इस कल्पना न ही वेद और अथ ग्रन्थों की प्राचीन साहित्यिक परम्परा की प्रभत मांशों को ठुकराया है । यही कल्पना वदिक ग्रन्थों में एकान्तत अविद्यामान देवताओं के नामों के अथ में अग्नि और सविता आदि के ज्ञान के लिए उत्तरदायी है । अत इने निराधार होने का कारण त्यागना और दयानन्द के विचारों को यथाथ मान कर ग्रहण करना ही उचित है ।

ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

लौकिक सूक्त

११८ मुक्तिकल से कोई बीस सूक्तों में लौकिक (-धर्मेतर) सामग्री मिलती है। इन से भारत की प्राचीनतम संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पाँच सूक्त (१०।१४-१८) मृत्युविषयक हैं। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में शव के संस्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

संवादसूक्त

११९ ऋग्वेद में कतिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आये हैं। इनमें वस्ता दिव्य प्राणी हैं (४।६२, १०।५१-५२, ८६, १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पात्र हैं। पुरुरवस् और उर्वशी सूक्त (१०।९५) में उर्वशी के प्रेमी पुरुरवस् के आत्मगत विचार हैं। इस में उस कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में भाई-बहन माना जाता है।^१ ये संवादसूक्त आगे आने वाले नाटकों का प्रादुर्भाव कहे जा सकते हैं।^२

६९ दस० ने इस में नियोग का वर्णन मात्रा है। यमी उन के अनुसार यम की बहन नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७० देखो सुधीर कुमार गुप्त, संस्कृत साहित्य का मुवाय इतिहास, १०।

नीतिश्रुत

१२० य मर्या म चार है। एक (१०।३४) म एक जुआरी का जुआ खेलने से बिगड़ी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एक (९।११२) में मनुष्या की लक्ष्मी के पीछे दौड़ एक (१०।७१) म वाणी की प्रशंसा एक (१०।११७) म शुभ कर्मों की सराहना के चित्रण मिलते हैं।

पहेलियों

१२१ दो सूक्तों म पहेलिया हैं। एक (८।२९) में नामों को छिपा कर विभिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है। एक ५२ मंत्रों के सूक्त (१।१६४) में अन्तका समस्याएँ रखी गयी हैं जिन म से अधिकांश को डा० मैकडोनल सूत्र से सम्बन्धित बताते हैं। इन का भाषा रहस्यात्मक और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं और वृक्ष प्रकृति।

सृष्टिश्रुत

१२२ लगभग आध दर्जन सूक्तों म ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन है। नामदीय सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि में पहले सत और असत की सत्ता का निपट कर अपन सामर्थ्य से विद्यमान एक सत का वर्णन किया गया है। उसी में यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

दानस्तुतियों

१२३ कुछ सूक्त और मंत्रों म दानस्तुतिया हैं। य अध ऐतिहासिक है। इन से वैदिक ऋषिया और उन के आश्रयदाताओं की वणावलियों और कुछ जातियों के नामों का पता मिलता है। य अर्वाचीन है। इन में से अधिकांश प्रथम दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग म उपलब्ध हानी हैं।

भौगोलिक सामग्री

१२४ ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियाँ, विशेष रूप से नदी सूक्त में आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालने हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पंजाब और पाकिस्तान के पश्चिमाक्षर प्रान्ता के प्रदेश में रहते थे। वनस्पतियाँ और पशु-पक्षियों के निर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि मरू से परिचित थे। इस का उल्लेख चौबे, पाँचवें ओर दसवें मण्डल में एक एक बार आया है। नदी सूक्त में वर्णन पूव से पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा में प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत गी-१४ के अणुमन्त्र के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार किया जाए तो उस समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थे। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अध्येतव्य है।

ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से यह सुस्पष्ट होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जना में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एकरता की भावना प्रबल थी। वे यहाँ के निवासियों का यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनार्य दाम वण कहते थे।

१२७—परन्तु यह मन विचारणीय है। जैसा इस मंत्र में इन्द्रसूक्त में दिखाया गया है कृष्ण और दाम वर्ण पारिभाषिक पद है और सृष्टि से पूरे के "अन्धकार के शक्ति है। ऋग्वेद में दाम हूँ नहीं हूँ वे आपों के

समान स्तर के ही प्राणी है। अतः इस समस्या पर पुनः नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

सामाजिक अवस्था

१२८—यूक्ता में इधर उधर बिखरी हुई सामग्री में तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वस में पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधों का भी क्षमा मिलता है जिन में पशुओं की चाली प्रमुख थी। क्रोध लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ खलना भी था। वस्त्र में एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र हाते थे। ये भड़ की ऊन से बनाए जाने थे। बड़े नूपुर हार और बालियाँ पहनी जाती थी। लाग डाढ़ी-मछ रखते थे। कुछ उन्हें मुड़वाते भी थे। भोजन सामग्री में दूध, घी, अन्न, मत्स्य और फल प्रमुख थे। आधुनिक कनिषथ विद्वान् मानते हैं कि जब यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी तभी आप लोग मांस खाते थे। डा० मैकडोनल का विचार है कि सामान्यतः यह मांस गौ का होता था क्या कि यज्ञ में बैल की ही बलि विशेष रूप में दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नहीं। वेद में कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ निर्विवाद रूप में ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।^{१३} पशुयज्ञ आलंकारिक है।^{१४} हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—दो प्रकार की शराब भी बनाई जाती थी। सोम यज्ञ में

७२ देखी सुधीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मांस भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, खुरजा अधिवेशन (संक्षेप) तथा मीएमडी०, मीट ईटिंग इन दी ऋग्वेद।

७३ वेभाग० ६।

पिया जाता था परन्तु किमी अन्न से निकाली हुई शराब मुरा सामाय अवसरा पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत समीक्षणीय है। एक मंत्र में (ऋ० १।११६।७) में मुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के दाफ से निकाली जाती है। गोप स्थला पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मदासो न मुरायाम्) ।

व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ा पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामाय गस्त्र बाण और धनुष थे। भाले और कुन्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आधार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक बार गौओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृषि भी बहुत होती थी। खेता में हल चलाए जाने थे। इन में बैल जाते जाते थे। अन्न दरातिया स काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिमक वन्य पशुओं को जाल में पकड़ा जाता था या धनुष और बाण से मार दिया जाता था। इस में कुत्ता की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—जोड़ाओं को पतवारों से खेया जाता था। नौका ही नदी सरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनियम द्वारा होता था जिस का साधन गाय थी। मंडानल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प कलाएँ अविकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुओं के रथ और चमस के निमाण, स्वप्ता और बृद्ध सक्ष के वायों की दृष्टि में यह कथन माय नहीं। रथकार और बड़ई एक ही हान थे। लुहार लहे को भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के बरतन आदि बनाते थे। चमार पशुओं के चमड़े का

साफ करते थे। स्त्रियाँ घास या मूज की चटाई बनाती थी। वे सीती और बुनती भी थी।

मनोविनोद

१३४—मनोविनोदो में रचा की दौड प्रमुख थी। सर्वप्रिय मामाजिक विनोद झूत श्रीडा था। नाच अधिकतर स्त्रियों में प्रचलित था। लोग संगीत वे प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, वीणा और बाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इस में सामान्यतः समास का अभाव है। जो समास हैं उन में दा से अधिक पद नहीं मिलते हैं। शब्दों का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रा को छोड़ कर सामान्यतः भाव-प्रकाशन में क्लिष्टता और दुर्बलता नहीं है। शब्दों से खिलवाड भी लक्षित नहीं होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि छन्दों की रचना में महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञ में मन्त्रों को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थी। वे पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अतः इसके मन्त्रों में बहुश उपलब्ध याज्ञिक सकेतों ने इस काव्य के सौंदर्य को बिगाड़ दिया है। यह स्थिति आग्नि और साम के सूक्तों में सर्वशेष परिलक्षित होती है। यहाँ पर मिथ्या कल्पनाओं और अस्पष्ट रहस्यमय कथनों का प्रबल प्रभाव है। देवताओं की स्तुतियों में बहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तों में साहित्यिक गुणों में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यतः इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उपम सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अंगों में से हैं। ये अन्य माहित्यों की धार्मिक गीतियों से किसी अवस्था में अवर नहीं है। इन्द्रवृत्र

युद्ध के वणन में कतिपय चित्रमय रावक वणन मिलते हैं। मरुत्सूक्ता में स्तनपितृन् विद्युत् और यथावात क दश्या के वणन में आजस्वी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपों के वणन में काय का उत्कृष्ट राग ओनप्रोत है। कुछ पौराणिक सवादसूक्त स्थिति की परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते हैं यथा सरमा और पणिया तथा यम और यमो के सवादों में। अश्वसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।१८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावा का प्रभावोत्पादक और गम्भीर सौंदर्य से पूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से मुख्यतः हो जाता है कि गूढ़ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुनः पुनः आते हैं परन्तु उस में विरसता नहीं आन पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता है। इस दृष्टि से यह मूल्यांकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा गुड़ साहित्यिक है वह और कुछ नहीं ऐसा मानना बठिन है। ऋग्वेद के पुनः रक्त अंगों का व्यावर्तन गैली पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद वृत्तिम हैं वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा है जिन को सामान्य काव्य के पदा के सदृश मानना बर्दाश्त प्रणत समीचीन न हा। परन्तु उन पदा की योजना इस बिलक्षण ढंग में की गई है कि आपानत मात्र काय के पद मात्र में पड़ते हैं और उन में काव्य का महान आनन्द भी प्राप्त होता है।

ऋग्वेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वेद की व्याख्यापद्धति का समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषियों की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिन प्रकार की रचनाएँ कवियों के काव्य होते हैं। वे किसी एक अधः का लक्ष्य कर कल्पित गये।

अतः उन का एक ही अर्थ मिलना और होना चाहिए। परन्तु अब ब्राह्मणा पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेकविध अर्थ दिए गये हैं। इन अर्थों में आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैस्वक्त आदि सिद्धांतों का प्रयोग भी लक्षित होता है। शाखायन आरण्यक में चित्र देवाताम् मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निघण्टु में ब्रह्मिक पदों का सफलन, विशेषतः पदनामों का संग्रह वेदाध्ययन में सहायता पहुँचाने के लिए किया गया। निस्वक्तकार ने बहुत से वेदार्थ के सम्प्रदाया-नैस्वक्त, ऐतिहासिक आख्यान समय पूर्व याज्ञिक याज्ञिक नैदान पारिव्राजक आर्पण आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए हैं और उन की आलोचना भी की है। साथ ही औपमन्यव शाकटायन शाकपूनि, स्थौलाष्टीवि आदि अनेकों वेद व्याख्या-ताओं के नाम और उन के मतों का निर्देश किया है। वहाँ कौत्स के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रों की सार्थकता और उन के अध्ययन की उपयागिता बताई है। वेदाथ करने के लिए यास्क स्कन्द और वैकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदाथ करने के नियम भी दिये हैं। वैकटमाधव ने तो वेदार्थ की समस्या को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर वेदाथ का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानों को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उन को उसे समझने में बड़ी कठिनाई हुई। उस से पूर्व वे लौकिक सस्कृत से परिचित थे। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से साम्य रखते हुए भी उस से अनेक बातों में भिन्न है। सौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिल गया और उस की सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए हैं। अतः विल्सन आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु शीघ्र ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रमुख नायक रीथ थे। इन्होंने सायण के बहिष्कार

का नारा लगाया। उन्हो ने दिखाया कि माधन और यास्क के अथ विद्वत्सनीय नहीं हैं क्या कि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रतिया है। सायण ब्रह्म काल से बहुत दूर के युग में हुए। उन को अविच्छिन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती। सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है परन्तु बहुत से मात्रा के अथ में यास्क स्वयं निश्चयात्मक रूप से नहीं लिख सके हैं और इस कारण वहाँ एक-एक पद के कई-कई अथ भी दिए हैं जैसे जातवेदम के पाच अथ। उस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था। उस ने बहुत से आचार्यों और वेदाथ सम्प्रदाया को उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मनभेद लक्षित होता है। नामत्यों का व्याख्यान औणवाम ने सत्य असत्य नहीं आग्रायण ने सत्य के प्रणता और स्वयं यास्क ने नामिका से उत्पन्न किया है। जब यास्क सदेह म होने हैं तो वे निवचन का आश्रय लेने हैं। उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामात्र है। यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे।

१४२—सायण ने अपने भाष्या में कई बार यास्क से भिन्न अर्थ किया है। इन दोनों में से एक ही शुद्ध हो सकता है। अतः या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उल्लंघन किया है। सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए हैं—यथा अमुर दिव्य सत्ता के अर्थ शयुआ का नामक, शक्तिदायक जीवन देनेवाला अनिष्ट का नामक पुरोहित प्राणहारक जलप्रद जल निकाल लेनेवाला आदि दिए हैं।

१४३—अन सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदों के विषय में निश्चित नान से वञ्चित थे। इस कारण उन अर्थों की सम्भावना प्रकरण और समान वाक्यों से पुष्ट होन पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का तिरस्कार और

बहिष्कार कर के भाषाविज्ञान के प्रवक्त रौथ ने आलोचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया । उन्होने प्रकरण व्याकरण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदा की सूक्ष्म तुलना रूप अन्त साक्षी पर अर्थनिर्णय का माग निकाला । इस में लौकिक सस्कृत से तुलना करते हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवैस्ता में प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया । इस शैली के क्रियात्मक प्रयोग में रौथ ने भारतीय परम्परा की साक्षियों की उपेक्षा की और निर्वचन पर विशेष बल दिया है ।

१४५—रौथ की इस शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई । पिञ्चल, गण्डनर और सींग आदि ने वैदिक सूक्तों को विशुद्ध भारतीय माना और उन के अर्थ को प्रत्यग्वैदिक साहित्य और उस में वर्णित परम विकसित सस्कृति से सम्बद्ध किया ।

१४६—डा० मैक्डोनेल लिखते हैं कि आधुनिक समालोचनात्मक वेदाध्यायी का केवल वही सामग्री उपलब्ध नहीं है जो परम्परागत शैली के पण्डितों को मुलभूत थी जिसे परवहशोध की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है, प्रत्युत आज उस के पास ऐसी बहुमूल्य सहायक सामग्री है जो प्राचीन परम्परा को उपलब्ध नहीं थी । यह सामग्री अवैस्ता, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइथोलॉजी) तथा नृवशाविद्या (एथ्नोलॉजी) है । यह आशा की जाती है कि आलोचनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग से ऋग्वेद के अधिकांश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जायेंगी । ”

१४७—यह नई शैली कर्मप्रधान (औब्जेक्टिव) अभीष्ट है, परन्तु क्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रधान है । वस्तुतः आधुनिक वेदाध्ययन

में व्यक्तित्व का वनिपय सीमात्रा में खुली छुड़ी है। इसमें वैदिक विषया का व्याख्यान विद्वाना न अपनी अपनी भावनाओं के अनुरूप किए हैं। डा० आर० एन० दाण्णकर न बहुत ठीक कहा है कि वदार्थ्ययन में विद्वाना न वद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बन्ध में धारणाओं के अनुरूप विभिन्न गीतिया का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए ए० वगने वद और व्याख्यान में अयोग्याथय सम्बन्ध मानत हैं। अरविदघोष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीकात्मक रचना है। जे० हवीर वेद का अर्थ अवैस्ता के रहस्यवादी और दार्शनिक व्याख्यान द्वारा करना चाहत हैं। आ० कु० स्वामा वेदार्थ्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और समार की रहस्यवादी रचनाओं का पूषणान विगप आवयक समयन हैं। व इस अध्ययन में उपनिषदा का विगप महत्त्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० ग० अग्रवाल अध्यात्मविद्या के अनुसार वेदार्थ करना चाहत हैं। डा० फनहसिह न दार्शनिक पष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुत्तात्मक भाषाविगान विभिन्न भाषा० भाषाओं में समान पदा की तुत्ता कर क उन के समान भावा का अध्ययन करता है और उन समान भावा की मूठ अर्थ मान कर उन के आधार पर वदार्थ करता है। उदाहरण के लिए म० अग्नि गैटिन इग्निम म० वरण और ग्रीक अरेनाम के अर्थ क्रमग आग और वरण ही हा सकत हैं। परन्तु य निष्पप तभी ययाय और प्रामाणिक हो सकत है जब मव दगा और जातिया में एक भी अनुकू प्रार्कृतिक धार्मिक सामाजिक राजनतिक दार्शनिक—सक्षप में सामृत्तिक परिस्थितिया में भाषा का विकास हुआ हा। वह भाषा का विकास भा एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमा क अनुसार हुआ हा। अथवा भाषाविगान के ममस्त निष्पप कथनामात्र रहेंग। यदि व परम्परागत अर्थों का पुष्प वग्न है ना ठीक अथवा के त्याग्य हो है। परन्तु वस्तुस्थिति एभी नहीं है। भाषाओं क विकास का भौतिक और सामृत्तिक स्थितिया और गतिया समान नहा है। गता के अर्थों का

सम्पत्ति में हानि और वृद्धि होते हैं। नये अर्थों का विशेष परिस्थितियों में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकसित हो जाता है। दूसरी भाषा में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो नहीं हुईं तो वह अर्थ वहाँ मिल ही नहीं सकता।

१४९—भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय में प्रयोग भी बड़े अनुचित रूप में किया गया है। प्रो० राजवाड़े और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर वेदमन्त्रों के मूलरूप के निर्माण का पादरी एस्टलर का प्रयास ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुलसीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियों की भाषा में बहुत विकार आ गया है, उस को समझने के लिए उन का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०—वेद के पद परम कृत्रिम हैं। वे साहित्यिक नहीं। उन की परिभाषाएँ भाषाविज्ञान से नहीं सुलझ सकती। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपैण्डिसाइटिस नामक रोग, क्षीर के फटे दूध का पानी, मण्डूक के प्राण, सिन्धु के धमनी, दशरुण के कण्ठ और सविता के यकृत अथ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद में 'एक पद का एक ही अर्थ हो सकता है' के भाषाविज्ञान के नियम ने बड़ी समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इस का समझने के लिए वृथ पद के प्रयोगों पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१—डा० वूलनर के मत में भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करने के लिए ज्योतिष, भूगर्भ विद्या, मानवविज्ञान प्रागितिहास, लोक साहित्य, पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षों और उन के आधारों का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बताया है। परन्तु प्रयाग में इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२—आधुनिक शैली में भारतीय परम्परा की धार उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रों और पदों से असम्बद्ध भाषा की उन में कल्पना की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का हस्तम बना दिया गया है, इन्द्रमेना नल और दमयन्ती की पुत्री और गिरनदेवा लिंगपूजकों का नाम।^{१५}

१५३—डा० देगमुख ने दिखाया है कि अवैस्ता^{१६} प्रत्यग्वैदिक ग्रन्थ है। उस का कोई अंग अपरिवर्तित रूप में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अवैस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अवैस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और अमुर अवै० के दइव और अहुर मे भिन्न ही कहे जा सकने हैं। वेद में अवैस्ता के अहुरमन्दा के समान कोई देवता नहीं है। वहाँ वैदिक धी और वरुण नहीं के बराबर हैं। अवैस्ता में कोई ऐमा वाक्य नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं को जन्म मिला है। जरथुष्ट्र जरदष्टि, जरद्-उष्ट्र, जरत्-स्वष्टा से सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अवैस्ता का अर्थ भी अनिश्चिन्त प्रायः है। स्वयं अवैस्ता के अर्थ करने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४—तुलनारमक आख्यान, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में समानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहाँ वेद को किसी भावविशेष को खोजने के लिए पटा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

७५ देखो मीएमडी०, दी मैथड ओफ इण्टरप्रेटेशन ओफ दी वेदाज।

७६. यह पारमिया की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म सत्यापक जरथुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संहिता से मिलती-जुलती है। भाषा में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नहीं है। उदाहरण के लिए वैदिक ऋतु और अन्न का एक मानना तथ्या का तिरस्कार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण को भी इतिहास-पुराणाभ्यां वेद समुपबहयत्। विभत्यल्पश्रुताद वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥” के लेख के आधार पर वेदाथ म महायक माना गया है। निस्वत में इतिहास और आख्याना पद समानाथक है। अथर्ववेद में पुराण सृष्टिविद्या का द्योतक है। यदि इस पद्य म य अथ अभीष्ट है तब ठीक है। परन्तु सामान्यतः पुराण से १८ पुराण और इतिहास से उन म तथा अन्यत्र वर्णित लौकिक इतिहास समझा जाता है। उन से वेदाथ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।३।१।११ म ऋषि हिरण्यस्तूप अपन से छै पीढ़िया के पश्चान होने वाले आय का वर्णन करने हैं। आख्याना की वैदिक पृष्ठभूमि से भी वेदाथ म कोई महायता नहीं मिलती है। हा यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यानों का भाव खोला जा सके।^१

१५६—प० चन्द्रमणि पालीरत्न ने पाली भाषा की महायता से वेदाथ करने का सुझाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणा म कोई एसा नहीं जो वेदाथ पर कोई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अन्तर्गत हा है। अतः इस के निष्कप पापक प्रमाण के रूप में परम महायक हो सकत हैं।

७७ वसिष्ठ धर्मसूत्र २।७।६ ।

७८ देखो सुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नहीं ऋग्वेद का धर्म म सकलित ।

७९ हमारी भेषदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक सन्दर्भ में कुछ पौराणिक आख्याना का व्याख्यान किया गया है।

८० देखो चन्द्रमणि वेदाथ करने की विधि ।

१५७ कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमंत्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अतः मूलतः उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो सम्प्रदाया—पूर्व याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों सम्प्रदायों में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्व याज्ञिकों के व्याख्यानो में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अतः यज्ञ 'हवन आदि' वेदमंत्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का द्योतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल सामग्री मिलती है। इन अंशों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन है। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी कतिपय निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छंदा के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक मनाएँ नहीं हैं। वहाँ ममस्त देवा में एकता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शालाआ में यह शैली अक्षुण्ण रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इस शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग दिया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदाङ्गा, अनु-क्रमणिया, छ दशनों और स्मृतियों में भी यही शैली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलने हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात समझ पाठकों को ज्ञात नहीं हाती है। इस का यह अर्थ नहीं कि अर्थ की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और इन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की शिष्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वयं व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्राम होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उल्लब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियों से अर्थ मिलते हैं। आदि से ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उस की परिभाषाओं को उस से सम्बन्धित निकटतम साहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणि—ज्योतिर्मय, नासत्यौ=नासिकाप्रभवौ=प्राण और अपान के भावों को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते हैं।

१६०—अत वेदमन्त्रो मँ प्राप्त वेदार्थ शैली—जिन का शाखा सहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यका, उपनिषदा, निरुक्त, दर्शन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदांगा में विस्तार किया गया है, तथा जो निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। शेष सब मामग्री पोषक प्रमाण के रूप में ही प्रयोज्य है। वैकट माधव ने एक नई शैली—ऐतिहासिक पौराणिक का सूत्रपात किया है। अत इन के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

विष्णु का स्वरूप

१६१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, सोम अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवा का द्वाररक्षक, आशाआ (=दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, धोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते हैं। सामान्यतः इसे √विष् व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।^१

१६२—परन्तु आधुनिका की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि में ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। इस की स्तुति केवल पाँच सूक्तों में की गई है। इस के पुस्तपविध रूप और वर्णन भी अल्प है। वह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नहीं है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उद्यम (विस्तृत पदा वाला) और उरुगाय (दूरदेशगामी) कहा गया है। इन तीन चरणा से वह समस्त पार्थिव लोको को पार कर लेता है—‘पार्थिवानि विममे रजामि’^२। इस के दो पद मानवा को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उड़ान और मनुष्यों की पहुँच के परे है। इस का परम पद छुलोक में नेत्रवत् जमा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—‘परममवभाति भूरि’। यह पद उस का

प्रिय निवाम है—तदस्य प्रियमभि पाथ' । पुण्यात्माएँ और देवता यहाँ आनन्दमग्न रहते हैं—नरो यत्र देवयवो मदन्ति । विष्णु के ये तीन पद सूर्य की तर्जना लांका—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति का वर्णन करते हैं ।

१६२ अ—विष्णु चक्र के समान अपने ९० घोंडा (=दिना) को उन के चार नामा (=चार ऋतुओं) के साथ घुमाता है । इस प्रकार वह वर्ष के ३६० दिना का नियामक है । आदि में यह सूर्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा होगा । विष्णु इन पदा को जनहित के निमित्त चलता है । इन से मनुष्या की स्थिति बनी रहती है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिलता है ।

१६३—विष्णु के गौण रूपा में से प्रमुख कर्म उस की इन्द्र से मैत्री है । वह बहुधा इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करता है । विष्णु सूक्तों में केवल इन्द्र ही निपात देवता है । एक सूक्त में दोनों की सम्मिलित स्तुति की गई है । इन्द्र का सहायक होने के नाते विष्णु की इन्द्र के साथी मरुतों के साथ एक सूक्त में स्तुति की गई है ।

१६४—इस सग्रह में सकलित सूक्त में टिप्पणिया के अनुसार विष्णु सृष्टि के पहले भी विद्यमान एक मन' है । वह सृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुओं का स्थूल और रजोगुण प्रधान बनाता है—'य पार्थिवानि विममे रजामि । इन गतिशील बने हुए परमाणुओं को वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है—यो अस्वभायदुत्तर सधस्यम् । वह प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणा में सब कुछ का व्याप्त कर देता है—'विचक्रमाणस्त्रे-धोरगाय' । तथा 'यस्योरूपु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।' वह खोजते योग्य (मृग), सौम्य (न भीम), वाणीरूप (कुचर) वह हृदया में स्थित है (गिरिष्ठा) । उस की प्राप्ति गुरु और उपदेगका से ज्ञान प्राप्त कर के हो सकती है—'ता वा वास्तून्युश्ममि गमर्ध्य अत्राह तदु-रगायस्य परम पदमवभाति भूरि ॥'

इन्द्र का स्वरूप

१६५—स्वामी दयानन्द मरस्वती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युदादिपरमैश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् मभाध्यक्ष, जीव, राजा, मेनाध्यक्ष, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट शत्रुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनयितृ, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, विद्युद्रचित शस्त्र आदि समझा है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, धत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, मिशन, उद्गामा, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इस की व्युत्पत्तियाँ अनेकविध हैं। सब में √इन्द् धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।^१

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह धीर देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख हैं। इस के सूक्त मव से अधिक हैं। यह वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह मव देवताओं से अधिक पुष्टविध वर्णनों से युक्त किया गया है। आख्यायिक कल्पनाएँ भी इसी के सूक्तों में सर्वाधिक समृद्ध हैं। मूलतः यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गौण रूप में यह युद्ध का देवता है और आर्यों को अनायों से युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उम के शारीरिक अंगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जवड़ों और श्मश्रु को गति देता है। उम के पेट का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उम का रंग हरा (हरि) है। उसके बाल

और डाढ़ी मूछ भी हरे हैं। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र बिजली ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आयुध है। इस वज्र को त्वष्टा ने लोहे (आयस) का बनाया था। यह सुनहरी, तीक्ष्ण और अनेकों धाराओं वाला है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण ने युक्त भी कहा गया है। वह अकुण भी रखता है।

१६९—उम का रथ सुवर्णमय है। उस में दो घोड़े (हरि) जोते जाते हैं। वह रथप्रा योधा है। य रथ और घोड़े ऋभुओं ने बनाए थे।

१७०—साम इन्द्र का अभिमत पेय पदार्थ है। इस के बराबर और कोई देवता साम नहीं पीता। इसी लिए यह सोमपा है। सोम उसे युद्धों के लिए उत्साह और शक्ति देता है। वृत्र को वध करने के लिए वह तीन कद्रू (तालाव) सोम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) में सोम की मस्ती में इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उदघोषणा करता है।

१७१—बहुधा उसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। दो सूक्तों में उस के जन्म का वर्णन किया गया है। उस का पिता द्यौ मालूम होता है। कुछ मन्त्रों में वह त्वष्टा प्रतीत होता है। अग्नि और पूषण इन्द्र के भाई हैं। उस की पत्नी इन्द्राणी है। मरुत इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं। वह इसी लिए मरुत्वान इन्द्र कहलाता है। युग्मों में अग्नि विष्णु वायु सोम, वरुण, बृहस्पति पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र बृहदाकार है। वह दस गुना पृथिवी से भी अधिक बड़ा है। देवता और मनुष्य उस की सामर्थ्य की सीमा को नहीं पहुँच पाते हैं। कोई देवता उस के समान नहीं है। इसी कारण उसे शक्र शचीवान शचीपति और शतवज्र कहा गया है।

१७३—सोमपान से समर्थ हो कर मरुतों के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख अमुर वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र को बहुधा अहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय छुलाक और पृथिवीलाक काँप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्सुजित् कहलाता है। यह युद्ध पुनः पुनः होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाते हैं। ये जल बहुधा पार्थिव हैं। कभी-कभी आकाशस्य और छुलाकस्य भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जल का गौ भी कहा गया है और जल मुक्त बादल का भी। बादल को ही उत्स कवन्व और काग कहा गया है। वे आकाशीय अमुरा के पुर हैं। ये पुर गतिशील हैं शारदी, लाह या पत्थर के बने हुए और ९०, ९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन कर्मों के कारण वह धूमिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रकाशप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र का मार कर जला को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उपम् और सूर्य का उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार का अनावृत्त कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेक महान् सृष्टिकर्मों का सम्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वता और पृथिवी को स्थिर करता है—‘य पृथिवी व्यथमानाम दृहद् य पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णान्।’ वह दृति के समान छुलोव और पृथिवीलाक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में अमन् को सन् बना दिया। कई बार छुलाक और पृथिवीलाक के पृथक्करण और धारण को वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—याथा इन्द्र की बहुधा स्तुति करत है—‘य चन्द्रमौ सयनी विह्वयेते। समान चिद्रयमानस्थिवामा नाना हवन्।’ वह आर्यवण की रक्षा करता है।—‘आय वर्णमावन्’ और दाम वज्र का वर्णीभूत करता है—‘दास वर्णमधर गुहाक्’। उस ने ५० ००० कृष्ण वर्णों का वध किया, दस्युजा को आदों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भक्ता का रक्षक, महायक और मित्र है—‘य सुन्वन्तम-
वति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती’। वह उन्हें धन देता है—‘य
सुन्वने पचने वाज ददंषि ।’ इसी लिए वह मधवा है।

१७८—वह उपस् के रथ का भजक है। वह सूर्य के घोड़ा को रोकने-
वाला है। वह मोम को जीतता है। स्येन उमी के लिए स्वर्ग में मोम
लाना है।

१७९—ऋग्वेद में मुदास आदि के लिए पारिव शत्रुआ से युद्ध करने की
कथाएँ भी इन्द्र से सम्बद्ध की गई हैं।

१८०—इन्द्र के विशेष गुण प्राकृतिक अणु पर शासन और भौतिक
उत्कर्ष है। वह उत्साही कर्मों में उग्र दुर्धर्य योधा, मानव जाति को खुले
मन से समृद्धि देने वाला है। साथ ही वह इन्द्रियामक्त और कुछ दृष्टियाँ से
अनैतिक भी है। वह अत्यधिक खाने-पीने वाला है। अपने ही पिता त्वष्ट्र
का वध करता है। वह वरुण से भिन्न स्वभाव का है। वरुण ऋग्वेद में
शान्ति, ऋत और व्रता का व्यवस्थापक है।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्योंकि अवैस्ता में यह एक राक्षस है।
वहाँ भी वैरेवघ्न (=वृत्रहन्) विजय का देवता है यद्यपि वह इन्द्र से
सम्बन्धित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत ईरानी काल में वैदिक
इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था।

१८२—इस मग्नह के मूक्त में इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा
और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह सृष्टि के पहले से विद्यमान
है। मनस्वी और अपनी सामर्थ्य से देवों को प्रकाश देने वाला है—‘देव देवान्
अनुना पर्यभूषन्’। वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार
को नष्ट कर के समस्त परमाणुओं में गति लाना है और सृष्टि रचना करता
है—‘येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दाम वर्णमधर गुहाक’। वह बुलोक,

पृथिवीलाव, जल जादि, चारा वर्णों और समस्त प्राणिया का शासक है। जा पापी और नास्तिक हैं उन्हें उनके पुण्या के क्षय द्वारा धीरे धीरे नष्ट करता है—‘य दश्वना महोना दधानानमन्यमानान्छवा जघान । वह ही वनस्पतिया को उगाता और बढ़ाता है—‘यो रोहिणमस्फुरद् ।’

पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त दार्शनिक है और मृष्टिरचना विषयक छ सूक्तों में से एक है। इस में देवता मृष्टि यज्ञ करत हैं। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहा मृष्टि को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है जिस में पुरुष ही बलि का पगु है। उस के शरीर में काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंग बन जात है।

१८४—इस सूक्त के भाषा और विषय स्पष्ट इंगित करत है कि यह सूक्त अर्वाचीन है। इस का तीना वेदा का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारा वर्णों का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भागा स भिन्न है। यह विराड् वादी है—‘पुरुष एवेद सव यद्भूत यच्च भव्यम्’।

१८५—इस मग्नह की टिप्पणिया के अनुसार पुरुष बहुविध शक्तिया से युक्त है। वह धारक और ग्रसन शक्तिया में मसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थांश है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से बाहर है। पुरुष न विराड् उत्पन्न हाता है परन्तु ज्ञान में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—विराजो अधि पूर्य । पुरुष मृष्टि की साधक शक्तिया—जाव और प्रवृत्ति के द्वारा अपने का साधन बना कर मृष्टि करना है। उमी स सव पगु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति हाती है। जब उस न यह मृष्टि रचा ता विभिन्न, शक्तिया क कारण उस क नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, धन्य दूद्र, क्षत्रमा मूय, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि और दिन हो गये । इस यज्ञ में जो भावनाएँ और शक्तियाँ थी वे ही ससार की धारक और आनन्द का स्रोत है—

‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाक महिमान मचन्त
यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥’

ऋ० १।१५४—विष्णुसूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—विष्णुः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

सहितापाठ

पदपाठ

१. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं	विष्णोः।नु।कम्।वीर्याणि।प्र।
यः पार्थिवानि विमुमे रजांसि ।	वोचम्।यः।पार्थिवानि।विमुमे
यो अस्कभायदुत्तरं मधस्थं	रजांसि।यः।अस्कभायत्।उत्-
त्रिचक्रमागस्त्रेधोरुगायः ॥१॥	स्तरम्।मधस्थम्।त्रिचक्र-
	माणः।त्रेधा।उरुगायः॥१॥

सायणभाष्यम्—“विष्णोर्नु कम्” इति षड्-ऋच पञ्चदश सूक्त देवतमस त्रैष्टुभ वैष्णवम् । अत्रानुक्रमशिका—“विष्णो षड् वैष्णव हि” इति । अभिष्व पञ्चदशसूक्तेषु तृतीयसवने स्तोमवृद्धान्छात्राकस्य स्तोमातिशयनार्थम् इदमादि-सूक्तद्वयं विनियुक्तम् । ‘स्तोमं वधमाने’ इति खण्डे सूत्रितम्—“विष्णोर्नु कम् इति सूक्तं परो मात्रयेत्यच्छात्राकः” (आश्व० श्रौ० ७।९) इति । तथा तृतीयसवने सोमातिरेक उत्तरोत्तरसंयोगान्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरिक्ते तदर्थमेव शक्तं सुपजनयितव्यम् । तत्रैतदयं सूक्तम् । “सोमातिरेके” इति खण्डे सूत्रितम्—“महो इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नु कम्” (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । आश्विमास्तशस्त्रे आद्या विनियुक्ता । “अथ यथेतम्” इति खण्डे सूत्रितम्—“विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं तन्तु तन्वज्जसो भानुमन्विहि” (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति ॥

हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कमति-
शीघ्रं प्रयोचम् । प्रव्रवीमि । अत्र यद्यपि नुमिति पदद्वयं तथापि, यास्मेन
“नवोत्तराणि पदानि” (निघ० ३।१२) इत्युक्तत्वात्, शास्त्रान्तर एवत्वेन पाठाच्च,
नु इत्येतस्मिन्नेवायं नु कमिति पदद्वयम् । कानि तानोति तत्राह । यो विष्णु
पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रज्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रया-
भिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विक्षेपेण निर्ममे । अत्र
त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम्, “यदिन्द्राग्नी अग-
मस्या पृथिव्या मध्यमस्या परमस्यामुत स्थः” (ऋ० १।१०८।९) इति ।
तैत्तिरीयेऽपि—“योऽस्या पृथिव्यामन्यायुषा” इत्युपक्रम्य “यो द्वितीयस्या तृतीयस्या
पृथिव्याम्” (तै० स० १।२।१२।१) इति । तस्मात्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्द-
वाच्यत्वम् । किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरमुद्रततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं
लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् ।
निर्मितवानित्यर्थः । अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं
भवति । यद्वा । यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या
अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान् । रजःशब्दो लोकवाची,
“लोका रजात्युच्यन्ते” (निघ० ४।१९) इति यास्मेनोक्तत्वात् । किञ्च
यश्चोत्तरमुद्रततरमुत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवाम-
योग्यं भूरादिलोकसप्तक्रमस्कभायत् स्तम्भितवान् । सृष्टवानित्यर्थः ।

स्कम्मेः ‘स्तम्भुस्तम्भु’ इति ग्रहितस्य स्तः ‘छन्दसि शायजपि’ (पा० ३।१।
८४) इति व्यत्ययेन शायजादेशः । अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि
रजांसि लोकान् विममे । भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः । भूम्यामुपार्जितकर्म-
भोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम् । किञ्च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां
लोकानामुपरिभूतम् । अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम् । सधस्थमुपासकानां
सहस्थानं सत्यलोमस्कभायन् । स्तम्भितवान् । ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः ।
किं कुर्वन् । त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रम-
माणः । विष्णोस्तेषां क्रमम् “इदं विष्णुर्विचक्रमे” (ऋ० १।२२।१७)
इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम् । अत एवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः । अति

प्रभूतं गीयमानो वा । य एव कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र
बोचम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—(म) [सु कम्] पूर्ण रूप से (और उत्तमता क
साथ) [विष्णो] (उम) (व्यापक) विष्णु (नामक परमात्मा) क
[वीर्याणि] महत्त्वपूर्ण कर्मों का [प्र बोचम्] घोषणा करता हूँ [य] जिस ने
[पार्थिवानि] (विस्तृत) पृथिवी में सम्बन्धित [रजामि] लोकों का [त्रिमये]
निर्माण किया है (और) [त्रेधा] तीन प्रकार से [विचक्रमाण] बारम्बार
गति करने वाले [उरगाय] दूर दूर गाओ (अर्थात्—सर्वव्यापक) [य]
जिस ने [उत्तरम्] परे विद्यमान (उत्तम सुखसाधक) [सधस्थम्] मिलन के
स्थान को [अस्कभायत्] स्थिर किया है ।

टिप्पणियाँ—१ विष्णो—वैदिक विद्वानों ने इस पद की व्युत्पत्ति विष्णु
के स्वरूप के विषय में अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुरूप दी है । ओल्डे-
न्बर्ग इसे 'विस्तृत उद्यम करने' के अर्थ में वि + स्तु से, ब्रूमफील्ड 'उच्चतम
चोरी पर चढ़ने वाला' अर्थ में वि + स्तु (सानु-चोटी से) से आर मेक्डोनल
✓विश् उन्नोगी होना, व्यवसायी होना से व्युत्पन्न करते हैं । सायण ने ✓विश्
व्याप्त करना और कोषीतकि ब्राह्मण ने ✓विश् प्रवेश करना से व्युत्पन्न किया
है । (देखो वै० ६६३) । यास्क ने नि० १२।१८ में विष्णु को 'पिपित' कह
कर ✓विश् या वि + ✓अश् से व्युत्पन्न किया है । ऐया० (१४४) ने
पिपित' को वि + ✓सि का रूप होन की कल्पना की है, परन्तु यास्क का
व्युत्पत्तियों की दृष्टि में यह कल्पना अनाश्रयक है । ग्रामी दयानन्द मरस्वता
ने इस व्याख्यार्थन ✓विश् से और पठनामो में पाठ के आधार पर गन्वर्थन
✓विश् से व्युत्पन्न माना है । वस्तुतः ध्यात-अर्थ गति-अर्थ का ही रूप है,
और प्रवेश करना, चढ़ना, उन्नोगी होना आदि भा । अतः दस० की दूसरी
शक्ति समीचीन प्रतीत होता है ।

(११) सामान्यतः 'विष्णु' का अर्थ 'एक दिव्य शक्ति-सम्पन्न अदृष्ट सत्ता
का द्योतक देवताविशेष' समझा जाता है । भाष्यकारों ने कहीं कहीं पर इनका
अर्थ 'परमात्मा' भी किया है । दस० ने परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि,

विद्युत्, शिल्पविश्राव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, तेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ अर्थ किए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, सोम, अन्न, वीर्य, प्रादेशमान गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवता, देवों का द्वारद्वार, आशाओं (= दिशाओं) का पति, यज्ञ व दुःख का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष, यूप आदि अर्थ पाए जाते हैं।

२ नु कम्—सायण ने इस का अर्थ 'शीघ्र' और मैक्डोनेल ने 'अत्र' किया है। वास्व ने नि० १।४ में 'नु' को बहुविध अर्थों वाला और नि० १।९ में कम् को पदपूरण माना है। निघ० ३।१२।२ में नुकम् को सर्वपद क अर्थ में उत्तरपद कहा गया है। यह नुकम् पूर्वोक्त नि० १।४ और १।९ के नु और कम् से स्वरभेद के कारण भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में यही पाठ है। अतः पदवार का इन का पृथक्करण और सायण आदि का अथ स्वर की दृष्टि में विचारणीय हैं। वेभाष० १३।३६ के अनुसार यह पद 'सर्व' 'उत्तर' आर 'पद' क अर्थों का द्योतक है। अतः अनुवाद में 'पूर्णरूप से और उत्तमता क साथ' अर्थ ग्रहण किया गया है। दस ने 'नु' का सद्य—'तुरन्त' और 'कम्' का 'सुप्त' अर्थ किया है। परन्तु निघ० ३।६।२० में मुखवाचक 'कम्' उदात्त है, अनुदात्त नहा।

३ वीर्योणि—यहाँ पर 'याँ' में प्रतीयमान स्वतन्त्र स्वरित है। छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण वीरि-ओणि अभीष्ट है। सम्भवतः यह मूलगाय या और सन्धि से पहले यहाँ पर सामान्य स्वरित था। सन्धि होने पर उदात्त 'रि' और अनुगत 'आ' क एक हो जाने से यहाँ स्वतन्त्र स्वरित लिखा देने लगा। वेद में अधिकांश स्वतन्त्र स्वरित इस प्रकार क ही हैं।

४ प्र वीचम्—प्र + √ वृ या √ वच् + लुट् उत्तम पु० एच व०। अट् का लोप हो रहा है। आधुनिक परिभाषा में यह √ वच् से इज्जाश्च (निश्चयद्योतक) लुट् है। भाषावैज्ञानिकों क मत में √ वोच् एक स्वतन्त्र धातु है।

५ पार्थिवानि—पृथिव्या इमानि इति। सा० के विचार में यहाँ पर १. पृथिवी क नाचे क सात लोक। २. भूरादि पृथिवीनिमित्तक तीन लोक अथवा

३. पृथिवी आदि तीनों लोकों के अभिमानो देवता—अग्नि, वायु और आदित्य अभिप्रेत हैं, मैक्डोनल के विचार में 'पृथिवी और समीपस्थ वायुलोक और मही-धर के विचार में 'पार्थिव परमाणु । अगले पाद में 'उत्तर सधस्थ' के दृष्टीकरण की दृष्टि में सायण का अर्थ स्वतः ही अप्रामाणिक हो जाता है । वायुलोक की योजना पार्थिव रजस् और उत्तरसधस्थ से समान रूप में की जा सकती है ।

(ii) इस सूक्त में विष्णु के रूप में एकं सत् (= ईश्वर) के सृष्टिकर्म, उस के उपादानों, विष्णुलोक आदि का वर्णन है । अतः यहाँ 'पार्थिव रजस्' से प्रकृति के परमाणुओं के स्थूल और रजोगुणप्रधान हो जाने का उल्लेख है । तु. क.—'रजाजुपे जन्मनि सत्त्ववृत्तये प्रजानां पालने' । (कादम्बरी १) । उत्तर (—उत्कृष्ट) सधस्थ से (प्रकृति) से सम्पर्क प्राप्त करने वाले 'जीव' का वर्णन किया गया है ।

६. विममे—वि + √ मा + लिट् प्रथम पु० एक व०) । √ मा धातु का अर्थ नापना भी है और निर्माण करना भी । सायण आदि भारतीय विद्वान् इस का अर्थ 'निर्माण करना' लेते हैं । परन्तु आधुनिक विद्वान् कतिपय ऐसे स्थलों की दृष्टि में जहाँ द्युलोक और पृथिवीलोक में सूर्य के व्याप्त हो जाने का वर्णन पाया जाता है । जैसे—इमामू ध्यासुरस्य श्रुतस्यमर्हा माया वरुणस्य प्र बोचम् मानेनेव तस्थिर्वो अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवी सूर्येण ॥ ऋ० १।८०।१ इस का अर्थ मापना करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में इस के अर्थ 'अभ्यवतनोति—विस्तार करता है' से भी यही अर्थ प्राप्त होता है । श्री पीटर्सन ने लिखा है कि मन्त्र ३ में क पदों 'विममे त्रिभिर्दिवदेभिः' में विष्णु के तीन पदों से 'सधस्थ' का निर्माण संभव नहीं । परन्तु यह कटिनेता सूर्य के तीन आक्रमणों पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की दृष्टि में आती है । त्रिभिः पदेभिः का सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थ करने पर यह समस्या समाप्त हो जाती है ।

७. यो अस्कभायद्—वेद में बहुधा पदान्त ए ओ के पश्चात् 'अ' को पूर्ण-रूप नहीं होता है । पीछे के साहित्य और भाषा में यह पररूप क्रमशः नियत हो गया है । पूर्णरूप के इस अभाव को बहुधा मन्त्रों की प्राचीनता का द्योतक

और पृथक् रूप वाले प्रयोगों को अवाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु दोनों ही प्रकार के प्रयोग अनेक बार वदमण्डलों में भी साध-साध पाए जाते हैं।

८ अस्कभायत्—✓स्कभू + लट् प्रथम पु० एक व०।

९ उत्तरम्—पङ्कार न इस उत्तरम् माना है। इस से ज्ञात होता है कि उपसर्ग भी मर्रा और विभाषण के रूप में प्रयुक्त होते थे, अन्यथा लट् के साथ तरप् और तमप् का प्रयोग सम्भव नहीं था। वेमाप० ४।२१-३० ६।५८ वैज्ञो० ३००-३१०, निय० के ऐकपात्रक में उपसर्गों और लपता का पात्र और उस पर वेमाप० ३०।२७-२८ भी देखें।

(11) श० ८।६।३।२३ और ९।२।३।३ में उत्तर सधस्थम् का अर्थ 'द्या' दिया है। सा० ने इस (१) अतिवृत्ताय अन्तारम्, (२) पुष्पशालों के एक साथ रहने योग्य भू आत् सात लोक (३) सबलोक का द्योतक माना है। श्री मैक्डोनाल्ड ने इस मात्र में जगत् के दो विभागों का वर्णन मान कर इस का अर्थ 'सगला' किया है। आराग के धारण की क्रिया को सावतृ, आत् और अय देवताओं से भी सम्बद्ध किया गया है।

(11) इस मात्र में साष्ट के तीन मूल कारणों का वर्णन किया गया है—
वण्णु पाविमरजस् और उत्तरसधस्थ। अतः यह उत्तरसधस्थ 'जान' ही है।

१० सधस्थम्—सह स्थानम् सधस्थम्। तु कु सधमानस्ययोदृष्टसि।
यद में 'सह' के आगे 'स्थ' आने पर 'सह' को 'सध' हो जाता है।

११ विचक्रमाण—वि + ✓क्रम् + कानच् स। सायग और मैक्डोनाल्ड ने अपन-अपन भावा के अनुरूप इस के अर्थ क्रमशः 'अनेक प्रकार से आक्रान्त करता हुआ' और 'पग भरे' दिए हैं। ✓क्रम् गत्यर्थक है। वि + ✓क्रम् का अर्थ है—'विनेप गत' करत हुए, तब का माहमा से गतशाल हो कर साष्ट रचन करत हुए।

१२ तधा—छा की छात्र में इस का उच्चारण न-य-धा होगा। आर्नेल्ड नायथा पढ़ते हैं। मैक्डोनाल्ड ने इस का अर्थ—'तान वार' अर्थात्

‘तीन (पद)’ किया है । ऊपर प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ ‘सत्त्व, रजस्, और तमस्—इन तीन गुणों से विशिष्ट’ करना उचित होगा ।

१३ उरुगाय.—सा०—बहुतो से स्तुति किया गया, पुष्कलजीति वाला । मैकडोनल—विस्तृत पद वाला । पीदर्सन—दूर गन्ता । एक अन्य मन्त्र में सा० ने बहुतो से स्तुति करने योग्य, प्रभूत यश वाला, शत्रुओं को कलाने वाला अर्थों के साथ ‘बहुत से देशों में जाने वाला’ अर्थ भी दिया है । ये अर्थ सूर्य के तीन क्रमों पर लागू होते हैं, सूर्यरचना पर नहीं । अतः यहाँ पर विमूर्ति आच्छादक (उरु—✓ उर्णु या ✓ वृ से) गति = शक्ति (—गाय) वाला अर्थ उपयुक्त रहेगा । तु. क. तुच्छयेनाभ्यपिहित यदाग्नीत् तपस्तन्महिनाजायतैवम् । ऋ० १०।१२९।३ तथा विमापरीवः कुह्वम्य शर्मन् । वही, मन्त्र १ ।

संहितापाठ.

पदपाठः

२. प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण	प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण ।
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।	मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरि-
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व्	ऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु ।
अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २ ॥	त्रिऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति ।
	भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—तृतीयस्तवने सोमातिरेक एव शस्त्रमुपजनयितव्यम् । तत्र ‘प्र तत्’ इत्ययमनुरूपस्तुचः । ‘सोमातिरेके’ इति सण्डे सूत्रितम्—‘प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण स्तोत्रिषानुरुषौ’ (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । ‘वाजपेयेनाधिपत्य काम’ इति सण्डे सूत्रितम्—‘प्र तते अद्य क्षिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।२) प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण’ (आश्व० श्रौ० ९।९) इति ॥

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते । स्तूयते सर्वे । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः । मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादि-

कर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठा पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वे स्तूयते ।
 आस्तात्रथे । नक्तम्—“मृगो न भाम कुचरो गिरिष्ठा । मृग इव नाम कुचरो
 गिरिष्ठा मृगो माध्वेगातधमगो भीमो विभ्य यस्माद् माध्वोऽप्यतस्मादेव । कुचर
 इति चरात कम कु सतम् । अथ चटवताभधान कवाय न चरेताति वा । गिरिष्ठा
 गिरिस्थायी । गिर पर्वत समद्रीणो भवात् । पर्ववान् पर्वत । पर्व पुन पृष्ठात
 प्रीणातेवा” (निद० १।२०) इति ॥ तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणा भीमो
 भयानक सर्वेषा भीत्यपादानभूत । परमेश्वराद् भीति ‘भायात्माद् वा न
 पबत’ (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा । किञ्च कुचर शत्रु
 वधादिकुन्तितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा तथा
 गिरिष्ठा गिरिवदुच्छिन्नलोकस्थायी । यद्वा । गिरि मन्त्रादिरूपाया वाचि
 सर्वदा वर्तमान । ईदृशोऽय स्वमहिम्ना स्तूयते । किञ्च यस्य विष्णोरुत्पु
 विस्तीर्णेषु त्रिसहस्राकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि
 भूतनातान्यधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति स विष्णु स्तूयते ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[भीम] भयानक [कुचर] निपम स्थलो पर विच
 रण करन वाले [गिरिष्ठा] पर्वता म रहने वाले [मृग] सिंह क [न]
 समान [कुचर] ताना लोकों म व्याप्त [गिरिष्ठा] मन्त्रों म वर्णित [तत्]
 वह [विष्णु] विष्णु [वीर्येण] अपन वीर कर्मों क कारण [म स्वते] स्तुत
 किया जाता है [यस्य] जिस क [उरषु] विस्तृत [त्रिषु] तीन [विक्रमणेषु]
 पदा म [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोक [अधिक्षियन्ति] विद्यमान
 रहते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणिया—१ प्र—वेद म उपमगों को क्रिया से उद्बुधा पृथक् प्रयुक्त किया
 गया है । तु० क० व्याहताश्च ।

२ तत्—यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया
 है । तु० क० वचनयो बहुलम् । आधुनिक अध्ययन में यह पद एक समस्या
 है । साइवेनाजग लाइडर क अनुवाद म इसे वीर्येण का प्रयोग बनाया गया है
 आर वृत्तायान्त माना गया है—विष्णु इत वीर कम क लिए प्रशंसा को प्राप्त
 होता है । “प्राचीन ऋचाओं में विष्णु का एक ही वारकम वर्णित हुआ है—

वह तीन पदों में समस्त ब्रह्माण्ड का लघन, स्वर्गलोको का दृढ करना, और उस के तृतीय पद में समस्त प्राणियों के रहने के लिए विस्तृत स्थान की सत्ता का धारण करना है (ऋ० ६।६९।५) । वह स्वयं ऊपर विष्णुलोक में रहता है जहाँ उस ने साथ पुण्य आत्माएँ निवास करती हैं" । (—मा० ला०) । प्रासमैन इसे स्तवते का कर्म मान कर 'उस वीर कर्म को करना स्वीकार करता है' अर्थ देते हैं । ये वीर्येण का अर्थ 'सामर्थ्य' करते हैं । पीटर्मन वीर्येण को क्रियाविशेषण और स्तवते को कर्तृवाच्य मान कर 'विष्णु प्रशंसा करता है और इस का सघोष विवक्ष्यन करता है' अर्थ करते हैं । मेम्डोनल इसे प्रथम मन्त्र के वीर्याणि का निर्देशक द्वितीयान्त रूप मानते हैं ।

(11) परन्तु इस मन्त्र में प्रतद्विष्णु आदि अगले वाक्य यस्थोर्यु आदि का प्रधान वाक्य है । यत्तदोन्मित्यम् की दृष्टि में तत् का भाव में ही हो सकता है, अन्य नहीं ।

(111) मन्त्र में जो कर्मवाच्य का प्रयोग मानना अस्वाभाविक नहीं । ऋग्वेद के मन्त्रों—आ भर । होतर्विभ्वासह रयिं स्तोतृभ्य स्तवसे च न उतैधि वृत्तु नो वृधे (५. १०. ७), त्रया यन् मन्त्रे सधवार वाराश्वर्यन नहुपा शविष्ठ (६।२६।७) और एवा हि वार मन्त्रे सदावृधे (८।२४।१६) में 'मन्त्र' का कर्मवाच्य में प्रयोग प्रत्यक्ष ही है ।

(12) वीर्येण में पिछले मन्त्र के वीर्याणि का निर्देश है । समस्त सृष्टि-रचना एक ही कर्म है । अतः एक वचन का प्रयोग किया गया है । उस के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों को दृष्टि में रख कर पिछले मन्त्र में नहुवचन का प्रयोग किया गया है । इस पद में स्वर का स्थिति पहले मन्त्र के 'वीर्याणि' के समान ही है ।

३. सृगो न भीम — श्री पीटर्मन लिखते हैं कि यह उपमाविष्णु के सामान्य स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, इस का सम्बन्ध शूलोक का सानु पर पैर रखने वाले और अथ अपने वार कर्म की घोषणा करने वाले दैत्य से सम्बन्धित है । वह पर्यतो पर निचरण करने वाले भयानक सिंह के समान (गरजन करता) है ।

मृग का प्राचीनतम अर्थ एक हिंसक या आरण्यक पशु है जैसा मृगेन्द्र पद में व्यक्त होता है ।

(ii) श्री मैकडोनल का कहना है कि यद्यपि सायण ने मृगः का अर्थ मिह आदि हिंसक पशु किया है और यद्यपि 'भीम' सिंह और वृषभ दोनों के ही विशेषण के रूप में आया है, तथापि गिरिष्ठाः तीन-चार बार वृषभ के विशेषण के रूप में तो आया है, मिह के विशेषण के रूप में कभी नहीं आया है । अगले मन्त्र में विष्णु को 'पर्वतनिवासि वैश्व' (गिरिनिविष्टे वृष्णे) कहा गया है । अतः वह उपमा सिंह की अपेक्षा बैल की ओर निर्देश करती है ।

(iii) वस्तुस्थिति कुछ अन्य प्रतीत होती है । यास्क ने 'न' को उपमा-वाचक माना है । यही यहाँ भ्रान्ति है । 'न' को 'भीमः' के साथ लगा कर 'न भयंस्त्र = सौम्य' अर्थ करने और मृगः आदि को विष्णु के विशेषण मान लेने पर कोई समस्या नहीं रहती है । मृगः—✓मृग् खोजना से । खोजा जाने वाला, खोजने योग्य । देखो अत्रोमु० । अथवा ✓मृज् जाना से (यास्क) । अतः गतिशील । कामना रूपी ब्रह्म के मन में पड़ने से विष्णु गतिशील हो जाता है और उस से सृष्टि होती है । देखो ऋ० १०।११९ ।

४. कुचर — का प्रयोग केवल एक और मन्त्र (ऋ० १०।१८०।२) में आता है । वहाँ पर यह सारा वाक्य इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है । यास्क ने इस के अर्थ (१) कुत्सित कर्म करने वाला (२) यह कहा नहीं जाता [कु (या क्व) + ✓चर से] किए हैं । सायण ने दूसरा अर्थ 'तीनों लोकों (कु = पृथिवी से) में घूमने वाला' किया है ।

(ii) पदभार ने इसे अग्रहीत नहीं किया है । श्री मैकडोनल का विचार है कि 'कु' स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है । अतः अग्रहीत है । परन्तु 'कुचित्' (ऋ० ९।८७।८; १०. ४५; १३. ११) के 'कृ' का स्वतन्त्र प्रयोग ऋग्वेद में नहीं मिलता है, फिर भी इसे अग्रहीत किया गया है । सम्भवतः पदभार इसे कु + चर और ✓कुच् (शब्द कम्पा) + अग्न (दपाउ० ८।६२) —दोनों प्रकार से छिन्न करके अर्थ करना चाहते हैं, अथवा पिठला निर्वचन ही उन्हें अभीष्ट था । अतः शब्दवारी ।

(III) ऋ० १०।१२९।४ म कहा है कि सृष्टि की रचना क समय सर्वप्रथम परमात्मा के मन म सृष्टि करने की इच्छा हुई और यह इच्छा ही उस के मन में सृष्टि का मूल यज्ञमय बाज (= रेतस) बनी । इस रेतस् रूपी तप से उस म तेज और गति उत्पन्न हुई । इस गति म ही शब्द भी उत्पन्न हुआ (तु कु शब्दकमा श्वरति का निघ० म गतकमा धातुआ म पाठ) । ब्रह्म (—विष्णु) की वाक् रूप म भी कल्पना की गई है । देखो वाक्शक्त तथा वाक्कान्शन और वैष्ण० म वाक्पत् ।


५ गिरिष्ठा—सा० ने (१) उन्नत लोका का निवाता, (२) मया मन्वा मकाली मे स्थित अथ किए हैं । उपरांत दाशानक हाट म गिर—गर् स हृदय गुहा मन । अत अपने मन म रेतस रूप म स्थित । यत्रपि ईश्वर मन आदि स हीन है, परन्तु लान्क प्रणाला पर समस्तान क लिए अलंकार बनाया गया है । वह स्वय ही मन है और न्यय ही रतन् ।

६ त्रिपु विक्रमणपु—सा० आत् तान पत्ता में । प्रथम मात्र क समान यहा भी जावध गुगा सत्त, रजस और तमस् का निर्देश है । इन्हीं तान गुणों मे समस्त प्राणलोक स्थित है ।

७ विश्वा—विश्वान । वेद म अनेक बार नपुमक लिंग प्रथमा और द्विताया के बहुवचन की इ (= शि) का लोप दिखाई पड़ता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

३. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म	प्र । विष्णवे शूषम् । एतु मन्म ।
गिरिष्ठितं उरुगोयाप 	गिरिऽक्षितं । उरुऽगोयाया वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सुधस्थम्	यः । इदम् । दीर्घम् । प्रयतम् ।
एकौ विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥३॥	सुधऽस्थम् । एकैः । त्रिऽममे ।
	त्रिऽभिः । इत् । पदेभिः ॥३॥

सायणभाष्यम्—विष्णवे सर्व यापकाय शूषमस्मत्कृ याजिन्य बल महत्त्व मन्म मनन स्रोत्र मननीय शूष बल वा विष्णुमेतु । प्राप्नोतु । कमश

सम्प्रदानत्वाच्चतुर्था । कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते ।
उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय । वृष्णे वर्षिन्ने कामानाम् । एवम्महानुभायं
शृपं प्राप्नोतु । कोऽस्य विशेष इत्युच्यते । यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं
दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकात्रयमेक इदेक एवा-
द्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान् ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[गिरिक्षिते] मन्त्रों में वर्णित [उरुगायाय] दूरदेश
गामी (अर्थात्—सर्वव्यापक) [वृष्णे] वीर्य-सेचक [विष्णवे] (उस)
विष्णु को (मेरा) [शृपम्] स्फूर्तिदायक [मन्म] (मननीय) स्तोत्र
[म एतु] पहुँचे [यः] जिस [एक] अनेके ने [त्रिभिः] [तीन] [पदेभिः]
पदों से [इन्] हाँ [इदम्] इस [दीर्घम्] विस्तृत [प्रयतम्] स्थिर [सध-
स्थम्] (प्राणियों के) निवास स्थान को [विममे] निर्माण किया है ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. शृपम्—ऊन्द की पूर्ति के लिए 'शृ' को 'शू-ऊ' पढ़ना
आवश्यक है । निघं० म यास्क ने और सा० ने इस के दो अर्थ—उल और
मुख माने हैं । टस० ने सर्वत्र उल—अर्थ ग्रहण किया है । केवल एक मन्त्र
में विकल्प में 'मुत्त'—अर्थ भी दिया है । नि० २ । २४ में इस के सदृश
पद शृपम् को ✓ शृप् सुप्ताना से० युत्पन्न किया गया है । अनेकाना में इस के
अनुरूप पद 'हुम्क'—सूत्रा हुआ है । शेष इसे श्वस् से निष्पन्न मानते हैं और
उहाँ तथा अन्य चार ऋचाओं में इसे 'सीटी बजाना, (अव्यक्त) शब्द करना,
ठन्-ठन् का शब्द करना' अर्थ में विशेषण मानते हैं । इन में से एक मन्त्र
(ऋ० १० । ५४ । ६) में सा० ने 'शृप मन्म' का अर्थ 'शृप बल शत्रूणां
शोषकत्वाद् बलकरं मन्म मननीयं स्तोत्रम्' दूगरे (१०. ६. ४) में 'शूपेभिः
अर्चैः का शूपेभिर्हविर्लक्षणवत् । बलनिमित्तैर्हविर्मिरित्यर्थः । अर्चैः स्तोत्रैश्च' ।
अतः सायणीय व्याख्यान की दृष्टि में श्री पीटर्मन 'शृपम्' के विशेषण होने को
सन्दिग्ध समझते हैं । अन्यत्र (३. ७. ६ में) 'अनुवाप शृपम्' का 'अनुपुष्यमाग
मुत्तम्' और 'स्तोम शृपम्' (६।१०।२) का 'स्तोत्रं मुखकरम्' अर्थ किया है । अन्य
दो ऋचाओं में शेष 'शृपम्' को 'नाक से घर्षण शब्द करना, तेजस्वी वीर्यवान्
माहसी' अर्थों में विशेषण मानते हैं । इन दोनों स्थलों (ऋ० ३।४९।२; ९।७१।२)

में सा० ने इस का अर्थ 'शोषक बल' और 'शोषक बलवान्' किया है। ल्यून्गि ने इस का अर्थ 'शक्ति के लिए' (अर्थात् सामर्थ्य प्रदान करने के लिए) किया है।

(11) स्तोता अपने इष्ट देव की जो स्तुति करता है उस में प्रधानतया स्तुति, सामर्थ्य आमतोप आदि सुख उस स्ताता को ही प्राप्त होते हैं, स्तुत देव पर उस का प्रभाव विचारणीय है। विष्णु ऋग्वेद का आनीदवात स्वधया तदेकम्' (ऋ १०।१२९।२) और 'एक सत्' (ऋ १।१६४।४६) ही है। उस के मनस्तोत्र का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ पर 'पापों दुर्वानना आ स्वार्थ आदि का शोषण—नाशक और इस प्रकार सद्भाव का सृजन करने वाला बल और सुखदायक स्तान भाव अन्वित है। इस भाव की गीता न 'यथाथात् कमणोऽचन लोकोऽय नमन्नन्धन' तथा—'सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजा पत । अनन प्रसादप्यधमप बोऽरिदण्डकामधुक् ॥ देवान् भावयतानेन त देवा भावयन्तु व । परस्पर भावयन्त अथ परमवाप्तयथ ॥' कह कर व्यक्त किया है।

२ उरुगायार्थ—दूसरे मन्त्र के 'भृगो न भाम कुचरा गिरिष्ठा' से तुलना करने पर इस की समता कुचर (सायण का अर्थ) से होती है। उधर एकमात्र विष्णु का विशेषण 'उरुक्रम —(ज०—महागति) है। अतः मैक्डोनाल्ड इस ✓ गा जाना से लेकर इस का अर्थ 'लम्बे पग भरन वाला' करते हैं। पीछे मन्त्र १ में उरुगाय पर भाग्यपूर्ण देख।

३ वृष्ण—श्री मैक्ममूलर लिखते हैं कि वृष्ण एक ऐसा पद है जिस का टीक-टाक अर्थ करना असम्भव है। यह वेदमन्त्रों में अनेकदा प्रयुक्त हुआ है। याद एक बार उन सब भावों को जान लिया जाए जिन का यह प्रकाशन करता है तो उस के भाव को सामान्य किन्तु अस्पष्ट रूप में समझने में कोई कठिनाई न रहेगी। यह ✓ वृष्ण—वार्थ सचन करना से बना है। इस का मूल अर्थ 'नर था। यह शक्ति, प्राधान्य, श्रद्धा विशिष्टता, प्राप्ति का द्योतक है। बहुधा यह पुरुष के कामासक्ति पक्ष को प्रकाशित करता है। फिर इस का अर्थ अमाश्रयार्थ, उपजाऊ आग जल्युक्त हो गया। यह 'वीर, बली' के अर्थ में अवस्था पद भी है, देवताओं का नाम और प्रशंसावाचक पद भी।'

(ii) सा० ने इस का अर्थ 'कामनाओं की वर्षा करने वाला' और दस० ने 'अनन्त वीर्य वाला' किया है। इस पद में सृष्टि के पूर्व असत् रूप से मत् की उत्पत्ति के निमित्त ब्रह्म के द्वारा तप की महिमा कामनारूप रेतस् के अपने में ही स्थापन करने का निर्देश उपलब्ध होता है। इस अनन्त रेतस्—वीर्य से ही भगवत् सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों की दृष्टाएं पूर्ण होती हैं। यही अर्थ यहा अभिप्रेत है।

४. इदं दीर्घं प्रयतं सुधस्यम्—मैक्डोनाल्ड इस से मन्त्र १ के 'उत्तरं सधस्यम्' के प्रतिपक्ष में 'पृथिवी' का भार ग्रहण करते हैं, सा० 'लोकत्रय' का और दस० 'बढ़ा हुआ उत्तम यज्ञताम्य सिद्धान्तावयवों से एक स्थान' का। ऋ० १०।१२१।५—येन द्यौरुमा पृथिवी च दृब्धा येन स्वः स्तमितं येन नानः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' की दृष्टि में यहा इस पदसमूह का अर्थ 'यह समस्त दृश्यमान दृढ सृष्टि' ही है। उत्तरं सधस्यम् में जीवात्मा का निर्देश होने से भी यहा पर पार्थिवपरमाणुजन्य जगत् का बोध ही अभीष्ट है।

५. एकं—विष्णु—ईश्वर अकेला ही समस्त सृष्टि का उत्पादक है, वह दूसरे किसी प्राणी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है।

६. त्रिभिः पुदेभिः—दस०—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म जानने योग्य अंश। सा०—तान पग। दस०—का अर्थ ही प्रकरणोपयोगी प्रतीत होता है।

संहितापाठः

पदपाठः

४. यस्य त्री पूर्णामधुना पदान्य्	यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना ।
अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।	पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया ।
य उ त्रिधातुं पृथिवीमुत घाम्	मदन्ति । त्रिः । उं इति । त्रिऽधातुं ।
एको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥	पृथिवीम् । उत । घाम् । एकः ।
	दाधार । भुवनानि । विश्वा ॥४॥

सायणभाष्यम्—यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयात्रेण

† देखो ऋ० १०।१२९।

मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान् । य उ य एव पृथिवीं प्रत्याता भूमिं
द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि
चतुर्दश लोकाश्च । यद्वा । पृथिवीशब्देनाधोऽर्तान्यतलधितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि । दशब्देन तद्वान्तरूपानि भूरादिसप्तभुवनानि । एष
चतुर्दश लोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि ।
त्रिधातु । त्रयाणां धानूनां समाहारस्त्रिधातुः । पृथिव्यप्तेजोरुपधातुत्रय
प्रतिष्ठितं यथा भवति तथा दाधार धृतवान् । तुजादित्वाभ्यासस्य दीर्घवम् ।
उत्पादितवानित्यर्थः । छन्दोगारण्यक—“तत्तज्जोऽमृजत तदन्नमसृजत ता आप
ऐक्षन्तः” इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा ‘हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृ-
तमेकैकां करवाणि” (छा० उ० ६।२।३४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपन्नान्ति ।
यद्वा । त्रिधातुः कालत्रय गुणत्रय वा दाधारेत्यन्यथ ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस (निष्पन्न) क [मधुना] सहद (आदि
मधुर गुण वाले पदार्थों) से [पूर्ण] भरे हुए [त्री] तीन [पदानि] पद
[अक्षीयमाणा] प्रमाणाहित होते हुए [स्वधया] (दिव्य) अन्न से [मदन्ति]
तृप्त करते हैं (आर) [उ] निश्चय से [य] जो [एक] अमला हा
[त्रिधातु] तीन धातुओं से [पृथिवीम्] पृथिवी [उत] और [द्याम्] द्युलोका
(आर) [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोकों को [दाधार] धारण किए
हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणिया—१ मधुना—मधु (नपु०) तृतीया एक व० । मा०—मधुर
।दिव्य अमृत से । दम०—मधुर आदि गुण से । राथ—मिठास, तीनों लोका म
प्राप्त होने वाले सुख और भोग विष्णु से ही प्रमाहित होते हैं । इने ‘स्वधया’
का विशेषण भी प्रनाया जा सकता है—मधुर दिव्य अन्न से । नपु० का प्रयोग
व्यत्यय से स्त्रालिग क लिए किया गया है ।

(11) ब्राह्मण ग्रन्था म मधु क अर्थों में प्राण, रस, ओषधिया का परम रस,
ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान (श० ११।५।४।१८), यह सब कुंठ
(श० ३।७।१।११) और अन्न आदि दिए हैं । इस मन्त्र में पानि’ व अप
व अनुरूप अर्थ किया जा सकता है । यदि पद का अर्थ ‘पग’ हा मान लें,

तो भी शब्द से भरे हुए पदों का भाव 'पदों से नापे गए लोक' होगा क्यों कि स्वयं पदों का मधुपूर्ण होने का कोई अर्थ नहीं है। अतः मधु का 'प्राण' अर्थ उचित प्रतीत होता है। प्राण = शाक्त से युक्त। श्री मै० आ० ने पदानि का भाव 'पदों में रहने वाले प्राणी' लिया है। पदपूर्ति के लिए पदान्वधीय० को पदानि अधीय० पटना होगा।

२ त्री, पूर्णा—दोनों क्रमशः त्रिणि और पूर्यानि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

३ अक्षय्यमाणा—अभयमाणा। मै० बिना किसी वृत्ता के। कमधारय समासों में नन् का 'अ' सग उदात्त होता है। ऐसे समास पदपाठ में अनव गृहीत रहते हैं।

४ स्वधर्मा—सा०—अत्रेण। दस०—अपने अपने रूप के धारण करने वाला किया।

(ii) लौकिक संस्कृत में स्वधा के अर्थ पितरों को दी गई आहुति के अन्त में उच्चारित पद, पितरों को प्रदत्त अन्न, माया या सासारिक भ्रान्ति के पुरुषवध रूप का नाम और एक अग्न्या का नाम मिलते हैं। सभी वेदमन्त्रों में प्रयुक्त स्वधा शब्द का परिचय नहीं था कि कि प्रो० वेनफी ने ग्राक सेपोस्, जमन सिन्ने ओएचएम० सिन्ने, गोथिक सिन्ने के आधार पर एक सदा 'स्वधा' की खोज की जो वैदिक साहित्य में मिल गई। प्रो० मैक्समूलर के मत में इस पद का मूल अर्थ—जिसी का अपना स्थान था और पीछे 'अपना स्वभाव' होगया।

(iii) परन्तु शोध की योजना भिन्न है। उनका विचार है कि भारत में स्वधा का वैदिक अर्थ बिल्कुल भूल जा चुका है। शोध ने तीन मन्त्रों—ऋ० ४. ३. ३६. ४।२. ३६. ४।३।३. में (१) रीति-रिवाज, शासन, ऋ० १।१. ३। ५. ६।१।८, ८।३. २।६, १०।१. ११।१, १।८. ६।१० में (२) परिचित स्थान घर, ऋ० ७।८।३, १।१. ६. ५।१-६, १।१. १३।१० में (३) सामान्य अवस्था, आराम, कल्याण, सन्तोष, ऋ० १।६।४. ३. ३।११, ६।१. ६-१५ आदि तथा प्रकृत मन्त्र में (४) सामान्य रूप में स्वच्छता से, इच्छानुसार, निर्भिन्न, स्वाभाविक रूप में अर्थ लिए हैं। इस मन्त्र के समान अन्य भी कई मन्त्रों में इसका प्रयोग 'मन्त्रिता' के साथ हुआ है। शोध के मत में मधुर पय, हविस्, पितरों को

प्रदत्त आहुति अर्थों वाला पद उपरोक्त स्वधापद से भिन्न है। इस दूसरे स्वधा को ही निधण्डु में उदक के नामा म पढ़ा गया है और नि० ७।२५ म अत्र वाचक माना है। रीति यह भी मानते हैं कि प्रकृत मन्त्र की स्वधापद अन्य मन्त्र—ऋ० १०।१४।६ के स्वधवान्ये मर्दांत में मिलकुल भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में स्वधया क्रिया विशेषण है, जिस का अर्थ—प्रमत्तता से, स्वार्धान रूप से हैं। दूसरा पद मन्त्र है—हविषा का साथ। अगर श्री राध की इस कल्पना को ठीक मान लिया जाए, तो दोनों मन्त्रों की रचना का बीच में समय का बड़ा अन्तर रहा होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ—रस और शरद् भी दिए हैं।

५ उ—मै०—भी। दस० —पादपूरण। सा० —एव = ही।

(11) इस मन्त्र में विष्णु के दो वीर कर्मों का वर्णन किया गया है—१. विष्णु का पदों का अक्षुण्ण रूप में मधु से पूर्ण स्वधा से आनन्दित होना २. तीन प्रकार से पृथिवी, बुलोक और समस्त लोकों का धारण करना। अतः यहाँ समुच्चय-बोधक निपात अभाष्ट होने से 'उ' का अर्थ 'और' करना उचित होगा। पद-पाठ में इस का आगे 'इति' लगा कर इसे सानुनासिक कर दिया जाता है।

६ त्रिधातु—मै० लिखते हैं कि इस नपु० रूप को मन्त्र १ न पाद ४ के स्वधा पद के समान क्रियाविशेषण का रूप में लेना अत्युत्तम रहेगा—तीन प्रकार से, अपने तीन चरण चल कर। यह पृथिवी और बुलोक के रूप में शिथिलता से व्याख्यात तीन लोकों का द्योतक भी हो सकता है। श्री पाटर्जन निधातु को पृथिवीमत व्याम् का समानाधिकरण मान कर दोनों को एक ही भाव का द्योतक मानते हैं—पृथिवी और बुलोक ही त्रिविध जगत् है। रीति ने ऋ० ४।४२।४—उत निधातु प्रथयद् वि भूम को उद्धृत किया है। सा० ने इस का अर्थ—और परमेश्वर ने व्यात आकाश को तीन प्रकार से विशेष रूप से पैलाया है—पृथिवी आदि तीन लोक बनाया है—किया है। यहाँ पर सा० का अर्थ—पृथिवी, जल और अग्नि—इन तीन तत्त्वों से निशिष्ट, दस० का सत्त्व, रजस् और तमस् आदि धातुओं वाले समस्त लोक-लोकान्तर (= निधा भुवनानि) है। ऋ० ४।४२।४ में भी दस० ने यही भाव लिया है। सूक्त के पिछले तीन मन्त्रों की दृष्टि में दस० का

व्याख्यान उचित मान्यम पडता है । सा० का अर्थ भी उपयुक्त है । परन्तु उस में पाँच भूतों में केवल तीन का ही निर्देश होता है । इस अर्थ में 'त्रि' को उपलक्षण मानना पड़ेगा । 'त्रि' को उ० ५।६६ ने √तृ पार करना से व्युत्पन्न किया है । इस आधार पर त्रिधातु का अर्थ—पार करने वाली, सब को वश में करने वाली धातु = धारक तत्त्व हो कर यह पृथिवी आदि पञ्च भूतों और सत्त्व, रजस् आदि गुणों और साख्य दर्शन के पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वों का चोतक हो जायेगा ।

७. दाधार—√धृ से लिट् प्रथम पु० एक व० । वेद में बहुत से धातुओं के अन्वास का स्वर दीर्घ पाया जाता है । दाधार ब्राह्मण में और पीछे भी प्रयुक्त हुआ है । पदपाठ में इसे ह्रस्व नहीं लिया जाता है ।

८. भुवन्तानि विश्वा—इस को पृथिवी और शुलोक के साथ तीसरे लोक का चोतक भी माना जा सकता है और 'पृथिवी और शुलोक इन की सीमाओं में बन्धे हुए ब्रह्माण्ड के सब लोक' का चोतक भी । अन्तर्तो गत्वा भाव समान रहेगा ।

संहितापाठ.

पदपाठः

५. तदस्य प्रियमभि पार्थो अश्यां	तत् । अस्पृ । प्रियम् । अभि ।
नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।	पार्थः । अश्याम् । नरः । यत्र
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था	देवयवः । मदन्ति । उरुक्रम-
विष्णोः पदे परमे मध्व	स्य । मः । हि । बन्धुः । इत्था ।
उत्सः ॥ ५ ॥	विष्णोः । पदे । परमे । मध्वः
	उत्सः ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—आतिथ्याया "तदस्य" इत्येषा प्रधानस्य याज्या । "अपातिथ्या" इति गण्डे सूत्रितम्—“इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पार्थो अश्याम्” (आख० श्रौ० ४।५) इति ॥ अस्य महतो विष्णोः प्रिये प्रियभूतं

तत् सर्वं सैव्यत्वेन प्रसिद्धम् पाथ । अन्तरिक्षनामैतत्, “पाथोऽन्तरिक्ष
 पाथ (नि० २ । २८) व्याख्यातम्” (नि० ६ । ७) इति यास्मिन्नेति तत्वात् ।
 अविनश्वर ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अद्याम् । व्याप्नुयाम् । तदेव विशिष्यते ।
 यत्र स्थाने देवयवो देव द्योतनस्वभावा विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदाना
 दिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति रुप्रिमनुभवन्ति । तदस्यामित्य
 न्वयः । पुनरपि तदेव विशेष्यते । उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रमसा
 णस्य तत्तदात्मना, अतएव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे
 निरतिशये केन्द्रमुखात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्पन्नो
 वर्तते । तदद्याम् । यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभय नास्ति सङ्क
 ल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगा प्राप्यन्त तादृशमित्यर्थः । ततोऽधिकं
 नास्तीत्याह । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धु स खलु सर्वेषां सुवृ
 त्तिना बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवता न पुनरावृत्ते । ‘न च
 पुनरावृत्तः’ (छा० उ० ८ । ११ । १२) इति श्रुतस्तस्य बन्धुत्वम् । हिंशन्
 सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—(म) [अस्य] इति (विष्णु) क [तत्] उस [प्रियम्]
 (कल्याणकारक होने से) अभीष्ट [पाथ] (रक्षा क) स्थान को [अभि
 भव्याम्] प्राप्त कर सर्व [यत्र] जिम में [देवयव] कल्याण क इच्छुक [नर]
 मनुष्य [मदन्ति] आनन्द प्राप्त करते हैं । [हि] इन सन्देह [स] वह
 (मैं) [इत्था] इस प्रकार [उरुक्रमस्य] व्यापक गति वाले (विष्णु) का
 [बन्धु] भक्त (रूप मित्र) हूँ । [विष्णो] विष्णु क [परमे] सर्वोत्कृष्ट
 [पदे] (प्राप्तप्य) स्थान में [मध्व] शहद का [उत्स] सरना है ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१ तत्—इसे उ० १ । १३२ म √ तन् स व्युत्पन्न किया
 गया है—तनुते वितृतो भवताव तत् । अतः वह वितृत पाथ, जिस का वर्णन
 अगले पाठ म किया है ।

२ अस्य—उ० ४ । १५७ म ‘इदम्’ को √ इन्द् परमैश्वर्यवान् होना से
 व्युत्पन्न किया गया है—इन्ति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति । निघ० ४ । १ । ६२ म
 ‘अस्य’ को पदनामो म पठ कर इसे गति, प्राप्ति और ज्ञान—अर्थ वाला माना

है। निधं० १। १२। १०१ में 'इदम्' को जल का पर्याय बताया है। (वेभाप० ३०। २९-३० भी देखें।) अतः यह 'परमैदमर्षशाली, सर्वव्यापक और कल्याणप्रद विष्णु का श्रोतक है।

३. प्रियम्—√प्री से। प्रसन्न करने वाला। तु. क. दभा०—येन प्रीणाति तत्। अतः कल्याणकारी, अमीष्ट।

४. पाथः—√पा रक्षा करना से। रक्षा करने वाला। सा०—१. अन्तरिक्ष, २. क्र० ७। ४७। ३ में—स्थान। दस०—पथः। पीटर्सन—घर। मै०—क्षेत्र आसित प्रदेश।

(11) यहाँ पर 'रक्षा, छाया' अर्थ लेना ही पर्याय है। तु. व० 'यस्य छायामृतम्'। ऋ० १०। १२१। २।

५. अभि अदयाम्—मै० इसे√अङ् पहुँचना का तुङ्लकारीय विधिलिङ् का रूप मानते हैं और सा०√अश् व्याप्त होना का निधिलिङ् उत्तम पुरुष एक व० का रूप। दस० ने इसे प्राप्त्यर्थक माना है।

६. नरः—√नी से। ले जाने वाले। अतः नेता, मनुष्य आदि। परन्तु मनुष्य सशरीर विष्णुलोक में नहीं पहुँचते हैं। वहाँ आत्माओं का ही निवास होता है। 'आत्मा' पद भी√अन् मतत गति करना से बनता है। अतः यहाँ पर भी 'आत्मा' भाव लेना उचित प्रतीत होता है।

७. कर्त्र—मै०—विष्णु के तीसरे पद में—स्वर्ग, त्रिस में पितरू यम के साथ सोम पीते हैं। इस में प्रथम पाद के 'प्रियं पाथः' का निर्देश मानना अधिक उपयुक्त रहेगा।

८. देव्यवः—देव देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः। उम का प्रथमा बहुवचन पु०। सा०—देव=श्रोतनस्वभाव विष्णु। दस०—देव=दिव्य भोग। देव पद भीष्मा रिजिगीषा कान्ति गति मोद मद्र सप्त आदि अर्थ वाले√दिव् से निष्पन्न होता है। अतः इस का अर्थ 'कल्याणकारक' भी है। मै०—देवों के भक्त। पीटर्सन—देवमीक जन।

१. उद्गमस्य स हि बन्धुरिस्था—सा०—‘म हि बन्धुरिस्था’—‘नि सन्देह
रूप प्रकार वह विष्णु मन्त्र पुण्यशीलो को मान या हितकारी है’ अथ कर न इस
निक्षेप वाक्य मानते हैं और ‘विष्णो पदे परम मध्य उम’—‘व्यापक परमेश्वर
न उद्गम फल सुरात्मक स्थान म माधुर्य का शरणा है’ को प्रधान वाक्य।
इस में ‘तद् अस्याम’ की पृवाड स अनुवृत्तिलात है।

(11) राय आर आ० ने ‘स हि०’ आर ‘विष्णो पदे०’ की पृथक् पृथक्
वाक्य मान कर ‘बड़ा शक्तिशाली गन्ता क मित्रों की समाज है आर विष्णु क
उच्चतम मानव म माधुर्य का शरणा है’ अर्थ करत हैं। इस प्रकार रोथ
बन्धु’ की स्वर्ग का समाज—दूसरे पाद क नरो दायर की द्योतक
समुदायवाचक सजा मानत हैं और इस क्र० १०। ११। ३ म वर्तित
मुनित्र, बाह्यपद विष्णु क नपात् और विक्रमण पितरा का द्योतक मानत है।

(111) ल्यूड्विग का विचार है कि सा० बन्धु और उम को एक मानत
है। इस आधार पर उन्हो न अपना अनुवाद—उस से सम्बन्धित वहा विस्तृत
गति बाँटे विष्णु क उच्चतम स्थान म मधु का शरणा है’ दिया है। परन्तु सा०
बन्धु को विष्णु से सम्बद्ध करत हैं, उस स नहा। दसो ऊपर (1) म सा०
की योजना का ध्यान। ल्यूड्विग वह भी कहत हैं कि भक्त की विष्णुनेत्र
म मानव क लिए कामना का कारण उस लोक म बन्धुभूत मधु क उस
का सत्ता है। सा० विष्णो पदे परम० को पाथ’ का विशेषा मानत है आर
इस प्रकार क वाशय पद का स्वामी होन क कारण ही विष्णु को बन्धु कहत
है। अतः ल्यूड्विग का एक मात्र आधार हा भ्रातिपूर्ण है।

(114) पात्सन का विचार है कि बन्धु’ म ‘देवता आर उम क भक्त न
रोच क बन्धन का निर्देश हो सक्ता है—‘निश्चय मे विष्णु का भ्रातृव इस
प्रकार का है कि म भी वहाँ जतने की आशा कर सकूँ। व इस का
पुष्ट म क्र० ७। ७२। १—युवयोर्हि न सरश विव्याणि समानो बन्धुस्त तस्य
वित्तम्—देते हैं। इस में बन्धु को सख्या का समानार्थक मानते हैं।

(115) मै० ‘स’ में ‘पाथस्’ का निर्देश मानत है और ‘बन्धु’ की
समीपता के कारण नपुंसक लिंग क स्थान म पुल्लिङ्ग का प्रयोग।

(VI) पित्रल ने उत्तरार्द्ध का अनुवाद—‘वितृत् गन्ता विष्णु क उच्चतम प्रदेश म नि मन्देह हमार सम्बन्ध है, वहा मधु का भरना है ।’—किया है । वे इत्या का अर्थ—‘वहा’ करते हैं ।

(VII) जैसा हिन्दी अनुवाद म दिखाया गया है यहा पर ‘स हि बधुरि था’ ‘अभि अद्याम्’ के कृता—स्तोता भक्त का निर्देशक प्रतात होता है । स्तोता अपने को विष्णु का कृपापात्र इस लिए समझता है कि उम को विष्णु क उम लोक का प्राप्त करने की लालसा है जिस में कल्याण क इच्छुक आनन्तित होत है और वहा मधु = कल्याण का उत्स = झरना = निरन्तर निवास है । इस लोक को वह विष्णु की कृपा से ही प्राप्त कर सकता है । तु क —नायमा मा प्रवचनेन लभ्यो न मयथा न ब्रह्मा श्रुतेन । यमवैष वृणुत तन लभ्यस्तस्यैष आमा विवृणुते तनु स्वाम् ॥ मुठ० ३।२।३ तथा—उत त्वस्मै तन्व विसृजे जायेव पत्य उद्यती सुधासा । ऋ० १० । ७१ । ४ ।

१० इत्या—मुठ विद्वान् इसे ‘अत्र’ से व्युत्पन्न करत है । परतु इदम् + था = इत्या रूप वितृत्तुल रूप है । उ० ४।१५७ में इदम् को √ इन्द से व्युत्पन्न किया गया है । अत इत्या—इस प्रकार कल्याणरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ।

११ बन्धु—व्रजाति इति बन्धु (उ० १ । १०) । बन्धक । उभयपक्ष एक दूसरे क स्नेह में फस जाने क कारण मित्र या सम्बन्ध बनन वाले दोनों ही पक्ष गन्धु कहलाते हैं । भक्त भी विष्णु का कृपा से उम क प्रेम में बंध जान के कारण विष्णु का बन्धु है ।

१२ पदे—√ पद् जाना, प्राप्त करना, जानना स । अत गन्तव्य, प्राप्तव्य और शतव्य स्वरूप में । विष्णु का स्थान उम का अगना स्वरूप ही है, क्यों नि वह सर्वव्यापक है—येवेष्टि विष्टप सर्वमिति विष्णु । वत्सन्त्रों म वर्णित विष्णु क पद का यही भाव है ।

१३ परमे—परम ‘ईश्वर’ अर्थ का लोचक है । इस √ पू पूरगायंर धातु म अमच् प्रत्यय लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है । (देखा दपाउ०

प्र० २८१ पाटि० १) । अतः यह पद पूर्ण उत्कृष्ट निश्चय स पूर्ण करने वाला भावों का द्योतक है ।

१४ मध्व—मधुन का वैदिक रूप है । उ० १ १८ आर २ । ११६ म इस √मन् स व्युपन्न माना गया है—मन्यत विगेषण जानन्ति यस्मिन् स मधु = (उ० १ । १८ पर ऋभा०) । मन्यत बुध्यते ययेन वा तत् मधु (= स मधु १ - उ० २ । ११६ पर ऋभा०) । श० ७ । ५ । १ । ३ में मधु को स्वर्ग लोक का रूप आर त ३ । ८ १४ । २ में महती देवता का रूप कहा गया है । ग० ३ । ७ । १ । ११ के अनुसार यह सत्र कुल मधु है । श० ६ । ४ । ३ । २ म मधु को रस ओर श० १४ । १ । ३ । ३० में प्राण कहा गया है । तै० ३ । २ । ८ । ८ म प्राणों को ब्रह्म कहा गया है ।

१५ उत्स—को उ० ३ । ६८ में √उन्त् भिगोना से व्युपन्न किया गया है—उत्ति क्लियतीत्युन्त् (दभा०) । श० ६ । ७ । ४ । ४ । में आप को उत्स कहा गया है । आप व्याप्ति का द्योतक है । अतः मध्व उत्स का भाव विष्णु = ब्रह्म के स्वरूप, ज्ञान, रस और तत्त्व की व्याप्ति होगा ।

१६ तदस्य—श्री पादसन के विचार म यह मन्त्र आगामी जन्म में सुखप्राप्त के विश्वास का सूचक है । दूसरे जन्म में सुख का अभिप्राय सामान्यतः स्वर्ग सम्पत्ति जाता है । ऊपर की त्पिणियों के अनुसार यहा स्वर्ग निर्देश्य नहीं है प्रत्युत विष्णु के स्वरूप में व्याप्ति = लय अर्थात् मोन का कथन किया गया है । इस से कमनाद, पुनर्जन्मवाद और सुखदुःख का चरण पूर्व जन्म के कर्मों का फल होना आदि विचारों की सत्ता और व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

६. ता ता वास्तून् युष्मन् गमध्वे । ता । ताम् । वास्तूनि । उष्मन् ।
 यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । गमध्वै । यत्र । गावः । भूरि-
 शृङ्गाः । अयासः । अत्र । अह ।
 अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः । तत् । उरुगायस्य । वृष्णः । पर
 परमं पदमत्र भाति भूरि ॥६॥ मम् । पदम् । अत्र । भाति । भूरि ॥६॥

सायणभाष्यम्—हे पत्नीयत्मानो वा युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन
 प्रसिद्धानि वास्तूनि सुरानि ग्रामयोग्यानि स्थानानि गमध्वै युयवोर्गमना
 योऽस्मसि कामयामहे । तत्र त्रिणु प्रार्थयाम इत्यर्थः । तानी युक्तं वानी
 त्याह । यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहु
 भिराश्रयणीया वायासोऽयना गन्तारोऽतिविस्तृता । यद्वा । यासो
 गन्तार । अताऽशा । अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः । अत्राह अत्र खलु
 वास्त्याभ्याम्भाने गमयेत् अत्रागच्छन् गमयिष्यन्-प्रगिरान्त्वाम्य स्तुयस्य
 वृष्ण वन प्रसिद्ध
 परम स्फुरति ।

अय मन्त्रा वास्तुन गावो रश्मराचक दात व्याच ग्नेन व्याख्यात — तान
 ता वास्तून् कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीत त्रुनो
 नामधेय प्रभवतात सत । शृङ्ग श्रयतना शृङ्गातेवा शम्भतेवा शरणायोद्धतामति वा
 शरमो जगत मात वायामोऽयना । तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागत परम पर
 पराव्ययमत्र भात भूरि । पाठ पत्रत' (निरु० २।७) शत ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[वाम्] आप दोनों के (अभीष्ट) [ता] उन
 (१ वाणत प्राप्त) [वास्तूनि] निवास स्थानों का [गमध्वै] प्राप्त करने का
 [उष्मन्] इच्छा करते हैं [यत्र] जहाँ [भूरिशृङ्गा] अनन्त उड़ते साँसे
 वाले [अयास] गातगाल [गाव] गाय (रहता है) । [अह] निश्चय से
 [अत्र] वहाँ [उरुगायस्य] महान् गात (अथवा प्रशंसा) वाले [वृष्ण]

इच्छाओ के पूरक (विष्णु) का [तत्] वह [परमम्] उच्चतम [पदम्] स्थान [भूरि] अत्यधिक [अब माति] जाज्वल्यमान है ॥ ६ ॥

टिप्पणिया—१ ता—तानि का वैदिक रूप । √तन् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण इस का भाव—धे प्रसिद्ध सुप्रिस्तुत—होता है । मन्त्र ५ में तद् पर टिप्पणी भी देखें ।

२ वाम्—यह युष्मद् का द्विताया, चतुर्थी या पष्ठी का रूप हो सकता है । सा० ने चतुर्थी का आर दस० और मे० आदि ने पष्ठी का रूप माना है । सा० ने इस में यज्ञमान ओर यज्ञमानपत्नी का निर्देश माना है । पीटसन लिखत हैं कि सा० का यह विचार ठीक नहीं । यहा विष्णु के सहचारी किसी अन्य देवता का निर्देश ही अभीष्ट है । वह देवता कान सा है—यह समस्या सरल नहीं । रौथ इस मन्त्र को मित्रायज्ञ का मानते हैं, जो 'परम पदम्' के प्रयोग के कारण इस सूक्त में अव्ययस्थित रूप में डाला गया है । इसी प्रकार का अन्य देवता—मित्र का निर्देश दून्ने देवता—वरुण के मूक्त म उम के सहचर के रूप में बिना उस का नाम लिए ऋ० १।२०।६ में भी आया है—तदित्समानमाशाते वनन्ता न प्र युच्छत । धृतव्रताय दाशुषे ॥ मै० इन (वाम्) में इन्द्र ओर विष्णु का निर्देश मानते हैं, क्योंकि विष्णु के साथ इन्द्र का ही घनिष्ठ साहचर्य है । इस कारण उसी की विष्णुसूक्त में आनुपगिक रूप में कल्पना सम्भव है । इस द्विवचनान्त वाम् पद के कारण अगले सूक्त (ऋ० १।१५५) के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्राविष्णू की स्तुति की जानी स्वाभाविक रही होगी ।

(११) दस० ने यहा योगी अध्यापक आर उपदेशक का निर्देश माना है । दस० ने इस के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है, न कोई व्याख्यान किया है । यह प्रकरण या मन्त्रस्थ वर्णन के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है । जैसा पिछले मन्त्र की टिप्पणियों में दिखाया गया है वहाँ परम पद का भाव विष्णु का स्वरूप ही है । वही वर्णन यहा है । इस स्वरूप को जानने और प्राप्त करने वाले योगी जन ही होते हैं, यह सिद्धान्त वैदिक काल से चला आ रहा है । तु. क. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुतिः ॥ ऋ० ५।८१।१, य० ५।१४।

उपद्वारे गिरीणा सगये च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ ऋ० ८।६।२८ ।
आदि । उपनिषदों और योगदर्शन आदि की भी यही भावना है ।

(iii) उ० १।१३९ में युष्मद् को $\sqrt{\text{युप्}}$ सेवन करना से व्युत्पन्न किया ।
गया है । $\sqrt{\text{युप्}}$ का रूप योषिष्ठि निघ० २।१४।५७ में गत्यर्थक है । अतः
निघ० ४।३।२९ में 'अस्मे' के पदनामों में पाठ के आधार पर 'युष्मे' को भी
पदनाम मानना अनुचित न होगा । उधर 'वामः' के समान 'वाम्' को $\sqrt{\text{वा}}$
जाना से भी ग्रहण किया जा सकता है । ऐसी परिस्थित में दस० का अर्थ ही
प्राप्त माना जा सकता है ।

३. वास्तूनि—उ० १।७० में इसे $\sqrt{\text{वस्}}$ धातु से 'अगार' अर्थ में
व्युत्पन्न किया गया है । $\sqrt{\text{वम्}}$ को निवास और आच्छादन-दोनों अर्थों में
लिया जा सकता है । आच्छादक निगम ।

४. उद्गमन्ति— $\sqrt{\text{वद्}}$ इच्छा करना से लट् लकार उत्तम पु० बहुवचन
का वैदिक रूप । इच्छा करते हैं ।

५. गमध्वै— $\sqrt{\text{गम्}}$ जाना से अध्वैन-प्रत्ययान्त तुमुन्वय में वैदिक रूप ।
जाने के लिए, प्राप्त करने के लिए ।

६. गावः भूरिशृंगा.—गा०—अत्युन्नत या सप्त के आश्रय के योग्य
किरण । पीटर्शन—असंख्य किरणों वाले तारे; दु० क० पुराणों में वर्णित गोलोक
और गोमूल । मै०—सा० और यास्क के किरण-अर्थ को सम्मेलन मानते हैं
क्यों कि उपर्युक्त की किरणों की गीर्वाणों से उपमा दी गई है और प्रवास के लोच
विष्णु के तृतीय पद के अनुरूप सूर्य के प्रकाश से सम्बन्धित वस्तु ही उद्गुक्त
हो सकती है । ये पीटर्शन द्वारा स्वीकृत रीति के 'तारे' अर्थ को निराधार
मानते हैं । भूरिशृंगाः—महुत से सींगों वाली का भाव अनेकों दिशाओं में
सूर्य की किरणों का फैलना है । दम०—भूरिशृंग-उत्कृष्ट तेजी वाली ।

(ii) तै० ३।९।८।३ में गौः को अन्न कहा गया है । अन्न को
श० ८।३।२।१ में श्रीः, तै० ३।२।३।४ में चन्द्रमा, श० ७।५।
२।६० में अपा पाथः कहा गया है । प्रत्येक भोग्य पदार्थ अन्न है ($\sqrt{\text{अद्}}$

से) । श० ७ । ५ । २ । १९ में गौ को विराट्, ता० ४ । ९ । ३ में विराट् का रूप, श० ७ । ५ । २ । १९ में अजस्र सोम और श० १२ । ९ । १ । ४ में पुरुष का रूप कहा गया है । अतः यहाँ गाव का भाग 'आनन्दन्यायन व्यासिशाल भोग्य सन्निधौ शान्तिप्रद विष्णु का स्वरूप' है ।

(111) श्र० १ । २१ में भूरिज को $\sqrt{\text{भू}}$ धारण-पोषण करना से व्युत्पन्न किया है, यास्क ने न० २ । ७ में बहु से, आर नहु को प्रभवतीति सत — समर्थ होने के कारण कह कर प्र + $\sqrt{\text{भू}}$ स । अतः भार-धारक, पोषक आर सर्वशक्तिमान् ।

(112) श्र० २ । ७ में $\sqrt{\text{श्रि}}$ सेवा करना आश्रय लेना, $\sqrt{\text{श्रु}}$ हिंसा करना, $\sqrt{\text{शम्}}$ शान्त होना (या करना), आर शरण + उद् + $\sqrt{\text{गम्}}$ से व्युत्पन्न किया गया है । अतः श्रृग—सेवनाय, दुःखनाशक शान्तिदायक और शरणभूत ।

(113) अतः पृवार्द्ध के महत्त्वपूर्ण पदों का सामूहिक भाग ग्रह हुआ—धारक पोषक सर्वशक्तिमान् सज्जीन दुःखनाशक शान्तिदायक शरणभूत आनन्दमय व्यापक प्राप्त करने योग्य शान्तमय परमेश्वर का स्वरूप रूप आच्छादक निरासों । ये निरास विष्णु का स्वरूप स भिन्न नहीं हैं ।

७ अध्याय — सा० — १ चलने वाला, गातमान्, आतविरत २ गर्तहीन-परम प्रशशमान । ऋ० — प्राप्त हुए, पहुँचे हुए । ये भाष्यकार यास्क के अनुसार इसे $\sqrt{\text{इ}}$ जाना का रूप 'अश्' का प्रथमा बहुवचन मानते हैं । मै० कहते हैं कि ऋग्वेद में अयासम् (द्विताया एव व०) अयाम् (२ ताया बहु व०) अयासाम् (६ टी बहु व०) के प्रयोगों से सात होता है । कि यह पद अयाम् है । सिंह, मरुतो, आर अश्व का वशपण होने से इन का अर्थ चुस्त ताव्रगामी, चपल होना चाहिए । रौथ इसे अ + याम् ($\sqrt{\text{यम्}}$ स) में मान कर इन का अर्थ अपने पर भार न डालने वाले, हल्के, चुस्त, कुशल वगैरे हैं । ऋग्वेद में यह अर्चय आर अजरा का भाग विशेषण है । पाप्सन — न बचने वाला । उ० ४। २२ में इसे $\sqrt{\text{इ}}$ से व्युत्पन्न किया गया है और अग्नि का पर्याय बताया गया है । देखो ऋ० — प्राप्त प्राप्तोत अया । अग्निवा । स्वरादपाठादव्ययम् । अतः एव गीतादिराम्य प्रत्यय । इस का अव्यय प्रत्ययैव

हैं। टपाउ० १।८१ में इस को अव्यय नहीं माना है। वहा पर वृत्तिवार ने इस के दो अर्थ काल और आदित्य दिए हैं। अतः ऊपर गायः आदि के भाव के अनुरूप इस का भाव—‘सृजक होने के कारण गतिमान्, काल रूप, सत्र का आश्रयता’ होगा।

(11) डुरुगायस्य—के लिए मन्त्र १ में उरगायः पर, वृष्णः के लिए मन्त्र ३ में वृष्णे पर, परमं पदम् के लिए मन्त्र ५ में पदे परमे पर टिप्पणियाँ देखें।



ऋ० २।१२-इन्द्रसूक्तम्

ऋषिः-गृत्समदः । देवता-इन्द्रः । छन्दः-त्रिष्टुप् । स्वरः-धैवतः ।

संहितापाठः

पदपाठः

७. यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान् । यः । जा॒तः । ए॒व । प्र॒थमः । मन॑स्वा॒न्
दे॒वो दे॒वान् क्र॑तु॒ना प॒र्यभू॑पत् । दे॒वः । दे॒वान् । क्र॑तु॒ना । प॒रि॒ञ्जभू॑पत् ।
यस्य॑ शु॒ष्माद् रोद॑सी अ॒भ्यसे॑तां । यस्य॑ । शु॒ष्मात् । रोद॑सी इति ।
नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स ज॑ना॒स इन्द्रः॑ ॥१॥ अ॒भ्यसे॑ताम् । नृ॒म्णस्य॑ । म॒ह्ना । सः ।
ज॒ना॒सः । इन्द्रः॑ ॥१॥

सायणभाष्यम्—द्वितीयेऽनुवाक एकादश सूक्तानि । तत्र “यो जात” इति पञ्चदशच प्रथम सूक्त गार्त्समद नैष्टुभमैन्द्रम् । ससने निष्पेबल्ये निविद्वानीयस्य पुरस्ताद् “यो जात एव” इति [सूक्त] शसेत् । “यदि पयायान्” इति सण्टे सूत्रितम्—“यो जात एवेति निष्पेबल्ये” (आश्व० श्रौ० सू० ६।६) इति । आभिप्लविके तृतीयेऽहनि निष्पेबल्ये “यो जात एव” इति निविद्वानीयम् । सूत्रित च—“तृतीयस्य व्यर्थमा यो जात एवेति मध्यन्दिन ” (आश्व० श्रौ० सू० ७।७) इति । विश्वजिति माध्यन्दिनसवने मैनावरुण त्वशस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं “यो जात” इति साममूक्तं शसेत् । “विश्वजितोऽग्नि नर ” इति खण्डे सूत्रितम्—“सत्रा मद्रासो यो जात एवाभूरेक इति साममूक्तानि” (आश्व० श्रौ० सू० ८।७) इति । अग्निष्टुनिष्पेबल्ये निविद्वानमिदम् “श्येनाजराभ्याम्” इति सण्डे सूत्रितम्—“तिश्र हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिन ” (आश्व० श्रौ० सू० ६।७) इति । महाव्रते निष्पेबल्ये “यो जात एव” इति सूक्तम् ‘उरू’ इति सण्ट सूत्रितम्—“वने न वा यो म्यवापि चाकन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्” (ऐ० आ० ५।१२) इति ॥

अत्रेतिहासो बृहदेवतायाम् (४।६५-७९) उक्त —

“सयुग्य तपसात्मानमैन्द्र विभ्रम्भद् वरु ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ मीमपराक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततु ॥
विदित्वा स तयोर्भावमृषि पाप चिकीर्षतो ।
यो जात इति सूक्तेन कमाप्यैन्द्राण्यनीतन्त ॥”

(बृहदे० ४।६६ ६८)

अन्त्रे त्वन्यथा वर्णयन्ति—पुरा कित्तेन्द्रादयो वै-यपस्त समाजम् ।
यत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत् । दैत्याश्चेन्द्रजिघामया तत्र समागमन् । तान्
दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् यत्समदावृत्ति । स च यत्समदो वैन्येन पूजितो
यज्ञवादान्निरगच्छत् । निर्गच्छन्त तमृषिं दृष्ट्वापमेवेन्द्र इति मयमानास्तमनुर
परिभ्रुः । नाहमिन्द्रस्तुच्छ, किन्त्वेवहुणोपेत स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच ॥

अपरे त्वेवं कथयन्ति—यत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्र शत्यामुग
परिभ्रुः । स इन्द्रो यत्समदरूपेण यज्ञवादान्निरगत्य स्वर्गं जगाम । ततोऽमुग इन्द्रो
विलम्बित इत्यन्त, प्रविश्य यत्समद दृष्ट्वा पूवमेव यत्समदो गतः, अयं त्विन्द्रोऽस्म
द्भयात् यत्समदरूपेणास्ति इति तं जगृहुः । स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन
प्रत्युवाच । अयमेतयो महाभारते प्रपञ्चितः ॥

यत्समदो ब्रूते । जनासो जना हे असुरा यो जात एव जायमान एव
सन् प्रथमो देवानां प्रधानभूतो मनस्वान् मनस्विनामप्रगण्यो देवो
द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान्
यागदेवान् पर्यभूयत् । रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् । “भूय अलङ्कारे” भूवादिः, लङि
रूपम् । यद्वा—सर्वानन्यान् देवान् पर्यभूयन् पर्यभूयद् अत्यक्रामत् ।
अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्तः । “भूयुक्तः किति” (पा० ७।२।११)
इतीतिप्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथि-
व्यावभ्यसेतामविभीताम् । “भ्यस्त भये” अनुदात्तेत् । “भ्यसते रेजत इति

भयवेपनयोः” (निरु० १।२१) इति नैरुताः । अभ्यसेतामवेपेता वा । तथा च मन्त्रान्तरम्—“इमे चित्तव मन्यवे वेपैने भियसा मही” (ऋ० १।८०।११) इति । नृग्नस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति । अत्र निरुक्तम्—“यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभजत् पर्यगृह्णात् पर्यरश्नदत्यक्रामदिति वा । यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यभिभीता नृग्नस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भजत्याख्यानसयुक्ता” (निरु० १०।१०) इति ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस [प्रथमः] प्रमुख पहले से ही वर्तमान [मनस्वी] महानुभाव [देवः] द्योतनशील देव ने [जातः] उत्पन्न होने [एव] ही [क्रतुना] (अपने) सामर्थ्य से [देवान्] (सब) देवा को [पर्यभूयन्] सब ओर से अलङ्कृत किया हुआ है, [यस्य] जिस के [शुष्मान्] बल से (और) [नृग्नस्य] नेतृत्व की [महिम्ना] महिमा से [रोदसी] द्युलोक और पृथिवी लोक [अभ्यसेताम्] मर्पते रहे हैं, [जनासः] (हे) पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥१॥

टिप्पणियाँ—१. यः—उ० १।१३२ में इसे √ यज् (देवपूजा, सगतिकरण और दान) से व्युत्पन्न किया गया है—यजति सर्वेः पदार्थैः सगतो भवतीति यत् (दभा०) । दस० ने यहाँ पर इमे ब्रह्म का नाम भी माना है । दपाउ० ६।४३ में इसे √ यत् प्रयत्न करना से व्युत्पन्न किया गया है । अतः इस का भाव ‘सृष्टिरचना में प्रयत्नशील प्रकृति के परमाणुओं और जीवा की योजना द्वारा समस्त पदार्थों का रचयिता ब्रह्म’ है ।

२. जात एव—पुरुषसूक्त में पुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है । विराट् से ही शेष समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में विराट् के वृष्टि, अग्नि, वाक्, पृथिवी, अन्न, आपः, यज्ञः आदि बहुविध अणु कर के इसी बात को व्यक्त किया है । विराट् पद वि + √ राज् चमकना से व्युत्पन्न होने के कारण ‘परम दीप्तिमान् स्थिति का द्योतक है । अतः उसे उत्पन्न होते ही सप्त देवों को विभूषित करने वाला कहा गया है । सब पदार्थों में

विराट् का तेज ही प्रभा और शक्ति है। इस दृष्टि से मै० का 'पछाड देने, नाचा दिखा देने' का भाव भी प्राह्य है।

३ प्रथम — सृष्टि से पहले न सत् था, न असत्। केवल 'एक तत्' ही बिना धातु के अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। देखो ऋ० १०।१२६।१-२। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। अतः उस 'तत् एक' ब्रह्म को प्रमुख, पहले से ही वर्तमान कहा गया है। 'प्रथम' पद √प्रथ् से (दपा० ७।२६, ४६) बनता है, अतः उस का अर्थ 'प्रसिद्ध, विस्तृत—व्यापक' भा होता है।

४ मनस्वान्—पदपाठ में इसे अवगृहीत नहीं किया गया है। मै० लिखते हैं कि यह स्थिति सचि क कारण है। यदि सधि मनोवान् होती तो इस अवगृहीत कर दिया जाता। उन का यह लेख ऋ० १।११।८ के मन ऽ चित् की दृष्टि में मान्य नहीं है।

(ii) इस के अर्थ सा० ने 'मनस्विया में अग्रगण्य', दस० ने 'विज्ञान युक्त', मै० ने 'बुद्धिमान्' और पीप्सन् ने 'भयकर, घोर, उग्र' किए हैं।

(iii) ऋ० १०।१२९।४ का मन्तव्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति क समय पुरुष के मन में कामना उत्पन्न हुई। यह कामना ही उस के मन में सृष्टि का स्वयम्भु, स्वतन्त्र यज्ञमय व्यापक घीन बनी। यही भाव यहाँ 'मनस्वान्' पर स्पष्ट व्यक्त किया गया है।

५ देव देवान्—सा० और आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न शक्तिविरोध देवताओं की कल्पना की हुई है। ये देवता उत्पन्न होने हैं। इन के नाम इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि हैं। इस मन्त्र के दूसरे पाद में इस कल्पना के आधार पर इन्द्र देवता को अथ देवताओं को अभिभूत करने वाला बताया गया है। इस में देवासुर सशाम अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत एक की दूसरे देवता से उत्कर्ष के लिए सघा लक्षित होती है।

(iv) दस० का विचार भिन्न है। व 'देव' पद को √दिष् धातु से निष्पन्न

कर इस धातु के क्रीडा आदि दसो अर्थों के प्रकाशक पदार्थों आदि को देवता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में ३३ देवताओं के व्याख्यान, ब्राह्मण ग्रन्थों के देव-पद के अर्थों तथा वेदों में देवताशब्द से निर्दिष्ट और शत पदार्थों आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार न केवल ब्रह्म या परमेश्वर ही देवता है, प्रत्युत समस्त उपकारक पदार्थ, विचार आदि देवता हैं। देव और देवता समानार्थक हैं। अतः 'परमात्मा सब पदार्थों को अपनी शक्ति से तेजस्वी बनाता है, अपने सृष्टिकर्म से उन्हें उत्पन्न कर अपने शासन में स्थापित करता है।'।

६. ऋतुना—सा०—वृत्रवध आदि अपने कर्मों से। दस०—प्रकाश कर्म से। रौथ शक्ति से। मै०—सामर्थ्य में।

(११) इस मन्त्र और सूक्त में इन्द्र को सूर्य मानने पर सा० और दस० के अर्थ उपयुक्त हैं। परन्तु सृष्टिरचना प्रकरण में ये अर्थ उपयुक्त नहीं। यहाँ पर ब्रह्म का अपने मन से सृष्टिरचना की कामना रूपी यज्ञमय स्वयंभु स्वतन्त्र और व्यापक रेतस् कहलाने वाले बीज को धारण कर के सृष्टिरचना रूप कर्म और शक्ति अभिप्रेत हैं।

७. पर्यभूषत्—मै० के विचार में परि + √भूष का अर्थ अनिश्चित है। परन्तु इस सूक्त में इन्द्र की महिमा के वर्णन के कारण इस का अर्थ 'अभिभूत करना' होना चाहिए। सा० ने इस का अर्थ यहाँ पर 'रक्षाओं से अभिभूत किया, और तैसं० में 'नीचा दिखाना', 'उत्कृष्ट हो जाना' किया गया है। रौथ-सुशोभित किया।

८. शुष्मान्—पीटर्सन इसे √श्वस् सास लेना से व्युत्पन्न कर इस के अर्थ 'जिस के श्वास पर, जिस के सास के सामने से' करते हैं। यह पद मरुतो के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १।५२।४ में यह मरुतः का विशेषण है। वे लिखते हैं कि यहाँ 'श्वास' का अर्थ 'शक्ति' करना पद को गद्य में बदलना है।

(११) इस के अनुरूप पद 'शूषम' का प्रयोग पिछले सूक्त (१।१५४) के

मन्त्र ३ में किया गया है। जैसा वहाँ की टिप्पणियों में दिखाया गया है भारतीय भाष्यकार इसे √ शुप से व्युत्पन्न करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म के यशमय कामना रूपी बीज को मन में धारण करने से सर्वप्रथम अप्रकेत सखिल (= आप) की उत्पत्ति हुई। इसी आप से समस्त सृष्टि का आनिर्भाव हुआ। इस से पदार्थों की विविध गुण युक्त रचना और विभिन्न स्थलों में बँट होना— सब कुछ इन्द्र की शोषक शक्ति से सम्पन्न हुआ है। अतः शुष्मात् का प्रयोग साभिप्राय है।

९. रोदसी—रोदयौ का वैदिक रूप है। यह पद शुक्ल और पृथिवी लोक का द्योतक है (देखो वै०, नि० ३।१०।४)। निघ० ५।५।३६ में इसे पदनामा में पठ कर गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थ वाला माना है। नि० ६।१ में इसे रि + √ रुध् से निरुक्त किया गया है। नि० ११।४६ म एङ्गचनान्त रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा गया है। तै० २।२।६।४ म 'यदरादीत् (प्रजापति) तन्नयो (द्यावापृथिव्यो) रोदस्त्वम्' कह कर इसे √ रुद् से व्युत्पन्न माना है। सृष्टिरचना के समय के अप्रकेत सखिल ही प्रजापति हैं। पृथिवी और शुक्ल के प्रयत्न के समय महान् शब्द की सत्ता के कारण इन्हें रोदसी कहा गया है। उन का शब्द ही रोना है। डा० फतहसिद्द लिखते हैं कि एक दूसरे से पृथक् ज्ञात जीव और प्रकृति को भी रोदसी कहते हैं। (देखो वै० ६०९)।

१०. अभ्यसेताम्—√भ्यस् कापना से लङ् प्रथम पु० द्विवचन। वेदस्थ भूतकालिक क्रियाएँ बहुधा वर्तमान काल का अर्थ देती हैं। यहाँ पर इस पद का भाव 'अलग अलग हो कर अपने अपने स्थान पर जमे' हागा। दस०—अलग होते हैं। मै० डरते हैं।

११. नृम्णस्य महुा—सा०—सेनारूप बल की महिमा से। दस०—धन की महिमा से। मै०—धीरता की महिमा से।

(१२) नृम्ण पद √ नृ (ले जाना) से बनता है। अतः इस का अर्थ 'नैतृत्व' किया जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, धारक और नाशक

होने के कारण परमात्मा (- इन्द्र) ही नायक है । उस के नायक गुण से ही समस्त सृष्टि की सत्ता है ।

✓ १२. मह्ना—महिमन् से तृतीया का एक व० । वैदिक रूप ।

✓ १३. स र्जनासु इन्द्रः—यह प्रतीक अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर इस सूक्त के शेष सब मन्त्रों के अन्त में पाई जाती है ।

(ii) श्री पीटर्सन लिखते हैं कि इस का सायणीय व्याख्यान—‘मैं नहीं, वह इन्द्र है’—बृहदेवता से उस के द्वारा उद्धृत उपहासास्पद कथा की ओर निर्देश करता है । इस कथा से बृहदेवता के रचयिता और इस सूक्त के रचयिता के बाल और भावनाओं में दूर का अन्तर सुलभित होता है ।

(iii) सायण ने इस सूक्त के सम्बन्ध में तीन आख्यान दिए हैं । तीनों का भाव यह है कि असुर गृत्समद को ही इन्द्र मान कर उस पर आक्रमण करते हैं । गृत्समद उन के भाव को जान कर अपनी रक्षा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों से असुरों को बताता है कि वह इन्द्र नहीं है, प्रत्युत इन्द्र का स्वरूप उस के वर्णन के अनुसार है । असुरों को यह तथ्य जान कर गृत्समद को नहीं मारना चाहिए ।

(iv) इन्द्र की स्थिति तो स्पष्ट है । वह इस समस्त जगत् का रचयिता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही है । गृत्स को 'नघ० ३।१५।३ में मेधाविनामा में पढ़ा गया है । अतः मेधावियों में मद के समान उत्कृष्ट या आनन्द लेने वाले को गृत्समद कहते हैं । जन लोग इस व्यक्ति को ही ब्रह्म समझने लगते हैं तो ब्रह्मशानी मेधावी (= गृत्समद) उन्हें बताता है कि जीवात्मा ब्रह्म नहीं है । उस में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो ब्रह्म में है और इस सूक्त में वर्णित की गई है । उत्पन्न होने वाले का नाम जन है । अमूर्न् प्राणान् रति गृह्णति धारयतीत्यसुरः—इस व्युत्पत्ति से 'असुर' 'जन' का पर्यायनाची हो जाता है । अलंकार से रचित इस सूक्त से सम्बन्धित कथाओं का उपरोक्त भाव सुस्पष्ट हो जायगा ।

✓ १४. इन्द्रः—ऋग्वेद के धर्म में यह प्रमुख देवता है । यह वीरकर्म करता है और सोमरस पीने में सर्वाधिक रुचि लेता है । इस का प्रमुख कर्म वृष या अहि या सर्प का वध है । सामान्यतः इसे सूर्य माना जाता है ।

(ii) एक मन्त्र (ऋ० १।१०७।१९) में इसे इन्दु + रन् से व्युत्पन्न माना प्रतीत होता है। डा० फतहसिंह ने वैदिक साहित्य से इस की लगभग १७ व्युत्पत्तियाँ संकलित की हैं और उन को पाँच वर्गों में रक्खा है—

१. इन्धः

२. इदम् + √ दृ ; इदम् + √ दृश् ; इदम् + √ धर् ; इद + कर ।

३. इराम् + √ दृ , इराम् + √ दा ; इराम् + √ धा ।

४. इन्दु + √ दृ , इन्दु + √ रम् ; इन्दु + रन् ।

५. इन्द—र ; इन्द् + √ दृ ; इन्द् + √ दृ ; इन्द् + आ दृ ।

उन के विचार में इन्द—र ही सर से उपयुक्त निर्वचन है। इस की अवे० ओदिन् या वादिन् से घनिष्ठ समानता है। (देखो वैए० पृ० ६४ ; १०२) । टस० ने भी इसे √ इदि परमैश्वर्य से निरुक्त किया है और इस के अनेकविध अर्थ जैसे परमेश्वर, सूर्य, राजा, और विद्वान् आदि किए हैं। आधुनिक विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाएँ ढोड़ा कर इन्द्र का मूल स्वरूप बताने का भगीरथ प्रयत्न किया है। एक ने तो इसे ईरान का रुतम नामक पहलवान ही धोषित कर दिया है।

(iii) परन्तु विचारणीय यह है कि ऋ० १।१३६।६ में 'इन्द्र' अग्नि का विशेषण है और ऋ० ७।७६।३ में उपस् के विशेषण 'इन्द्रतमा' में इस के साथ तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। पुनरुक्त ऋग्यजु में इस का अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से तादात्म्य पाया जाता है। इसे 'एक सत्' का नाम भी कहा है। अतः 'इन्द्र' पद ऋग्वेद में किसी एक वस्तु या दृश्य विशेष का चोतक नहीं। भिन्न भिन्न स्थलों पर इस का विषयानुसार अर्थ करना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के इन्द्रपद के अनेकविध अर्थों—तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलक, वीर्य, शिभ, उद्गाता, अश्व, आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

संहितापाठः

पदपाठः

८. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहत् । यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् ।
यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रकुपि-
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो । अन्तरिक्षम् । विममे । वरीयः ।
यो द्यामस्तम्भान् स जनासु इन्द्रः । यः । द्याम् । अस्तम्भान् । सः ।
॥२॥ जनासुः । इन्द्रः ॥२॥

सायणभाष्यम्—हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् । “दृह दृहि [बृह वृद्धि] वृद्धौ” । यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णान्नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । अरम्णात्—“रम् क्रीडायाम्” अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन स्नाप्रत्ययः । यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः । यश्च द्या दियमस्तम्भान् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । “स्तम्भु गेघने” इति सौत्रो (पा० ३।१।८२, ८३।१।१६) घातुः । स एवेन्द्रो नाहमिति ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [व्यथमानाम्] कापती हुई [पृथिवीम्] पृथिवी को [अदृंहत्] स्थिर किया हुआ है, [यः] जिस ने [प्रकुपितान्] चंचल [पर्वतान्] पहाड़ों को [अरम्णात्] शान्त किया हुआ है, [यः] जिस ने [वरीयः] महान् विस्तृत [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष लोक को [विममे] बनाया है और [यः] जिसने [द्याम्] घुलोक को [अस्तम्भान्] जमाया हुआ है, [जनासुः] हे मनुष्यो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. व्यथमानाम्—मैत्रायणी संहिता १।१०।१३ में एक आख्यान मिलता है जिस में कहा गया है कि पर्वत प्रजापति के बड़े पुत्र थे

उन के पल थे। अतः जहाँ चाहते थे वे बैठ जाते थे। इस से पृथिवी शिथिल रहती थी। इन्द्र ने पर्वतों के इन पलों को काट दिया और पृथिवी को स्थिर कर दिया। पर्वतों के कटे हुए पल बादल (—जीमूत) बन गए। अपना उत्तराति-स्थान होने के कारण ही बादल वर्षा ऋतु में पर्वतों पर आश्रय लेते हैं।

(ii) इस आख्यान में मानवसृष्टि से पूर्व का वर्णन है। उस समय सब कुछ अस्थिर, चञ्चल था। अभी वस्तुओं का स्वरूप बन रहा था। इस स्वरूप का निर्माता इन्द्र था—यह इस सूक्त से ज्ञात होता है।

(iii) दस० ने इस भाग का भाव '(परमेश्वर ने) सूर्य के निर्माण द्वारा चलते हुए पृथिवी आदि लोका को अपनी अपनी परिधि में गति करने के लिए धारण किया हुआ है' लिखा है।

२. प्रवृत्तिर् अरम्णात्—प्रवृत्तिर् + अरम्णात्। वैदिक सन्धि। ऋग्वेद में पदान्त आन् को स्वर आगे आने पर ओ लिखा जाता है। ऐसे अधिकांश स्थलों में आन् मूल आन्स् के लिए प्रयुक्त हुआ है। आगे स्वर आने पर इस आन्स् को आस् के समान ही समझ कर सन्धि की जाती है। (देखो पीटर्सन हिग्ज फ़ौम दी ऋग्वेद, भाग १, पृ० ७२—शृ० १।२५।११ में चिकित्वाँ पर टिप्पणी।

(ii) आधुनिक विद्वानों का कहना है कि इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में √वृप् का अर्थ 'गति' था और यह वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता था। लक्षणा से यह वातु मौक्तिक जगत् से हट कर भावात्मक मानसिक जगत् में प्रयुक्त होने लगी और वहाँ सत्कृत में यह 'व्रो' की और लैटिन में 'इच्छा' की स्रोतक बन गई।

(iii) अरम्णात् में भी गन्धार्थ के प्रसार पर इसी प्रकार का प्रकाश मिलता है। वेद में इस का अर्थ 'विश्राम करना' है, परन्तु लोक में यह सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करने में प्रयुक्त होती है, केवल विश्रामजन्य सुख के उपभोग का ही नहीं।

(iv) परन्तु ऋग्वेद १।५४।४ के 'त्य दिवो बृहत्तः सानु कोपयः', ५।५७।३

के 'कोपयथ पृथिवीं पृथिमातरः', १०।४४।८ के 'द्यौः क्रन्ददन्तरिभाणि कोपयत्' और प्रकृत मन्त्र में ✓ कुप् का प्रयोग एकान्ततः बाह्य गति का द्योतक नहीं माना जा सकता । इस में क्रोध का भाव स्पष्ट झलकता है । ऋ० १।१४।१३ में 'कुपयम्' को भी ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है ।

(७) ऋ० ८।१०।१४ के 'न सवाशय रमते', १०।१४५।४ के 'नो अस्मिन् रमते जनः', ५।५२।१३ के 'तमृधे मारुत गण नमस्या रमया गिरा', १०।४२।१ के 'नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्', ७।५६।१६ के 'इमे तुर मरुतो रामयन्ति', १०।३८।१३ के 'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः' में ✓ रम् का प्रयोग लौकिक अर्थों में ही हुआ है । इन मन्त्रों के ऋषियों में से जमदग्नि, श्यावाश्व, कृष्ण और वसिष्ठ प्राचीनतम काल के हैं । वे श्वेतमद से पीछे के नहीं हैं । अतः प्रकृत मन्त्र में ✓ रम् के प्रयोग को उपर निर्दिष्ट निष्कर्ष का पोषक मानना विचारणीय है ।

(८) दस० ने निध० २।१९।२४ (वधकर्मा) के आधार पर इसे वध—अर्थ में लिया है—जो (सूर्य) अत्यन्त कोपमुक्त शत्रुओं के समान वर्तमान मेघों को छिन्न भिन्न करता है ।

३. विममे—पीछे ऋ० १।१५।४।१ में विममे पर टिप्पणी देखें । श्री म्यूर लिखते हैं कि यहाँ पर इस का अर्थ 'निर्माण किया' हो सकता है । दस०—विशेष रूप से मान करता है ।

४. वरीयः—उद + ईयस्, नपु० द्वितीया एक व० । मै० का विचार है कि इस का प्रयोग 'विस्तृत होने के लिए पैला हुआ' भाव का व्यञ्जक है । तु० क०—'अकृणुतमन्तरिक्ष वरीयोऽग्रथन जीवसे नो रजामि' (ऋ० ६।६६।५)—'इन्द्र और विष्णु तुम ने अन्तरिक्ष को चौड़ा किया है और हमारे रहने के लिए स्थानों को पैलाया है ।'

१. जमदग्निर्मार्गधः ।

२. इन्द्राणी ऋषिका ।

३. श्यावाश्व आत्रेयः ।

४. कृष्ण आगिरसः ।

५. मैत्रावरुणिवसिष्ठः ।

६. कवय ऐल्हपः, अशो मौजवान् वा ।

(ii) उन्—१८✓ऊर्णु (हवना) से अनता है । अतः यहाँ आच्छादक अर्धं अभिप्रेत है । ऊपर उद्धृत श्रु० ६।६६।५ में भी वरीयः का यही अभिप्राय है ।

५. याम्—यो का द्वितीया एक व० । सा०—स्वर्ग । मै०—आकाश, स्वर्ग । दम०—प्रकाश ।

६. अद्दहन्, अरम्णान्, अस्तम्नात्—क्रमशः ✓दह्, ✓स्म और ✓न्तम् से टट् लकार प्रथम पु० एक व० के रूप हैं ।

संहितापाठः

पदपाठः

१. यो हुत्वाहिमरिणात् सुप्त	यः । हुत्वा । अहिम् । अरिणात् ।
सिन्धून्	सुप्त । सिन्धून् । यः । गाः ।
यो गा उदाजदपथा वलस्य ।	उत्प्राजत् । अपथा । वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान	यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् ।
संवृक् समत्सु स जनासु इन्द्रः	जजान । सम्वृक् । समत्सु ।
॥३॥	सः । जनासुः । इन्द्रः ॥३॥

सायणभाष्यम्—योऽहिं मेघं हुत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्वन्दनशीला अपोऽरिणात् ग्रैरयन् । यद्वा सप्त गङ्गायमुनाया मुन्या नदीररिणान् । “शीद् सवणे” ऋषादिः । यश्च वलस्य चलनामकस्या-सुरस्य अपथा तत्त्वर्तुकाग्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजन्निरगमयन् । अपथा । अपपूर्वाद्धातेः—“अतश्चोपसर्गे” (पा० ३।३।१०६) इति भावऽङ् प्रत्ययः । ‘मुपा मुलुक्००’ (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः । यश्चाश्मनोः—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः । अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेषयोर-न्तर्मध्ये वैद्यतमग्निं जजानोत्पादयामास । यश्च समत्सु—सम्भक्षयन्ति योद्धृणामा यूपीति समदः सङ्ग्रामः तेषु—संवृक् भवति । वृणक्तेर्हि सार्यस्य विपि रूपम् । स इन्द्रो नाहमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [अहिम्] सर्प (—सहस्र वृत्र) को [हत्वा] मार कर [सप्त] सात [सिन्धून्] धाराओं को [अरिणान्] बहाया है । [यः] जिस ने [वलस्य] बल के [अपथा] बाढे से [गाः] गौओं को [उदाजत्] बाहर निकाला है [यः] जिस ने [अश्मनोः] दो पत्थरों के [अन्तः] बीच में [अग्निम्] आग [जजान] उत्पन्न की है, (और जो) [समत्सु] युद्धों में [सवृक्] मार-काट करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषों, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥३॥

टिप्पणियाँ—१. अहिम्—ऋग्वेद में इन्द्र वृत्र युद्ध का बहुत वर्णन आया है । वृत्र को एक राक्षस माना जाता है जो जला को आवृत किए रहता है । इस को 'अहि' भी कहते हैं । सोमपान कर के इन्द्र मरुतों के साथ इस राक्षस का वध करता है और जला को मुक्त करता है ।

(२) इस आलंकारिक वर्णन के व्याख्यान में विद्वाना में भारी मतभेद रहा है । ऐतिहासिक वृत्र को त्वाष्ट्र असुर मानते थे और नैवृत्त मेघ । कुछ इसे रात्री का अन्धकार, हिलेब्राण्ड नानी को जमाने वाली घोर सदा, तिलक ध्रुव प्रदेशों में प्राप्त दार्चकालीन अन्धकार समझते हैं । इस प्रकार इस के व्याख्यान में आजकल चार मुख्य वाद मिलते हैं—१. मेघवाद २. उपोवाद ३. वसन्तवाद और ४. ब्रुवप्रदेशवाद । (देखो घाटे-लेक्चर्ज औन दी ऋग्वेद पृ० १३७—१४१) । प० ब्रलदेव उपाध्याय ने इसे दुर्भिन्न और अकाल का असुर माना है । ऐतिहासिकों के पक्ष में इन्द्र देवताओं का राजा है । शेष सब वादों में इन्द्र सूर्य ही है ।

(३) ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही इस वर्णन में अनेक दृष्टियों—वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक आदि का समावेश कर दिया गया । ऐसी स्थिति में किसी एक मत या वाद द्वारा इन्द्र-वृत्र युद्ध के समस्त वर्णनों का व्याख्यान सम्भव नहीं । जैसा वर्णन सामने हो वैसा ही व्याख्यान कर देना उचित होगा । ब्राह्मण ग्रन्थों के वृत्र के सब कुछ का आच्छादक, पाप्मा, उदर, सोम, चन्द्रमा आदि अर्थ और दम० के वृत्र के मेघ, शत्रु

सेना, धर्म के धसक, जलदाता, प्रजाजन्य सुप्त में मग्न, कुम्भिल, अज्ञान, आवरण, जल, धन, और शत्रुओं को पराजित करने वाले कम आदि अर्थ इस दृष्टि से ही प्रस्तुत किए गए हैं। डा० पतह सिंह ने वैदिक दशन में इस आरयान के दार्शनिक पक्ष का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

(१७) वृत्र का वध केवल इन्द्र का ही कर्म नहीं है। अग्नि, आप, देवा को भी वृत्र का ह ना कहा गया है।

(१८) भाष्यकारों ने 'अहि' को $\sqrt{\text{इ}}$ जाना, $\sqrt{\text{अह्}}$ व्याप्त करना, आ + $\sqrt{\text{हन्}}$ माग्ना आदि से व्युत्पन्न किया है। डा० पतहसिंह इसे न + $\sqrt{\text{हि}}$ जाना से व्युत्पन्न मानते हैं (देखो वै०—अहिपद)।

२ अरि^१णान्— $\sqrt{\text{रि}}$ बहना, + लृट् प्रथम पु० एक व०। मै०—मुक्त कर दिया। मन के इस भाग में इन्द्र-वृत्र युद्ध की ओर सकेत है जिस म इन्द्र-वृत्र को मार कर जलों को मुक्त करता है। तु० क० ऋ० २।१४।२—यो अपो ववृवास वृत्र जघान—जिस ने जलों को आच्छादित करने वाले वृत्र को मारा।

३ सप्त सिन्धू^१न्—सा० ने इस के दो व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं—एक सामान्य-बहने वाले जल। दूसरा—गंगा आदि सात नदियों। इन नदिया का नाम गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी दिए गए हैं। श्री मैक्स मूलर का विचार है कि ऋग्वेद के आर्यों का जीवन सिन्ध की घाटी और पञ्जाब म घीता। यही क्षेत्र वैदिक सप्तसिन्धु है। उस काल म गंगा दोआब का शान विरलातिविरल था और दक्षिण की खोज तो अभी हुई ही न थी। आजकल सामान्यतः यही मत प्रचलित है। इन के विचार में पञ्जाब की पाँच नदियों, सिन्धु और सरस्वती ही सात नदियों हैं। ल्यूडियग आदि सरस्वती के स्थान पर कुमा को रखते हैं। थामस के विचार म ओक्सस प्राग्भिक् सात नदियों में अवश्य रही होगी। जिम्मरमैन इन नदियों की पहचान पर कोई शक नहीं देना चाहते। वैद० इस से सहमत है और 'सात' को आर्यों की प्रियसरपा बताता है। अन्य भी कई विद्वानों ने सप्त सिन्धुओं को समार के विभिन्न देशों

में खोजने का प्रयास किया है। एक विद्वान् ने ईरान में एक सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना की है।

(ii) इस में सृष्टिरचना के समय हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर आदि सात प्रसिद्ध महासागरों के निर्माण का वर्णन अभिप्रेत हो सकता है।

(iii) पुनरुक्त अशों में 'सप्त' 'बहु' के अर्थ में आया है। इस आधार पर 'समस्त जल की धाराएँ और कोय' भाव लिया जा सकता है। तु० क० ऋ० १।३२।१२ में दस० का व्याख्यान—बड़े-बड़े जलाशय, नदी, कुँआ और साधारण तालाब ये चार जल के स्थान पृथिवी पर और समीप, बीच और दूर देश में रहने वाले तीन जलाशय (मिल कर कुल सात जलाशय)।

४. गाः गो का द्वितीया बहुवचन। सा० मै० आदि—गौएँ। दस०—पृथिवियाँ।

(ii) सा० और आधुनिक विद्वानों ने इस मन्त्र में बलनामक राक्षस के गायों को चुगने, इन्द्र का उस को मारने और उस के स्थान से गायों के उद्धार का वर्णन माना है। श्री मै० ने इस अर्थ की पुष्टि में ऋ० २।१४।३—'यो गा उदाजद् अप हि बल व.'—'जिस ने गौओं को बाहर निकाला, क्यों कि उस ने बल को अनावृत कर दिया'—दिया है। दस० ने गाः उदाजत् और बलस्य अपधा—ये दो वाक्य बना कर 'पृथिवियों को ऊपर प्रेरित करता अर्थात् एक के ऊपर एक को नियम से चला रहा है' और 'बल को धारण करने वाला' अर्थ किए हैं। सावर्णाक अर्थ में इन्द्रवृत्र युद्ध के दो पक्षों का वर्णन स्पष्ट लक्षित है—१. मेघ के हनन द्वारा वर्षा करना और २. अन्धकार को नष्ट कर के प्रकाश की किरण फैलाना।

(iii) परन्तु पिछले मन्त्रों में इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन किया गया है जो अभी चाह है। इस में जलीय प्रदेशों की रचना, लोकों का अर्क^१ की स्थिति से निकाल कर उन्हें दृश्यमान रूप में स्थापित करना, समस्त गति (अग्नेजी—एनर्जी) को प्रवृत्त करना, विद्युत् के उत्पादन और सहायशक्ति की प्रवृत्ति

१. अर्क—अप्रकेत सलिल के पश्चात् की द्रवमय तेजःपूर्ण स्थिति। देखो वृआउ० १।२।१-२;। इस में सृजक शक्ति का वर्णन है।

का वणन किया गया है। आगे मन्त्रों में वणित इन्द्र के कर्म इन कर्मों व प्रतिप्रसन्न कहे जा सकते हैं।

५ उदात्त—उत् + √ अञ् (गति, क्षेपण) + लृट् प्रथम पु० एक व० । सा०—निकाला । मै०—बाहर हारा । दोनों का भाव एक ही है। दस०—ऊपर प्रस्थित किया करता अर्थात् एक के ऊपर एक का नियम से चला रहा है।

६ अपधा—दस पद के ठीक ठीक अर्थ करने में कुछ संशय है। यह पद केवल इसी स्थल पर प्रयुक्त हुआ है। पीन्सन् इसे अगले मन्त्र के गुहा पद के समान सप्तम्यन्त मानते हैं। रीथ, नैनमैन, आसमैन और मै० इसे तृतीयात् मानते हैं। रीथ का अर्थ है—बल के छिपने के स्थान से और आसमैन का सूत्र, चाबी (वधन)। मै० इसे अपधा का तृतीयान्त रूप मानते हैं और ऋ० २।१४।३ के अर्थवृ (ऊपर गा की शिपिणी में उद्धृता के समानान्तर मान कर दस का अर्थ 'अनावरण'—'बल की गुहा का अनावरण करते हैं। इस की पुष्टि ऋ० १।११।५—न्य वलस्य गोमतोऽनावर्त्तितम्—तुम न गौओं से भरे हुए बल के बिल को अनावृत कर दिया है—से करते हैं। दुर्ग ने इस का अर्थ उद्घातन = अनावरण किया है। सा० इस पचम्यन्त मानते हैं—बल के चाड़े से। दस० ने इसे प्रथमात् मन कर 'योऽपदवाति स—धारण करने वाला' अर्थ किया है।

७ वृत्स्थ—सा० आदि ने इसे गौआं का चोर और इन्द्र का वय अमुर माना है। मै० आदि के स्थल से ऐसा आभास मिलता है कि यह अधकार के असुर आदि किसी अलंकार का द्योतक नहीं, प्रयुक्त वास्तविक गौआ के चोर वृत्ति-विशेष का नाम हो। वैद० ने इस पर कुछ नहा लिखा है। दस० ने इसे 'बल' समझा है। इस की पुष्टि ऋ० १।१४।३।१२ के स्थल—

१ इन्द्र की धारक शक्ति ।

२ महारक्ति । इन तीनों के बिना जगत् का विकास सम्भव नहीं। अतः इन का वणन अनिवार्य है।

‘इन्द्रो बल बलपतिः । बलमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायेन्द्र उदक्रमन् पुनरस्यै बलमददात्—इन्द्र बल और बल का स्वामी है । इस यज्ञ में वह मेरे में बल स्थापित करे—मेरी यह इच्छा पूरी हो । (इस) आहुति को ले कर इन्द्र ने गति की और उस को फिर बल दिया’—से भी होती है । ऋ० १।६२।४ में ‘बलम्’ मल्लिगम् का विशेषण है—मल्लिगमिन्द्र शक्र बल रवेण द्रयो दशग्वैः । अधिकांश वर्णनो में इन्द्र द्वारा बल के हनन का ही कथन किया गया है । ऋ० ६।३९।२ में बल की सानु का कथन है । ऋ० १०।६८।६ में उसे गोवपुत्र कहा है । ऋ० १०।६८।५ में बृहस्पति अग्नि के समान तप्त अर्को (= जलो) से बल को मारता है । ऋ० ३।४५।२ में इन्द्र के विशेषणों—बलरुजः और अपामजः से ऐसा आभास मिलता है कि बल का वध और आनः (= गाः ?) का प्रेरण इन्द्र के प्रयत्न-मृथक् दो बीर कर्म है, एक नहीं । साथ ही बल का वध इन्द्र का ही कर्म नहीं है, प्रत्युत बृहस्पति, पितर, ऋत के धारक यजमान भी बल का नाश करते हैं । अतः ऋग्वेद में ‘बल’ पद किसी एक भाव का ही द्योतक नहीं, वह अनेकार्थक है । दस० ने इस के भेद, बलवान्, बल, कुटिल गति (वाल्म), बलवान् शत्रु अर्थ किए हैं । इसे निघ० १।१०।४ में भेद का पर्याय माना गया है । ऋग्वेद के वर्णना से ऐसा प्रतीत होता है कि यह भेद सृष्टि की रचना के समय का अन्धकाराच्छन्न अप्रकृत सलिल का घनीभूत रूप हो ।

८. अश्मनोरन्तरग्निं जजान—सा०—दो बादल (की टकर) में । दुर्ग—ध्रुवोक्त और पृथिवी लोक के बीच में । मै०—इस में अग्नि के वैद्युत रूप का वर्णन है जिसे कई मन्त्रों में ‘चक्षानो मे वर्तमान’ ‘चक्षानो से पैदा होने वाला’ और ‘चक्षानो का पुत्र’ (—अद्रेः सुतः) कहा गया है ।

१. उ० ४।१४७ में अश्मन् को √अश् व्याप्त होना से व्युत्पन्न माना गया है ।

९. संवृत्—यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है । सा० और दस० इसे √वृज् (वर्जने) से निष्पन्न करते हैं । इसे √वश् का रूप भी

माना जा सकता है। इस का भाव यह है कि इन्द्र की शक्ति से ही युद्ध में मारकाट होती है। वही सब कर्मों का अधिष्ठाता है।

महितापाठः

पदपाठ

१०. येनेमा विश्वा, च्यवना कृतानि	येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।	यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा।
श्वनीव यो जिगीवा लक्षमादद्	अकुरित्यकः। श्वनीव। यः।
अर्यः पुष्टानि स जनासु इन्द्रः ॥४॥	जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः।
	पुष्टानि। सः। जनासुः। इन्द्रः ॥४॥

सायणभाष्यम्—येनेन्द्रेणमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नक्षत्राणि
 च्यवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा—
 दासमुपश्रपयितारम्। अधरं निवृष्टमसुरं गुहा गुहाया गृहस्थाने नरके
 वा अवरकापीत्। करोतेऽर्चि “मन्वेधस ००” (पा० २।४।८०) इत्यादिना
 च्चेर्त्कि रूपम्। लक्षं लक्ष्यं जिगीवान्। “जि जये” क्वसौ “सन्लिटोर्जे”
 (पा० ७।१।५७) इत्थम्पासादुत्तरस्य कुत्वम्। दीर्घश्चन्द्रसः। जितवान्।
 चांऽर्योऽरेः। पण्ड्येकवचने छान्दसो यणादेशः। शत्रोः सम्यन्धीनि पुष्टानि
 समृद्धानि आदद् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वनीव। श्वभिर्मृगान् हन्तीति
 श्वनी व्यावः। यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत् ॥ ४ ॥

दिन्धी अनुवाद—[येन] जिस के द्वारा [इमा] ये [विश्वा] सम्पूर्ण
 (पदार्थ) [च्यवना] गतिमान् [कृतानि] किए गए हैं [य] जिस ने
 [दासम्] दास [वर्णम्] रंग को [अधरम्] वश में (कर के) [गुहा
 अकः] नष्ट कर दिया है। [यः] जिस ने [लक्षम्] दौंव के धन को
 [जिगीवान्] विजयी [श्वनी] पुआरी के [द्वर] समान [अर्यः]
 शत्रु की [पुष्टानि] समृद्धि को [आदत्] छीन लिया है, [जनासः] हे
 पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ १. इमा विश्वा—इमानि और विश्वानि के वैदिक रूप। व्युत्पत्ति के अनुसार ऐश्वर्य के कारण सर्वत्र प्रविष्ट पदार्थ, लोक आदि। मै०—पृथिवीस्थ समस्त पदार्थ। सा०—नक्षत्र लोक।

२. च्यवना कृतानि—सा०—नक्षत्र लोकों को स्थिर किया है। दस० (च्यवना) प्राप्त हुए लोकों को बनाया है (सप०) दृढ़ किया है (द्विअ०)। मै०—अगले पाद में अरुः के विधेय 'अघर' के समान यहाँ 'च्यवना' कृतानि का विधेय है। अतः अस्थिर किए गए हैं। तु० क०—यस्ता विश्वानि चिच्युपे—(ऋ० ४।३०।२२)—जिस ने सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया है। पीटर्सन—उलटना, जीतना। कृतानि का सा० का अर्थ 'स्थिर किए गए हैं' सम्भव नहीं। ग्रास० का 'जो कुछ चलना है (= चर सृष्टि) उस सब का निर्माता' अर्थ सम्भव है। परन्तु मन्त्र ९ का अच्युतच्युत् पद इस का विरोधी है। साथ ही चर सृष्टि के वर्णन के पश्चात् अचर सृष्टि के निर्माण के वर्णन की अपेक्षा बनी रहती है। यज्ञ में इस अपेक्षा का पूरक पद कोई नहीं है। कवि इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन भी समाप्त कर चुका है और अन्य कर्मों के वर्णन की ओर अप्रसर हो रहा है। तु० क०—यो दास वर्णमघर गुहाकः (अगला पाद)।

(ii) वस्तुतः अभी इन्द्र का सृष्टिकर्म समाप्त नहीं हुआ है। श्री पीटर्सन को दास वर्णम् की आधुनिक सम्प्रदाय की धारणाओं से भ्रान्ति हुई है। सृष्टि से पूर्व साख्य के अनुसार समस्त प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में गति आदि नहीं थी। इन्द्र उस में गति लाया। लोकों की रचना की और उन को अपनी अपनी परिधि में गति करने वाला बनाया। यहाँ पर यही भाव अभिप्रेत है।

३. दासं वर्णम्—सा०—१. शूद्रादि वर्ण २. उपभ्रमयिता। मै०—अनाम रग (= कृष्ण वर्णम्); आदिवासी। यह पद विशेषण है। सज्ञापद अन्तोदात्त (= दासः) होता है। पीटर्सन—'विरोधी रग, काली चमड़ी'। आब के समान उस काल में भी गोरों द्वारा कालों को दी जाने वाली गाली। ऋग्वेद

में दाम और दस्यु आर्यों के समस्त शत्रुओं—अमुर और मानव—के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर अनार्य जातियों की ओर निर्देश स्पष्ट प्रतीत होता है। सा० और दास० का भी यही मत है। रौय—राक्षसा की सन्तान। दस०—(वर्णम्) रूप को (दासम्) देने योग्य (अक) करता है।

(११) ऋग्वेद में वर्ण^१ पद के प्रयोगों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस का प्रयोग 'किरण (१०।३।३), सन्तान (१।१७।६, २।३।५) प्रकाश, तेज, शुभ्र रूप, लाल रूप, प्रकाशमान तेज, स्वच्छ तेज (४।५।१३, २।१।१२, ९।७।१८, १।७।३।७, १।९२।१०, १।१०।४।२, ३।३।४।५, ६।९७।१५, १०।५।४), कल्याण (१।१०।४।२), रूप (२।५।५, ९।१०।४।४), प्राणदायक रूप (९।७।१।२), वरुण का रूप (१०।१२।४।७) अर्यों का द्योतक है। ऋ० ९।६।५।८ में यह इन्द्र का विशेषण है। १।७।३।७ में कृष्ण और अरुण वर्ण का अर्थ काल और लाल प्रकाश है। १।६।६।५, १।१।३।२ में रात्रि और उपस को अपना अपना वर्ण = रूप = प्रकाश = व्रमश काल और सफेद) फैलाने वाला कहा है। १।१०।४।२ में दास के मन्यु को नाश कर के कल्याण के लिए वर्ण लाने का कथन है। २।३।४।१३ में चन्द्र वर्ण = आह्लादक प्रकाश का वर्णन है। यह गुत्समद का ही सूत्र है। अतः गुत्समद के प्रकृत मन्त्र में दास वर्णम् का अर्थ—'दुःखदायी प्रकाश - काल प्रकाश' = रात का प्रकाश = अन्धकार' करना ही उचित प्रतीत होता है। यह रात्रि का अधिकार सृष्टिरचना के पहले का ही अधिकार है—'तम आसीत् तमसा गूढमग्र (ऋ० १०।१२।६।३)—सृष्टि से पूर्व अधिकार से छिया हुआ अधिकार था'। इन्द्र ने इसी गाढ़, प्रकाश के निवारक (दास—दस्यति प्रकाशमुपनिष त नाशयतीति) अधिकार को दूर किया।

१ इस विवेचन की दृष्टि में 'हवी दस्यून् प्रार्य वर्णमावत्' का अर्थ—'दुष्टों, दुष्ट भावों को नष्ट कर के श्रेष्ठ भावा का प्रसार किया' होगा। ऐ० ७।१८ में विश्वामित्र के अनेक वशनों अन्ध, पुण्ड्र, शनर, पुलिन्द, मूतिन आदि का 'दस्यु' कहा गया है।

४. अर्धरं गुहाकः—सा०—अधर = निकृष्ट असुर । गुहा—गुफा में, गूढ़ स्थान या नरक में । अक = अक्रापात् । √कृ का लुङ् प्रथम पु० एक व० का वैदिक रूप । दस०—अधरम्—हृदय के नीचे । गुहा—हृदयाकाश । मै०—अक का सम्बन्ध अधरम् से भी है और गुहा से भी । अधरमकः—नीचा बनाया, वश में किया । गुहा अक—गुफा में रक्खा (छिपाया) = दूर किया, हटाया । रौथ और ग्रास० गुहा को पञ्चमी के रूप में प्रयुक्त तृतीया का रूप मानते हैं ।

(११) इस का दास वर्णम् के व्याख्यान से सम्बद्ध व्याख्यान ही अभीष्ट है । अधर न धार्यते इति अधरः, तम् । दास वर्णम् का विशेषण । असह्य घोर अन्धकार । गुहाक—दूर किया, गुफा आदि में स्थित किया । 'अधरम्' को 'अकः' के साथ क्रियाविशेषण भी लिया जा सकता है ।

५ अकः—सहितापाठ में 'र' से उत्पन्न पदान्त विसर्गों को यदि सन्धि के कारण 'र' न हुआ हो तो पदपाठ में उन्हें 'इति' लगा कर निर्दिष्ट किया जाता है तथा मूलरूप को कई बार पुनः आवृत्त किया जाता है—अकरित्यकः ।

६. श्यन्नीधं जिगीशो लक्ष्मादेत्—दस० का अर्थ—कुत्तों को दण्ड देने वाली के समान जयशील लक्ष को ग्रहण करता है (ऐसा परमेश्वर—स्पष्ट नहीं है । सा०—इन्द्र ने (श्वप्ती) व्याध के समान लक्ष्य को जीता है । रौथ—ढाँव को जीतने वाले जुआरी के समान । औकैरुट—एक लाख को जीतने वाला जुआरी । पीटर्सन—अर्थ बहुत अनिश्चित है । इस के प्रयोग के अन्य स्थलों में सा० के अर्थ १. व्याधस्त्री (१।९२।१० ; ४।२०।३ ,) क्तिव ८।४५।३८ ; १०।४२।९ ; ४३।५) हैं और दस० का वृष्ठी (१।६२।१० ; ४।२०।३) है । इन में से चार स्थलों पर उपमा है । १।६२।३ में तो प्रकृत मन्त्र ४, ५ के अनुरूप ही उपमा है ।

(१२) श्वप्ती का उपरोक्त अर्थों में से कोई भी ग्रहण करें सब में उपमा का लक्ष्य नि शेषीकरण है । जिस प्रकार जुआरी हारने वालों से जीत का धन ले कर

उन्हें निःशेष = अकिञ्चन कर देते हैं उसी प्रकार । अथवा, जैसे हिंसक पशु या व्याध प्राणियों का जीवन पूर्णतया नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ।

७. जिगीयान्—√जि + क्वसु, प्रथमा एक व० पुल्लिङ्ग । सम्भवतः छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण 'जिगीवों' होता होगा । कालान्तर में उसी प्रकार लिखा जाने लगा (मै०) ।

८. आदत्—आ + √दा + लुट् प्रथम पु० एक व० । पदपाठ में इसे अवग्रहीत नहीं मिया गया है । गौणवाक्य की मिया होने के कारण यह अवग्रहीत होना चाहिए था ।

९. अर्यः—सा०—अरि का पट्टी का एक व० । वैदिक रूप । शत्रु के । मै०—यह बहुव्रीहि समास प्रतीत होता है—[न विद्यन्ते राधः (स्वस्मै परेभ्यो दातु वा) सः अरिः तस्य]—जिस के पास अपने लिए भी धन नहीं है ऐसा निर्धन, अथवा, जिस के पास दूसरों को देने के लिए धन नहीं है अपने लिए तो है ऐसा कजूस । सा० और मै० का भाव यह प्रतीत होता है कि कंजूस और शत्रु का धन अयश्विष है, वह परोपकार के काम में नहीं आता, अतः वह छीन लिपा जाता है—तु० क० ऋ० १०।११७।६—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि यथ इत् स तस्य । नार्यमण पुष्यति नां सखायं कैवल्यो भवति कैवल्यदी ।'—'जिस का मन उदार नहीं है वह व्यर्थ भोजन पाता है । मैं सच कहता हूँ, वह उस की मृत्यु ही है । न वह यश को पुष्ट करता है न मित्र को । केवल अपने आप खाने वाला एकमात्र पाप को ही खाता है' ।

(ii) दस० ने अर्यः को प्रथमान्त मान कर इस का अर्थ 'ईश्वर' किया है । ये 'पुष्टानि' का अर्थ 'दृढ़' कर के 'व्यवना कृतानि' से सम्बद्ध करते हैं ।

(iii) ये अर्थ पाद १-२ के प्रस्तावित भावों में विशेष सगत नहीं । यदि 'अर्यः' का अर्थ 'शत्रु तुल्य अन्धकार का' कर लें तो अर्थ ससक्त हो जायगा । पुष्टानि—पोषक शक्तियाँ । इन्द्र ने अन्धकार की पोषक शक्तियों को इसी प्रकार

नि शेष कर दिया जिस प्रकार जुआरी दौन को जीत कर दूसरे जुआरी को अकिंचन कर देता है ।

(१७) अयं का अन्धकार—अथ सीधा भी किया जा सकता है—न अर्ने रीयते वाऽस्मिन् इत्परि, तस्य ।

सहितापाठ

पदपाठ

११. यं स्मां पृच्छन्ति कुह सेति

यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । स ।

घोरम्

इति । घोरम् । उत । ईम् । आहुः ।

उतेमाहुर्नैपो अस्तीत्येनम् ।

न । एषः । अस्ति । इति । एनम् ।

सो अयेः पुष्टीर्जिज्ञा मिनाति

सः । अयः । पुष्टीः । जिज्ञा । इव ।

श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥

आ । मिनाति । श्रत् । अस्मै ।

धत्त । सः । जनास । इन्द्रः । ५॥

सायणभाष्यम्—अपश्यन्तो जना घोर शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति । सेति—“सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्” (पा० ६।१।१३४) इति सोल्लोपे गुण । न कचिदस्मा तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेव इन्द्रो नास्तीति । तथा च मन्त्र—“नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह” (ऋ० ८।१००।३) इति । ईमिति पूरण । स इन्द्रा विन इव । इव शब्द एवार्थे । उद्वेजक एव सन् । अयोऽरे सम्प्रन्धीनि पुष्टी पोषकाणि गद्याश्वादीनि धनानि । आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति । “भीष् हिंसायाम्” । “भीनातेर्निगमे” (पा० ७।१।८१) इति ह्रस्व । तस्मात् श्रस्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्राऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत । यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वास कुरुत । एयनिर्धारणीयमहिमोपेतं स इन्द्रा नाहमिति ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यम्] जिस [घोरम्] भयकर को [पृच्छन्ति स्म] (लोग) पूछते आए हैं [इति] कि [स] वह (इन्द्र) [कुह]

कहाँ (है) । [उत] और [ईम्] सर्वव्यापक [एनम्] इस (इन्द्र) को [आहु] (कुछ लोग) कहते हैं [इति] कि [एष] यह [न अस्ति] विद्यमान नहीं है [सः] वह (इन्द्र) [विजः] क्रुद्ध हुए के [इव] समान [अर्य] शत्रु की [पुष्टीः] पोषक शक्तियों को [आ मिनाति] क्षीण कर देता है [अस्मै] उस (इन्द्र) में [श्रत्] विश्वास [धत्त] धारण करो, [जनास] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ५ ॥

निष्पणिया—१ स्ता—स्म। संहिता में दीर्घ हो गया है। दस० ने इसे अवधारण (= एव) के अर्थ में लिया है। शेष सब पृच्छन्ति के साथ लगते हैं।

२ सेति—स + इति। इस प्रकार की अन्यवस्थित सन्धि वेद में नहुधा मिलती है। लोक भाषा के लिए भी पाणिनि ने पाद की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सन्धि का विधान किया है (सोऽपि शेषे चेत्यादपूरणम् । पा० ६।१।१३४)।

३ घोरम्—मा०—गुओं का घातक। यम् (इन्द्रम्) का विशेषण।
अं फल—त्रिधाविशेषण। इस भयकर रूप में, भयावह प्रकार से।

४ इम्—सा०—पादपूर्क मानते हैं। दस०—सत्र ओर से। मै० इसे अन्य पदों से सम्बद्ध $\sqrt{\text{इ}}$ के नाम का द्वितीया का रूप मानते हैं। या तो यह किन्ही सज्ञा का स्थान लेता है, या आगे आने वाली सज्ञा के लिए स्थान तय्यार करता है, या अन्य सर्वनामा के साथ आता है। (व्यास० पृ० २२०)। यहाँ पर यह 'एनम्' का निदर्शक है। पीप्सन लिखते हैं कि इस से निर्दिष्ट पद बहुधा आवृत्त किया जाता है, जैसे यहाँ एनम् की आवृत्ति है।

(१) निघ० ४।२।८० में इसे पदनाम माना है। अतः इस का अर्थ पाप्पूरण या निर्देशक सर्वनाम मान नहीं है, यह गति, शान और प्राप्ति का

द्योतक भी है। इसी आधार पर हि० अ० में 'सर्वज्ञापक' अर्थ दिया गया है।

५. आहुः—√ब्रू का लिट् प्रथम पु० बहु व०। मै० इसे√अह् कहना का लिट् का रूप मानते हैं।

(iii) मै० लिखने हैं कि यह उदात्तस्वर युक्त नहीं है। अतः पाद २ प्रधान वाक्य के रूप में है यद्यपि इस सूक्त में लगभग सर्वत्र सम्बन्धद्योतक वाक्यों के प्रयोग से यह आशा की जानी स्वाभाविक थी कि पाद १ का यम् यहाँ भी आहुः को उदात्त स्वर युक्त कर देता। परन्तु आप ने पाद २ के एनम् पर ध्यान नहीं दिया है। ऋषि इस पद से 'इन्द्र' के परमैश्वर्य का द्योतन करना चाहते हैं जो 'यम्' से सम्भव नहीं। अतः उन्होंने अपनी शैली बदल कर उसे प्रधान वाक्य का रूप दिया है और उत के द्वारा पूर्व वाक्य से सम्बन्ध जोड़ा है।

६. अर्यः पुष्टीः—पिछले मन्त्र में अर्यः पुष्टानि पर टिप्पणी देखें। दस मन्त्र में हिअ० का अर्थ भी सगत है।

७. विज इव—सा०—उद्वेजक होते हुए ही। दस०—भय से सचलित के समान। मै०—दाँव (का धन) क्यों कि मन्त्र ४ का लक्षमाददर्यः पुष्टानि इस मन्त्र के पाद ३ के समान है। अतः विजः = लक्षम्। पीटर्सन छन्द की दृष्टि में इसे विजेन पढ़ने का मुझाव देते हैं। जहाँ सेति में सहिता का मूलरूप उपलब्ध होता है। वहाँ विज द्य में विकृत रूप। ग्रास० इव को वा पढ़ना चाहते हैं। मै० सो अर्यः को सोऽर्यः क्यों कि सामान्यतः प्रात छन्द का रूप इसी अपरस्था में बनता है। पीटर्सन विजः को द्वितीयान्त मानते हैं, प्रथमान्त नहीं।

(ii) यह पद केवल एक और मन्त्र में आया है—श्वनीव कृत्तुर्विज आ मिनाता (ऋ० १।६२।१०)। सा० ने वहाँ इस का अर्थ 'चरते हुए पत्नी' किया है।

(१११) श० ७।१।१।१४ के 'तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजते' में ✓ विज् धातु 'प्रचण्ड गति' या 'उत्थणत्वं' का द्योतक है। अतः विज का अर्थ क्रुद्ध, प्रचण्ड किया जा सकता है। सा० और दस० ने पाणिनीय धातुपाठ के आधार पर अर्थ किए हैं, परन्तु वे प्रकरण में सुसंगत नहीं।

८. श्रत् धत्त—तैट्तिन—वेदो। कैल्यिक—वेदिम्। सत्य मानो। वह है इसे सत्य समझो। उस में श्रद्धा रखो। श्रद्धा से ही उस के स्वरूप को जान कर उस की उपासना की जा सकेगी (तु० क० श्रद्धासूक्त ऋ० १०।१५१ और हमारा लेख—श्रद्धा का वैदिक स्वरूप)। ऐसा न करने पर मनुष्य इन्द्र का वध हो जाता है। तु० क०—यः शश्वतो मध्येनो दधानानमन्य मानाञ्छर्वा जवान—ओ निरन्तर महान् पापों के धारक और (उस को) न मानने वाला को अपने बाण से मार देता है'।

सहितापाठः

पदपाठः

१२. यो रध्रस्य चोदिता यः	यः। रध्रस्य। चोदिता। यः।
कृशस्य	कृशस्य। यः। ब्रह्मणः। नाध
यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।	मानस्य। कीरेः। युक्तग्राव्णः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः	यः। अविता। सुशिप्रः। सुत-
सुतसौमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥	सर्मासस्य। सः। जनाम्। इन्द्रः॥६॥

मायणभाष्यम्—यो रध्रस्य। "रध हिंसासपदयोः"। समृद्धस्य। चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृशस्य वैरिद्रस्य च यत्र नाधमानस्य। "नाधृ णाधृ (नाधृ नाधृ) याच्यो गतापैधयाशी पु"। याचमानस्य कीरेः। करोते. कीर्तयतेर्वा। स्तोतुब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता।

रश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्यः अभिपवार्थमुद्यत-
ग्राव्यः सुतसोमस्याभिपुतसोमस्य यजमानस्थाविता रक्षिता भवति स
खेन्द्रो नाहमिति । ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यथा—“ब्रह्म
न्वानो अजर सुवीरम्” (ऋ० ३।८।२) इति । अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत
इति नान्नपरः ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [रध्रस्य] समृद्ध का [यः] जो
[कृशस्य] क्षीण दुर्बल का [यः] जो [ब्रह्मणः] ब्राह्मण [नाधमानस्य]
राधक [कीरेः] स्तोता का [चोदिता] (अपने-अपने कर्मों में) प्रेरक है,
[सुशिप्रः] सुन्दर ओष्ठों वाला [यः] जो [युक्तग्राव्यः] सिलबट्टे को मिलाने
शाले [सुतसोमस्य] सोम रस निकालने वाले का [अविता] सहायक है,
जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. य इति—इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए
गए हैं । विस्तार के लिए नीचे टिप्पणी २ (ii) देखें ।

२. रध्रस्य चोदिता—यह इन्द्र का प्रिय विशेषण है । सायण के अर्थ
इस प्रकार हैं—

१. रध्र = समृद्ध जनो का प्रेरक (२।२१।४)

२. रध्र = हिंसक शत्रुओं का प्रेरक (वही)

३. रध्र = राधक समृद्ध धन का प्रेरक (६।४४।१०)

४. रध्र = राधक (यजमान) का प्रेरक (८।८०।३)

ये इसे ✓रध्र हिंसासराद्धयोः से व्युत्पन्न करते हैं । दस० के अर्थ ये हैं—

१. हिंसकों का प्रेरक (२।१२।६)

२. रुकावटी पदार्थों को प्रेरणा देने वाला (२।२१।४)

३. धन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला (६।४४।१०)

(ii) परन्तु विद्वानों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और इस पद का अर्थ
अनिश्चित समझा गया । यह पद अकेला केवल तीन स्थलों पर आया है । इन
में सा० के अर्थ आराधक यजमान (२।३४।१५), समृद्धजन (७।५६।२०)

और राघवक स्तोता (१०।२४।३) हैं। दस० के अर्थ 'अच्छे प्रकार की सिद्धि (२।३४।५) और समृद्धिमान् (७।५६।२०) हैं। यह पद अरध और एक अन्य समास में भी मिलता है। सा० ने अरध के अर्थ 'शत्रुओं के वश में न आने वाला' (६।१८।४) और 'असमृद्ध' (६।६२।३) किए हैं तथा दस० ने अहिंसक (६।१८।४) और असमृद्ध व्यवहार (६।६२।३)। अतुर (६।१८।४) में सा० ने वगीकरण और दस० ने हिंसा अर्थ लिए हैं।

(iii) रौप्य ने पहले तो 'अरध' का अर्थ 'अनलस' किया था। सेंट पीटर्सबर्ग कोप में उन्होंने 'रध' को 'रध = अर्ध' (ऋध्) से व्युत्पन्न कर अवै० 'अरेद्र' स तुलित किया है। इस के अर्थ 'समृद्ध, देवों का प्रसादक, धार्मिक' दिए हैं। ग्रास० के मत में इस का अर्थ 'यका हुआ' है। साइबेनजिग लाइडर में रधस्य वृत्तस्य के अर्थ 'समृद्ध और निर्धन' हैं। औफेल् के अर्थ 'ईमानदार (= सच्चा) और निर्धन' हैं।

(iv) पिथल कहते हैं कि ऋ० ६।६२।३ में अरध अश्विनो के वर्ति का विशेषण है जिसे गामत्, हिरण्यवत्, अश्वावत् और इरावत् आदि कहा गया है। अतः अरध का अर्थ 'न निर्धन, न कजूस, अथात् समृद्ध, दाना' है। रधस्य चोदिता = जो कजूस को उदारता में प्ररित करता है। चोदिता के साथ केवल रधस्य का सम्बन्ध है, शेष पष्ठयता का अवित्ता स। मै० की योजना, १६० अ० के समान है।

(v) इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं—१ रध २ कृग ३ ब्रह्मन् नाधमान कीरि और ४ युक्तग्रावन् मुतसोम। इसी प्रकार ऋ० १०।१२५।५ में भी चार विभाग—१ उग्र २ ब्रह्मन् ३ ऋषि ४ सुमेधा किए गए हैं। इन दोनों वर्णों में ब्रह्मन् की स्थिति स्पष्ट है। श० ६।१।१।१ में ऋषियाँ को तप से उत्पन्न बनाया है। तप से मानव कृग होता है, स्थूल नहीं। अतः कृग और ऋषि को समान भाव का बोधक माना जा सकता है। सुमेधा ✓ मेधु सगमने से बनता है। सगमन = सगतीकरण ✓ यज् धातु का अर्थ भी है। अतः सुमेधा = उत्तम यज्ञ करने वाले, = यजमान = प्रजाजन (-विग)।

सिलवट्टे से सोम का अभिषेचन भी यज्ञ के लिए प्रमुख रूप से किया जाता है। जैसा आगे युक्तप्राण्यः और सुतसोमस्य की टिप्पणियों में दिखाया गया है। इन दोनों पदों का अर्थ 'योगक्षेम द्वारा ऐश्वर्य का उत्पादक' होता है। यह कर्म उत्तम सगमनी बुद्धि से ही सम्पन्न होता है। अतः सुमेधा और युक्तप्राण्यन् सुतसोम को समान भाव का निर्देशक माना जा सकता है। अन्न रश्च और उग्र शेष रह गए। रश्च को हिंसार्थक/रश्च से मानने पर ये दोनों भी समान भाव के द्योतक हो जाते हैं। उग्रत्व या हिंसा का गुण क्षत्रियों में पाया जाता है, ब्रह्मन् ब्राह्मण है ही। यज्ञ करने वाले सामान्य जन विष्णु या वैश्य है। य० २०।५ में शूद्रा को तप से सम्बद्ध किया है। अतः यहाँ पर कृशपद ऋषि—तपस्वी शूद्र का द्योतक प्रतीत होता है।

३. ब्रह्मणः—सा०—१. ब्राह्मण २. अन्न। दस०—वेद। म्यूर (पु०)।

१. सूक्त या प्रार्थना का रचयिता या उच्चारक, चिन्तक, ऋषि, कवि, (२) सामाजिक पूजा का सम्पादक, पूजक, पुरोहित (३) (चारों वेद विशेषतः अथर्ववेद का ज्ञाता) होतृ आदि से भिन्न कर्मों वाला एक विशेष पुरोहित = ब्रह्मा। कुछ मन्त्रों में यह पद 'पेजे—से पुरोहित' भाव का द्योतक है। यह पद ब्रह्मन्-नपु०, सूक्त, प्रार्थना से भिन्न है और अन्तोदात्त है।

४. नार्धमानस्य—√नार्ध् + शानच् + षष्ठी एक व०। आचक, प्रार्थी। दस०—सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले। मै०—शरणागत।

५. कीरेः—कीरि का षष्ठी एक व०। पिथल लिखते हैं—किं जिन मन्त्रों में कीरि का प्रयोग हुआ है उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक वर्ग में यह पद सदा 'निद् (=अग्नि)' के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस से ही प्रतीत होता है कि कीरि का अर्थ ऐसी वस्तु है जो स्वतः प्रसादक या अनुकूल नहीं है। ऐसे समस्त प्रयोगों और कीरिचोदन की तुलना से इस का अर्थ 'छोटा, निम्न, निर्धन' निश्चित हो जाता है। आप कहते हैं कि मन्त्रों में रातहव्यः (१।३।१।३—आहुति देने वाला), रातहव्यः स्वध्वरः (८।१०।३।१३) और कीरि तथा कीरियज्ञ और होतृमत् यज्ञ (—होता से युक्त यज्ञ—१०।४।१।२),

के वैयम्पात्मक प्रयोग पाये जाते हैं। १।१००।६ का कीरिणा पद समान भाव वाले मन्त्र ६।४५।२ में अनाशुना अर्वाता के अनुरूप है। अतः ये कीरि को रघ्र का पर्याय मानते हैं और इस की पुष्टि ऋ० ५।१।१० के हृदा कीरिणा (विनम्र हृदय से) से करते हैं।

(११) यदि विश्वल का यह विचार मान लें तो एक समस्या हल करनी आवश्यक हो जाती है—मन्त्र में अनेक जार प्रत्येक षष्ठ्यन्त सज्ञा के साथ 'य' का प्रयोग क्यों किया गया? स्पष्ट है कि यह प्रयोग इस मात्र में जितने 'य' हैं उतने ही व्यक्तियों की कर्मप्रेरणा या रक्षा का द्योतक है। अतः विश्वल का विचार अमान्य है। इसे की + √ईर् अथवा √कृ से व्युत्पन्न किया जा सकता है। सा० और दस० का स्तोत्रा—अर्थ तथा √कृ धातु के शिक्षा, वेद^१ ज्ञान आदि का वितरक अथ करना प्रकरण में अनुचित न होगा।

६ युक्तर्धाञ्ज — युक्ती प्राक्वाणी येन स, तस्य । √सा०—सोम निकालने के लिए दो पत्थरों = सिल-भट्टे का प्रयोग करने वाला। दस०—भेष या पत्थरों वाला पदार्थ।

(१२) अकोमु० २।३।४ में प्राक् की व्युत्पत्तियाँ ये दी हैं—१ √गृ निगरणे + वनिप् २ √गृ शब्दे + वनिप् । ३ प्र (√यृ सेके से) + अय (√अब् रसा करना आदि से)। ४-५ अकोमु० २।३।१ में—√ग्रन् अदने + वनिप् और ३।३।१०६ में ग्रत् और आ + वन् । ६ देवराज ने निध० १।१०।२ में इसे √हृन् + वनिप् से भी व्युत्पन्न किया है। इन सब में अकोमु० की √गृ से, अथवा √गृ और √अब् से निष्पत्ति ही इस पद के स्वरूप और अर्थ से मेल खाती है। इन के अनुसार इस के अय निगरण (=प्राप्त करना, इकट्ठा करना) और रक्षा होते हैं। निध० ५।३।५ के पदनामों में पाठ के कारण प्राप्त इस के अर्थों—गति, ज्ञान और प्राप्ति से भी इन अर्थों की पुष्टि होती है। इन निगरण और रक्षा कर्मों को योगक्षेम भी कहा जा सकता है। इन का प्रयोग करते वाला।

६. सुशिप्रः—सा० शोभन ठोड़ी या सिर वाला । दस०—जित में सुन्दर सेवन होते हैं । यास्क—उत्तम ठोड़ी या नाक वाला । ये इसे √सृप् से व्युत्पन्न करते हैं (नि० ६।१७) । निघ० ४।३।७३ में इसे पदनामों में पढा गया है । मै०—सुन्दर ओष्ठों वाला । 'यह बहुव्रीहि समास है । इस पद का ठीक-ठीक अर्थ सन्दिग्ध है, परन्तु यह (शिप्र) नियमित रूप से द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है । इस का एक विशेषण हरि (= हरा) है, हरिशिप्र और हरिश्मशार (हरी मूँछों या डाढ़ी वाला) एक दूसरे के तुल्य हैं । हरिशिप्र का सम्बन्ध इन्द्र के सोमपान से है । अतः इस का अर्थ ओष्ठ या मूँछ ही हो सकता है । ठोड़ी (= जवड़ा) नहीं ।

(११) यास्क ने अपने अर्थ के पदों हनू और नासिके की √हन् और √नस् से व्युत्पत्तियों दे कर इन अर्थों की सुशिप्र, के पदनामों में पाठ से प्राप्त अर्थों से एकता दिखाई प्रतीत होती है, क्यों कि ये दोनों धातुएँ √हन् और √नस् गत्यर्थक भी हैं । साथ ही हनू और नासिके का निर्वचन देना उन के धातुज अर्थों को ग्रहण करने का निर्देश करता प्रतीत होता है । इस दृष्टि की उपेक्षा और इन्द्र के पुरुषविध वर्णन से ही सा० आदि का अर्थ चल पडा । मै० मूल अनुभूति सा० से ही लेते हैं । अतः यहाँ पर यास्क के अनुमार इस के गत्यादि व्यर्थ करने ठीक रहेंगे—उत्तम गति वाला = सर्वत्र व्याप्त ; सब को जानने और प्राप्त करने वाला । अतः सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सब का धारक ।

८. सुतसोमस्य—सुतः सोमः येन सः, तस्य । सा० सोम नामक ओषधि का रस । दस०—सोमादि अच्छे पदार्थों का उत्पादक । आधुनिक सम्प्रदाय भी इसी अर्थ को ग्रहण करता है और इस की तुलना अवै० हओम से करता है । इसे इन्द्र का अभिमान पेय माना गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस को सत्य, श्री, ज्योति, राजा, चन्द्रमा, वृत्र, नितृलोक, सवत्सर, प्रजापति, वायु, विश्व, रात्री, दधि, सभी देवता, पर्ण, पलाश, पशु, यजमान, वर्चस्, रस, क्षत्र, यश, अन्न, प्राण, रेतः और पयः आदि कहा गया है । दस० ने इसे √सु धातु से निष्पन्न कर इस प्रकार के अनेक अर्थ दिए हैं । इन्हीं

आधारों पर यहाँ सोम (= श्री, पशु, अन्न आदि ऐश्वर्य) को प्राप्त करने वाला है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति योगक्षेम (युक्तप्राप्त) से होती है। डा० पतञ्जलि ने वै० में इस की अथर्ववेद से √सु निकालना से और शतपथ-ब्राह्मण से 'स्वा + मा' से निरुक्तियों सकलित की हैं।

संहितापाठः

१३. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य
गावो

यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।

यः सूर्य य उपसं जजान्

यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥७॥

पदपाठः

यस्य । अश्वासः । प्रदिशि । यस्य ।

गावः । यस्य । ग्रामाः । यस्य ।

विश्वे । रथासः । यः । सूर्यम् । यः ।

उपसम् । जजान् । यः । अपाम् ।

नेता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥७॥

सायणभाष्यम्—यस्य सर्वान्तर्धामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते। यस्यानुशासने गावः। यस्यानुशासने ग्रामाः। प्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्यात्ताप्यां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते। यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोपसम्। तथा मन्त्रः—“जजान सूर्यं उपसं मुदसाः” (श्रु० ३।३२।८) इति। यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस के [प्रदिशि] शासन में [अश्वासः] घोड़े [यस्य] जिस के (शासन में) [गावः] गीर्ण [यरय] जिस के (शासन में) [ग्रामाः] गाँव (और) [यस्य] जिस के (शासन में) [विश्वे] सब [रथासः] रथ (विद्यमान हैं)। [यः] जिस ने [सूर्यम्] सूर्य को (और) [यः] जिस ने [उपसम्] उपस को [जजान] उत्पन्न किया है [यः] जो [अपाम्] जलों का [नेता] बहाने वाला है [जनासः] दे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियों—१. भाव—इन्द्र ने अश्वदि सब कुछ को उत्पन्न किया है । अतः वे सब उस की शक्ति से ही अपने-अपने स्वभावानुकूल कर्मों में प्रवृत्त होने हैं । ऋ० १०।१२५—वाक्सूक्त भी देखें ।

२. अश्वीसः०—अश्व शक्ति का, गाव अहिंसा और नम्रता की, ग्राम एकत्र होने, रथ (✓रम् से) आनन्द का, सूर्य गति और प्रकाश का, उपस दाहकता और एकरूपता की और अपस् व्याप्ति के द्योतक हैं । ये गुण भी यहाँ अभिप्रेत माने जा सकते हैं ।

३. अपां नेता—तु० क० अपा नपात् (अग्नि) । इन्द्र को भी अग्नि कहा गया है । दस० ने गाव का किरण, अश्वीस. का वेगादि गुण और रथासः का रमण के साधन अर्थात् क्रिण है । एक 'यः' को कारण रूप विजयी का द्योतक माना है ।

संहितापाठः

पदपाठः

१४. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते	यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति
परेश्वर उभया अमित्राः ।	समस्यती । विह्वयेते इति विह्वयेते
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा	परं । अवरे । उभयाः । अमित्राः ।
नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥	समानम् । चित् । रथम् । आतस्थि- वांसां । नाना । हवेते इति । सः ।
	जनासः । इन्द्रः ॥८॥

सायणभाष्यम्—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वारे—मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्पर सङ्गच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः । परे उत्कृष्टा अवरेऽधमात्र । उभया उभयविना अमित्राः शत्रवा यमाह्वयन्ति । समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते ।

यद्वा । समानमेकरथमारुढाविन्द्राम्नी हवेते यज्ञार्थं यत्नमानं प्रथगाहूयेते ।
तथोरन्यतर स इन्द्रो नाहमिति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[मंयती] युद्ध में परस्पर मिलती हुई [क्रन्दन्ती]
गोर मंचाती हुई (दो सेनाएँ) [यम्] जिस को [विह्वयेते] पृथक् पृथक्
बुलाती हैं, [परे] उल्टा (और) [अन्तरे] नाच [उभयाः] दोनों (ही)
[अभिन्ना] शत्रु (जिस को अलग-अलग बुलाते हैं), [समानम्] एक
जैसे [चिन्] ही [रथम्] रथ पर [आतस्थिवासा] चढ़ हुए दो (वीर)
(जिस को) [नाना] भिन्न भिन्न प्रकार से [ह्वेते] (सहायता के लिए)
बुलाते हैं, [जनास] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्र] इन्द्र है ।

टिप्पणियों—१ क्रन्दन्ती आदि—द्विवचन के इ, ऊ और ए अन्त
वाले पदों के आगे इति का प्रयोग होता है । यदि ऐसे समग्र पद में अवग्रह का
स्थल भी हो तो इति के बाद मूलपद की आवृत्ति कर के उस में अवग्रह की
स्थिति भी दिखा दी जाती है ।

२. क्रन्दन्ती—सा०—रौंको और मानकी सेनाएँ । मै० आदि—मानवों
की (आपस में लड़ती हुई दो सेनाएँ) ही अभिप्रेत हैं । टम०—रौने का गन्ध
कराने वाले प्रवास और प्रथिवी ।

३ मयती—सा० आपस में मिलती हुई (= सघर्ष में जाती हुई) ।
रम०—समय से चलने वाले युद्ध और पृथिवीलोक । ने० मा०—दो सेनाएँ ।

४ ह्वेते—√ह्वे से लट् प्रथम पु० द्विवचन । मै०—यह √ह्व के
सम्प्रसारण रूप √ह्व से निष्पन्न हुआ है । विह्वयेते जार नाना ह्वते
समानाधिक हैं । तु० क० 'नाना हि त्या हवमाना जना इमे—अनेक प्रकार से
तुम्हें बुलाते हुए', और 'अथ जना वि ह्वन्ते सियासय—लभ के इच्छुक
मनुष्य तुम्हें अनेक प्रकार से बुलाते हैं ।'

(११) गीण वाक्य की क्रिया होने से यह उदात्त स्तर वाली है और उपसर्ग से
अवग्रहीत की गई है ।

५ परऽपरे—सा०—उत्कृष्ट और नीच । मै०—दूर के और समीप के ।
इम पाद में 'मन्दसी' का व्याख्यान है ।—समीपस्थ और दूरस्थ । पीठमन—
इस पथ के और उस पथ के—दोना एक दूसरे के शत्रु (= उभया अमित्रा) ।
दस०—प्रफुल्ल और अधाचीन (हिम०—पून) । वम०—वहों और बहा न ।

६ उभया—यह कभी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं हुआ है । दस०—प्रकाश
और अप्रकाशयुक्त पाना कामिया से सम्बन्धित शत्रु ।

७ समान चिद्रथमातस्थिनासा—सा०—१ इन्द्र के रथ के सहग रथ
पर चढ़े हुए दो घोड़ा । २. एक रथ पर चढ़े हुए इन्द्र और अग्नि । वमा०—
इन्द्र के रथ में चढ़े हुए युद्ध करने के इच्छुक न राजा । मै०—दो जो एक ही
रथ पर ह—अथात् घोड़ा और मारुति । आतस्थिनासा—आ + √स्था +
कतु । पुल्लिङ्ग प्रथमा द्विवचन । वैदिक रूप ।

८. नाना हवते—सा० ने इन्द्राग्रे के पथ में भी लगाया है—यज्ञमानों
द्वारा यज्ञ के लिए अलग अलग बुलाए जाते हैं ।

सहितापाठ

१५. यस्मान्न स्रुते विजयन्ते
जनासो

यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं नृभूव
यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः
॥९॥

पदपाठ

यस्मात् । न । स्रुते । प्रिजयन्ते ।
जनामः । यम् । युध्यमाना ।
अवसे । हवन्ते । य । विश्वस्य ।
प्रतिमानम् । नृभूव । य ।
अच्युतच्युत् । स । जनाम् ।
इन्द्रः ॥९॥

सावणभाष्यम्—यस्माद्वते जनासो जना न विजयन्ते विजय न
प्राप्नुवन्ति । अतो युध्यमाना युद्ध कुर्यान्ना जना अन्ते स्वरक्षगाय
यमिन्द्र हवन्त आह्वयन्ति । यत्र विश्वस्य सर्वस्य जगत प्रतिमान

प्रतिनिधिर्भूय । यच्चाच्युतच्युद् अच्युताना क्षयरहिताना पर्यंतादीना
च्याप्रयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्मान्] जिस के [ऋते] बिना [जनास]
लाग [न विनयन्ते] नहीं जीतते हैं, [युध्यमाना] युद्ध करते हुए [यम्]
जिस को [अवसा] रखा के लिये [ह्वन्ते] पुकारते हैं, [य०] जो
[विश्वस्य] सबकुछ का [प्रतिमानम्] परिमाण निश्चित करने वाला
[प्रभूव] है, [य] जो [अच्युतच्युत्] स्थितों में भागति लाने वाला है,
[जनास] हे पुरुषो, [स०] वह [इन्द्र०] इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ—१. न स्रुते—छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण नर्त्ते
होगा । हिन्ने लिखते हैं कि ऋग्वेद में अ, आ के पश्चात् ऋ को अविकल
रक्षित किया है । यदि ऋ से पहले आ आया हो, तो उसे ह्रस्व कर दिया
जाता है—जैसे महा + ऋषि —महऋषि ।

२. न विनयन्ते जनास—व्याख्याताओं ने 'जनास' का भाव 'युद्ध
करने हुए लोग' लिया है । इस का भिन्न अन्विष्ट भी लिया जा सकता है—
अपनी सत्ता के लिए संसार की परिस्थितियों से सर्वत्र करने हुए व्यक्ति इन्द्र का
कृपा के बिना प्रतिकूल परिस्थितियों पर चढ़ नहीं पा सकते हैं । अतः ऐसे
व्यक्ति इन्द्र का शत्रु = कृपा के लिए बुलाते हैं ।

३ विश्वस्य प्रतिमानम्—सा०—प्रतिनिधि । मै०—समय । तु० ५०—
'न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अत्र चातेषु उत ये जनिन्वा (ऋ० १।१८।४)—
जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे—उन सब में उस के लिए कुछ
समय नहीं है ।' भाव यह है कि कोई उस से अधिक समय नहीं है, वह
सब में अधिक है । दस—परिमाणसाधक । अथात्—दयता का निधारक ।
सब कुछ को उत्पन्न करने के कारण वही सब की सीमाओं, विस्तार—छोटा
बड़ा, ऊँचा-नीचा, हल्का, भारी आदि का निधारक है ।

४. अच्युतच्युत्—सा०—क्षयरहित पर्वत आदि का चालक । दस०—
स्थिरा में गतिशीलों को चञ्चल करने वाला । मै०—अक्षरों को चर बनाने

पाला । तु० क०—त्व व्यावयव्युतानि.. चरसि (ऋ० २।२०।८)—तुम
तिथरों को भी हिलाते हुए वर्तमान हो ।

(११) इस पद के बहुविधि व्याख्यान हो सकते हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में
प्रकृति साम्यावस्था में थी । उस में ब्रह्म ने चञ्चलता उत्पन्न कर दी । परन्तु
स्वयं निर्विकार रहा । उत्पन्न वस्तुओं में उन के पूर्ण रूपों में पुनः पुनः विकार
आता रहता है जिस को कुछ विद्वान् विकास और कुछ हास कहते हैं, परन्तु
ईश्वर स्वयं विकारशून्य रहता है । देखो ऊपर मन्त्र ४ अ और उस पर
टिप्पणी । यह पद ऋ० ६।१८।५ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

संहितापाठः

पदपाठः

१६. यः शश्वतो मह्येनो दधा-
नान्

अमन्यमानान्छर्वा जघान ।

यः शर्धते नानुददाति शृध्यां

यो दस्योर्हन्ता स जनास

इन्द्रः ॥१०॥

यः । शश्वतः । महि' । एनः ।

दधानान् । अमन्यमानान् ।

शर्वा' । जघान । यः । शर्धते । न ।

अनुददाति । शृध्याम् । यः ।

दस्यो' । हन्ता । सः । जनाम् ।

इन्द्रः ॥१०॥

सायणभाष्यम्—यो भहि मह्येनः पाप दधानान् शश्वतो दहूनमन्य-
मानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपृञ्जयतो वा जनान् शर्वा । शृणाति शत्रून्ने-
मेति शर्वाञ्चः । तेनायुधेन जघान । हन्तेर्लिटि रूपम् । यश्च शर्धत उस्ताहं
कुर्धतेऽनात्मज्ञाय जनाय शृध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रय-
च्छति । अनुपूर्वात् “हुदान् दाने” जीहोत्यादिकः । “अभ्यस्तानामादि.” (पा०
६।१।१८६) इति “तिङि चोदानवति” (पा० ८।१।७१) इति गनेर्निघातः ।
यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्णम् ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [महि] महान् [एनः] पाप को
[दधानान्] धारण करने वाले [शश्वतः] बहुसङ्ख्यक [अमन्यमानान्]

(इन्द्र को) न मानने वाला को [शर्मा] बाण से [जघान] मार देता है । [य] जो [शर्वते] उद्दण्ड की [शृध्याम्] उच्छृङ्खलता को [न अनुददाति] सहन नहीं करता है [य०] जो [दस्योः] दुष्टों का [हन्ता] वध करने वाला (है), [जनास०] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्र] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१ शर्वते—वेमा०, सा०—बहुतां को । दस०—अनादि स्वरूप पदार्थों को धारण करने वाला (य—इन्द्र—परमेश्वर का विशेषण) । वेमा० आदि के अर्थों से एक अनभिमत ध्वनि निकलती है—इन्द्र बहुत से पापिया को तो दण्ड दे देता है । शेष को नहीं ।

२. महिं—महत् का वैदिक रूप । नपु० द्वितीया एक व० ।

३. एनं—‘इयते प्राप्यते दुःसमनेनेत्येन०’ । देखो उ० ४।१९८ ।

४ दधानान्—√धा + शानच् का पुल्लिङ्ग द्वितीया बहु व० का रूप । आन् को ओं केवल एक ही समान पाद में होता है । दो पादों की सन्धि पर आने वाले को नद्वा होता ।

५. अमन्यमानान्—दस०—अज्ञानी शठ पापा (हि० अ०) । सा०—‘अपने आप को न जानने वाले २ इन्द्र की पूजा न करने वाले । वेमा०—इन्द्र (की सत्ता या शक्ति) को न मानने वाले । मै०—यह विचार न करने वाले कि इन्द्र उन्हें मार देगा ।

६. शर्मा—शृणाति अनेन इति शर । तृतीया एक व० । सा०—वज्र, आयुध । दस०—शासन स्पी वज्र । वेमा०—हिंसक (वज्र ?) से । वैद०—ऋ० १।१००।१८ १७२।२, १८६।९, २।१२।१०, ४।३।७, २८।३ आदि और अ० १।२।३, १।९।२ ६।६५।२, १२।२।४७ म यह ‘अज्र’ आयुध का, बहुधा निअय से ‘बाण’ का (जैसे ऋ० १०।१२५।६, ८७।६ में), परन्तु सम्भवतः कमाकमी ‘बाण, भाला’ का चोतक है ।

(११) इन्द्र पापियों का एक दम वध नहीं करता है । उस को न मानने वाला प्राणी भी संसार में बने ही नहीं रहते प्रत्युत बहुधा समृद्धिशाली और

सुखी भी होते हैं। अतः यहाँ पर सायण आदि का अर्थ विचारणीय है। दस० का अर्थ प्रकरण में अधिक सगत होता है। इन्द्र सब को उन के कर्म के अनुसार फल देने वाला है। यदि इस पद का नैष्ठिक अर्थ (√शृ से) लिया जाए और इसे 'क्षय' 'क्रमशः हास', 'पुण्या का और ज्ञान का नमपूर्वक होने वाला अत्यन्त क्षय' का श्रुतिक मान लें तो भाव अधिक सगत हो जाता है। ६ अ० जुधानं—√हन् का लिट् प्रथम पु० एक व० का रूप। सब भाष्यकारों और अनुवादकों ने इसे हिंसार्थक माना है। शर्वा के ऊपर प्रस्तावित अर्थ की दृष्टि में इसे गत्यशक भी माना जा सकता है—'पुण्या और ज्ञान के क्षय पर अग्रसर करता है।'।

७. शर्धते—सा०—उत्साह करने वाला। वेमा०—बल का प्रदर्शन करने वाला (=अकड़ दिखा कर प्रतिरोध करने वाला)। दस०—कुत्सित निन्दित पापयुक्त शब्द का उच्चारण करने वाला। मै०—घमण्डी, दया, उद्वण्ड। विको० ने इस पद के धातु शृध् के अर्थों में 'खिन्नी उड़ाना, नियम तोड़ना, कुत्सा करना' भी दिए हैं। दस० का अर्थ इन्हीं अर्थों से मिलता है।

८. अनुददाति—सा० नहीं देता है अर्थात् नहीं करने देता है। तु० क० दस०—अनुकूलता से नह्रा देता है। मै०—क्षमा करना (चतुर्थ्यन्त पदों के योग में)। पीटर्सन भी 'स्वीकार करना, सहमत हो जाना, मुक्त जाना और क्षमा करना' में इसी अर्थ को ले रहे हैं। ये अपने समर्थन में अनागुदो (न डुकने वाला) वृषभः (ऋ० २।२१।४, २१।११) को उद्धृत करते हैं।

९. दस्योः—सा०—उपशयिता (=हिंसक, नाशक, दुःखदायी) शत्रु। दस०—दूसरों के पदार्थों का हरने वाला दुष्ट। वेमा०—अमुर। मै०—दस्यु, राक्षस। यह पद शम्बर आदि अनेकों राक्षसों का सामान्य निर्देश करता है।

(ii) ऋ० ४।१६।९ में दस्यु को मायावान्, अग्रह्मा १०।२२।८ में अकर्मा, अमन्नु, अन्यत्रत, अमानुष, १।२३।४ में घनी, १।१७।३, ६।१४।३, ६।४१।२ में अत्रत, ८।७०।११ में अयज्वन्, अदेवयु, २।११।१९ में स्पध् (स्पर्धा करने वाले), २।२०।८ में आयसी पुरो का (रक्षक या निवासी)

कहा है । अने० १८।२।२८ म दस्युओं को ज्ञातिमुख, अहुवाद, परापुर और निपुर, १०।१।३७ में देवपीथु कहा है । अने० १८।२।२९ में ये पितरो में प्रविष्ट होने पर दस्यु अग्नि द्वारा यज्ञ में बाहर निकाले जाते हैं । अने० १०।१।१९ (ऋ० ३।३।१६), और ऋ० १।१०३।३ में इन्हें आयों से प्रथक् बताया गया है । उपरोक्त वर्णन से श्रेष्ठा (आयों) से इतर आध्यात्मिकज्ञानरूप, धर्मरक्षित, भौतिकशक्ती, अयज्ञ, सम्यग्धियों के द्वारा अपना दृष्ट सिद्ध करने वाले, परम स्वार्था, प्रजाओं में मिल कर उपजाप करने वाले, छली, कपटी और दूसरों के हित के नाश में तत्पर व्यक्ति ही दस्यु हैं । ऋ० ५।२६।१० में इन्हें मृगवाच भी कहा है । ऋ० ७।१८।१३ में आयों को भी मृगवाच कहा है । ऐ० ७।१८ में दस्यु उपरोक्त अर्थों का ही द्योतक माना जा सकता है क्योंकि वहाँ पर विनामित्र के कुछ वधजों को भी दस्यु कहा गया है । अतः आधुनिकों के इस विचार कि कुछ मन्त्रों में दस्यु अलौकिक मानवतर शत्रु और कुछ मन्त्रों में निश्चित रूप से व आदिम निवासी हैं—क लिए कोई स्थान नहा रह जाता है । ऐसी परिस्थिति में वैदिक दस्यु की इरानी दहू दस्यु से तुलना भी विचारणीय है ।

१० ह्रुता—यह पद '(शत्रु) 'पञ्चान' के ऊपर प्रस्तावित भाव का अनुरूप है । अतः इस का भाव 'दस्युओं को नाश के मार्ग पर अवसर करता है ।'

सहितापाठ

पदपाठ

१७. यः शम्वरं पर्वतेषु क्षियन्तं	यः । शम्वरम् । पर्वतेषु ।
चत्वारिंश शरद्यन्वाभिन्दत् ।	क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान	शरदि । अनुऽअभिन्दत् । ओजाय-
दानुं शयानं स जनास इन्द्रः	मानम् । यः । अहिम् । जघान ।
॥११॥	दानुम् । शयानम् । सः । जनासः ।
	इन्द्रः ॥११॥

सायणभाष्यम्—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रमिया बहून् संवत्सरान्
प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुह्यामु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं
चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्धविन्दतान्निष्यालमत । लब्ध्वा
च य ओजायमानम् । 'कर्तुः कथं सलोपश्च' (पा० ३।१।११) 'ओजसो-
ऽप्सरसो नित्यम्' (पा० ३।१।११) इति सकारलोपः । बलमाचरन्त-
महिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान्
स इन्द्रो नाहमिति ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद--[यः] जिस ने [पर्वतेषु] पहाड़ों में [क्षियन्तम्]
रहने वाले [शम्बरम्] शम्बर को [चत्वारिंश्याम्] चालीसवीं [शरदि]
शरद् (ऋतु की तिथि) में [अनु अविन्दत्] पा लिया [यः] जिस ने
[ओजायमानम्] बल का प्रदर्शन करते हुए [शयानम्] लेटे हुए
[दानुम्] दानशील [अहिम्] गतिहीन मेघ को [जघान] मारा
[जनासः] हे पुत्रो, [मः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ११ ॥

टिप्पणियाँ--१. शम्बरम्--सा०, वेमा०--असुर । दस०--मेघ । मै०--
वज्र, बल और गुण का छोट कर, शम्बर इन्द्र का बहुत अधिक वर्णित राक्षस
गठु है । द्रु उस पर अपने पर्वत से ही आक्रमण करता है । बटुषा इसे
बहुत से दुर्गों का स्वामी कहा गया है । रोय--जिन मन्त्रों में दिवोदास का
नाम आया है, वहीं पर देवों की सहायता से उस की हिसक शम्बर से मुक्ति का
भी वर्णन किया गया है (जैसे ऋ० १।१११।१४, १।६।१२) । यद्यपि पिछले
काल में यह शत्रु मात्र का, विशेषत इन्द्र के शत्रु का द्योतक है, परन्तु यह
सम्भव है कि इस अर्थ में समस्त गठुओं में सब से अधिक भयावह शत्रु,
वेमा के राक्षस की पुरानी स्मृतियों का प्रतिबिम्ब हो । वैद०--'शम्बर ऋग्वेद
में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है' । इस का नाम गुण, मित्र और वचिन् के
साथ आया है । एक मन्त्र में इसे 'कुलितर का पुत्र दास' कहा गया है । एक

मन्त्रों में वह अपने आप को 'देवक' मानता है। उस के नैवे, निन्यान्वे वा एक सौ दुर्गों का उल्लेख मिलता है। यह पद स्वयं नपुंसक लिंग बहुवचन में एक बार 'शम्बर के दुर्गों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस का प्रमुख शत्रु दिवोदास अतिथिग्व था जिस ने इन्द्र की सहायता से उसे जीत लिया।

(ii) निश्चय से यह कहना असम्भव है कि शम्बर वास्तविक प्राणी था या नहीं। हिलैन्नाड इसे दिवोदास का शत्रु एक जीवित राजा मानते हैं जो पीछे के मन्त्रों में क्रमशः राक्षस का रूप धारण करता गया। इस मत के अतिरिक्त सम्भवतः शम्बर पर्वतनिवासी भारत का मूल निवासी एक शत्रु था।

(iii) परन्तु ऋग्वेद के वर्णनों पर दृष्टि डालने से वेद० की उपरोक्त दो धारणाओं—दिव्य राक्षस और कोई प्राणीविशेष आदिनिवासी दिवोदास का शत्रु—को कोई पुष्टि प्राप्त नहीं होती। दिवोदास और शम्बर के युद्ध का ऋग्वेद में कोई वर्णन नहीं है^१। केवल इन्द्र दिवोदास अतिथिग्व के लिए शम्बर को हनन करता है। इस वर्णन में शम्बर मानवी शत्रु या दिव्य राक्षस से भिन्न अन्य ही कोई पदार्थ माना जा सकता है। ऋ० १।५।४ के अनुसार इन्द्र ने झुलोक की सानु को कम्पित कर शम्बर का नाश किया। ऋ० १।५।६ में वैश्वानर अग्नि जला (= काष्ठाः) को हिला कर शम्बर का वध करता है। अन्यत्र इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के गिरि से निवालता है^२। शम्बर दस्यु है^३। वह बृहत् पर्वत का अधिवासी कौलीतर दास है^४। अतः शम्बर सृष्टि रचना से पूर्व की मेघवत् आच्छादक स्थिति और तत्पश्चात् वह मेघ का घोनक है। ऋ० ८।१८।२० में अपने को देव समझने वाले को शम्बर कहा गया

१. ऋ० ७।१८।२० २. ऋ० १।१३।०।७ ३. ऋ० २।१९।६

४. ऋ० २।१४।६ ५. ऋ० २।२४।२

६. ऋ० १।५।१।६, १।३।०।७, २।१६।६; ४।२६।३ आदि।

७. ऋ० १।११।२।१४ में शम्बरइत्य इन्द्र के युद्ध का चोत्क है, दिवोदास के युद्ध का नहीं।

८. ऋ० १।१३।०।७ ९. ऋ० ६।३।१।४ १०. ऋ० ४।३।०।१४

है। ऋ० १।६।१२ में सोम शम्बर तुर्यश यदु को प्रकाशदान (= दिवोदासाय) के लिए बशीभूत करता है। इन में शम्बर के आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण स्पष्ट है। डा० पतहसिंह अपने वैदिक दर्शन (पृ० १५५) में लिखते हैं—‘परन्तु, सोम का वास्तविक स्थान तो स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम सुरक्षित है। उस के चारों ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहण रहता है। यही वृत्र है—जो इस को घेरे हुए है—सोम के दोनों तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इसको मार कर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है; अतः इस का नाम शम्बर है, सोम (आप.) को जुग लेने से यह सभी कुछ को शुष्क कर देता है, इस लिए यह शुष्ण कहलाता है।……’ अतः शम्बर अज्ञान, अभिमानी जन आदि का भी द्योतक है। दस० के अर्थों उल, सुलाघरक मेघ और शत्रु, अवर्मसम्बन्धी और कल्याणकारी में ये दृष्टियां परिलक्षित होती हैं। दस० ने इसे √उम्न् से व्युत्पन्न किया है। ऋ० १०।४२।७ में ‘शम्बरः’ (सा०—वत्र) का प्रयोग भी हुआ है।

२. पर्वतेषु—भाष्यकारों ने इस का अर्थ पर्वत = पहाड़ लिया है। इस वर्णन में पर्वत के स्थान पर गिरि का भी प्रयोग किया गया है। निघ० १।१०।१० में गिरि को और १।१०।१६ में पर्वत को मेघवाची कहा है। प्रत्येक पर्ववान् वस्तु पर्वत और उद्गूर्ण वस्तु गिरि है। अतः ये प्रत्येक की स्थिति और सृष्टि की स्थिति की सन्धि का द्योतक है। आध्यात्मिक जगत् में बुद्धि और मन आदि का वाचक है।

१. अत्रे० २०।३४।१२ में—‘अन्तगिरो यजमान बहु जन यस्मिन्नामूर्तं’ में भी प्रस्तावित आध्यात्मिक दृष्टि लक्षित हो रही है। यह मन्त्र वहाँ पर विचार्यमाण मन्त्र के तुरन्त पश्चात् पडा गया है। निघ० १।१०।१४ में शम्बर मेघनाम है, १।१२।८ में उदक्नाम और २।१।२८ में वलनाम। निघ० ४।२।७२ में शम्बरः पदनाम है।

३. चत्वारिंश्या शरदि^१ अन्वधि^१न्दत्—सामान्यतः इस का अर्थ 'चालीसवें वर्ष' या 'चालीसवीं शरद् ऋतु में' किया जाता है। तिलक ने इस का अर्थ 'शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है। शम्बर के अर्थ के समान इस पदावली का अर्थ भी एक समस्या है। शम्बर का जैसा अर्थ किया जाए उसी के अनुसार इस का अर्थ करना पड़ेगा। सशकौको० में इसे चतुर् और दशन् से व्युत्पन्न किया है। चतुर् √ चत् (मागना) और दशन् √ दश् (ग्रसना) से बनते हैं। शरद् √ शृ (शीर्ण करना—होना) से व्युत्पन्न है। अतः यह दयनीय क्षीण होती हुई अवस्था के चोत्तक माने जा सकते हैं। यह अवस्था प्रलय काल की समाप्ति और जिज्ञासु के मन में ज्ञान की पिपासा जाग्रत होने पर पाई जाती है।

४. ओज्जायमानम्—ओजस्=बल दिखाने वाले। पैलने वाले, सन को अपने वश में कर इन्द्र की शक्तियों का विरोध करने वाले।

५. अहि^१म्—मेघ। ऊपर मन्त्र ३ में अहि पर टिप्पणी देखें।

६. दानुम्—ददातीति दानुः। देने वाला। मा० आदि ने दानु को शम्बर की माता का नाम माना है। वर्षा करने के कारण मेघ दानु है, ज्ञान के लिए स्थान छोड़ने वाला अज्ञान भी दानु है।

७. शर्यानम्—√ शी + शानच् से। सीते हुए, लेटे हुए, अन्तर्मग्न बने हुए। शम्बर के प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ 'पैले हुए' भी किया जा सकता है। लेटा हुआ व्यक्ति पैला हुआ ही होता है।

(११) हिध० में इस का मूल अर्थ लेटा हुआ = आराम करता हुआ = गतिहीन लिया गया है। परोपकार करने में समर्प व्यक्ति यदि गतिहीन हो जाए तो लोक का बड़ा अनिष्ट हो जाता है। इसी लिए यज्ञमथ उन्नत पुरुषों को

१. शरद् के वैदिक प्रयोग से ऐसा लभित होता है कि उस काल में वर्ष शरद् ऋतु से प्रारम्भ होता रहा होगा। शरद् का बहुवचन में प्रयोग स्पष्टतः ५ समस्त वर्ष का चोत्तक है।

परोपकार में रत न रहने पर रतहीन, स्वायां = रेबलादी = वेबलाध कहा है ।
ऐसे जन इन्द्र के नियमा को पूर्ण न करने से बध्य होते हैं । दया करने में
समर्थ होने पर भी न बरमने वाला मोक्ष ईश्वर का सूर्य द्वारा बध्य है ।

संहितापाठः

पदपाठः

१८. यः सप्त॑रश्मि॒वृ॒षभस्तु॑वि॒ष्मान् यः । सप्त॑रश्मिः । वृ॒षभः । तुवि॑-
अ॒वा॒सृ॒जत्सर्त॑वे स॒प्त सिन्धू॑न् । प्मान् । अ॒व॒ऽअसृ॑जत् । सर्त॑वे ।
यो रौहि॑णमस्फु॒रद्वज्र॑ग्राहु- स॒प्त । सिन्धू॑न् । यः । रौहि॑णम् ।
द्या॒मारोह॑न्तं स जना॑सु इन्द्रः अस्फु॑रन् । वज्र॑ग्राहुः । द्याम् ।
॥१२॥ इन्द्रः ॥१२॥

सायणभाष्यम्—यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य ।
तं च रश्मयो “वराहव स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्रापयो गृहमेधाश्चेत्येने
ये चेमेऽशिमिविद्विष पर्जन्याः सप्त प्रथिवीपमिवर्षन्ति वृद्धिभिः”
(तै० आ० १।१।४।५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्यग्राताः । वृषभो वर्षस्तु
विष्मान् वृद्धिमान् बलवान् या सप्त सर्पणस्य भागान् सिन्धूनपः सर्तवे
सरणायाऽसृजद् असृष्टवान् । यद्वा । गङ्गाद्याः सप्त मुरया नदीरत्नजन ।
यश्च वज्रग्राहुः सन् या दियमारोहन्त रौहिणममुरजस्फुरज्जवान् । “स्फु
स्फुरणे” तुदादिः ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सप्तरश्मिः] सात निरणा वाला [वृषभ] काम
नाआ का पूरक [तुविष्मान्] शक्तिशाली [यः] जो [सर्तवे] बहने के
लिए [सप्त] सात [सिन्धून्] नदीओं को [अवासृजत्] मुक्त करता है,
[वज्रग्राहुः] वज्र के सहस्र भुजाओ वाला [यः] जो [द्याम्] स्वर्ग में
[आरोहन्तम्] चढ़ते हुए [रौहिणम्] रौहिण को [अस्फुरन्] मारता
है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१. सप्तर्शिमः—सा०—सात पर्जन्यों वाला । मै०—सात नाथों वाला । सम्भवतः इस का अर्थ दुर्धर्ष, अप्रतिहत है । पीटर्सन—रस्त्रियों से युक्त जो उस का नेतृत्व करती है और उस की सामर्थ्य को प्रकाशित करती है । घटुधा देवताओं को इस प्रकार प्रगल्भ रूप में वर्णित किया गया है । दस०—सात प्रकार की किरणों वाला (सूर्यलोक) । ये रक्तादि सात रंगों वाली किरणें ही हैं ।

(ii) उ० ४।४६ में 'शिमः' को $\sqrt{\text{अश्}}$ (व्याप्त होना) से सिद्ध किया गया है । सूर्य की किरणें आरोग्यप्रद मानी गई हैं । जल चिकित्सा करने वाले इन किरणों को अलग अलग रंग की बोतला में रखे हुए जल में डाल कर उन से चिकित्सा करते हैं । सूर्य इन्द्र की शक्ति से ही गति करता है । अतः यहाँ पर ब्रह्म के सृष्टिवर्णन में प्राणियों को प्राण देने के वर्णन में उसे सप्तर्शिम सूर्य के रूप में स्मरण किया गया है । व्युत्पत्ति के आधार पर इस का अर्थ 'गतिवाँ, शक्तियाँ' भी किया जा सकता है ।

२. वृषभः—वेमा०, सा०—वर्षक । मै०—बैल । वृषभरद देवताओं के लिए, विशेषतः इन्द्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । यह महान् शक्ति और उर्वरता, अमोघ वीर्यत्व का द्योतक है । दस०—मेघ की शक्ति को रोकने वाला । ऊपर १।१५।४३ में वृष्णे पर टिप्पणी भी देखें । वहाँ प्रस्तावित अर्थ भी यहाँ लगाया जा सकता है ।

३. तुर्विष्मान्—वेमा०—बलवान् । सा०—वृद्धिमान् । दस०—बहुत बल से खींचने की शक्ति से युक्त सूर्यलोक । मै० लिखते हैं कि पदपाठ में मन्त् प्रत्यय को केवल अजन्त प्रकृतियों के आगे आने पर ही अवश्यहीत किया जाता है (जैसे गोऽमान्) ।

४. सप्तैवे— $\sqrt{\text{स}}$ से तुमुवर्थ में तवेन् प्रत्यय । गति करने के लिए ।

५. सप्त सिन्धून्—ऊपर २।१२।३ में सप्तसिन्धून् पर टिप्पणी देखें । जैउब्रा० १।२६।९ में सिन्धु की निरुक्ति 'तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः' दी है । इस के आधार पर यह पद घमनियो (= शरीरस्य सफेद रक्तवाहिनी

नाडियों) का द्योतक है और यह अर्थ ऋ० ८।६६।१२ में संगत होता है^१। मानव को क्लोम (= फेफड़े) पर आने वाली रक्तवाहिनी नाडियों से ही जीवनशक्ति प्राप्त होती है।

६. रौहिणम्—सा०—अमुर । वैको०—इन्द्र का राक्षस शत्रु । यह ऋग्वेद के एक और मन्त्र (१।१०।३।०) तथा अवे० २०।१२८।१३ में भी प्रयुक्त हुआ है। हिलेब्राण्ड ने इसे रोहिणी नक्षत्र का नाम माना है, परन्तु इस के लिए कोई स्पष्ट युक्ति नहीं है। यास्क—मेघ (निघ० १।१०।१५) । दस०—रोहिणशील मेघ ।

(ii) ऋ० १।१०।३।२ में अहि को मारने और रौहिण को पाड़ने का कथन किया गया है—अहन्नहिमभिनद्रौहिणम् । अवे० २०।१२८।१३ में वृत्र के निग को पाड़ने और रौहिण को निकालने, ऊपर फेंकने का वर्णन है—त्व रौहिण व्यास्यो । वि + आ + √अस् फेंकना + लङ् मध्यम पु० एक व०) वि वृत्रस्याभिनच्छिह् । उ० २।५५ में इसे √रह् से व्युत्पन्न किया है—रोहति वीजेन जायते य. स रोहिणः । अर्थात्—वनस्पतियाँ—वृक्ष, लता, पौधे आदि । रौहिण-रोहिण से स्वार्थ में या जात-अर्थ में (औणादिकपदार्णव ३।६४।२९९, पृ० १४६) ।

७. अस्फुरन्—सा०—मार दिया । दस०—फुरती देता या चलाता है । रौहिण के प्रस्तावित अर्थ में—विकसित करता है, बढ़ाता है ।

८. वज्रवाहुः—मै०—वज्र धारण करने वाला । सा०—वज्र के सदृश भुजाओं वाला । दस०—भुजाओं के समान (वज्र=) किरणसमूह वाला ।

१. देतो—हमारा ग्रन्थ—ए क्रिटिकल स्टडी औफ टी कम्पैण्टरी औन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द (सीएमडी० नाम से उद्धृत) (अप्रकाशित), पृ० ३११—३१४ । नि० ५।२७ में यास्क ने इस मन्त्र के अर्थ में 'यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणाधानुक्षरन्ति' लिखते हुए 'प्राणाय' पद से हमारे प्रस्तावित अर्थ का समर्थन किया है । हमारा लेख ए स्टडी औफ दयानन्द (२), पूना ओरियण्टल्लिस्ट १३।३-४ लेख पृ० ८ संदर्भ ३ भी देखें ।

९. याम् आरोहन्तम्—मै०—इन्द्र पर व्याक्रमण करने के लिए स्वर्ग में चढ़ते हुए को । प्रस्तावित अर्थों में—उगते हुए, आकाश में चढ़ते हुए, निकलते हुए ।

९. भाव यह है कि इन्द्र सूर्य की किरणों द्वारा प्राणियों को जीवनशक्ति देता है और समस्त उगने वाली वनस्पति आदि वस्तुओं को उगाता, बढ़ाता और खिलता है ।

संहितापाठः

१९. द्यावां चिदस्मै पृथिवी
नमेते

शुष्मां चिदस्य पर्वता भयन्ते ।

यः सोमपा निचितो वज्रवाहु-

र्यो वज्रहस्तः स जनासु इन्द्रः

॥१३॥

पदपाठः

द्यावां । चित् । अस्मै । पृथिवी

इति । नमेते इति । शुष्मात् ।

चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते ।

यः । सोमपाः । निचितः ।

वज्रवाहुः । यः । वज्रहस्तः ।

सः । जनासुः । इन्द्रः ॥१३॥

सायणभाष्यम्—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी । इतरेतरापेक्षया द्विवचन “प्र मित्रयोर्वरुणयोः” (ऋ० ७।६६।१) इतिषत् । नमेते स्वयमेव प्रह्वीभयतः । “णमु प्रह्वत्वे” । कर्मकर्तारि “न दुहस्तुनर्मा यक्चिणौ” (पा० ३।१।८६) इति यक्. प्रतिषेध । चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलान् पर्वता भयन्ते विभ्यति । यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः । यद्वा । अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः । वज्रगार्ध्वजसन्श्वाहुः । यश्च वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि शसिद्धम् ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्मै] इस (इन्द्र) के लिए [द्यावा] शूलोक (और) [पृथिवी] पृथिवी लोक [चित्] भी [नमेते] शुकते हैं, [अस्य] इस के [शुष्मात्] बल से [पर्वताः] पर्वत [चित्] भी [भयन्ते] डरते हैं [यः] जो [वज्रवाहुः] वज्र के समान भुजाओं वाला

[सोमपाः] सोम का पीने वाला [निचितः] निश्चय किया गया है, (और) [यः] जो [वज्रहस्तः] हाथ में वज्र धारण करने वाला है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥

टिप्पणियाँ—१. द्यावा.. पृथिवी—देवता इन्द्र समास के दोनों पद बहुधा अन्य पदा के व्यवधान से पृथक् पृथक् किये हुए भी मिलते हैं। इन समासों में दोनों पदों का अपना-अपना स्वर सुरक्षित पाया जाता है। अतः इन में दो उदात्त अक्षर होते हैं। सा० के अनुसार एक दूसरे की अपेक्षा से 'मित्रयोर्व-रुणयो' के समान ये दोनों ही पद द्विवचनान्त हैं।

२. चिन्—सा०—भी। दस०—इव, समान। निघ० ४।२।३१ में इसे पदनाम माना गया है। नि० १।४ में इसे पूजार्थक और उपमार्थक भी बताया है। यह ✓चि चुनना से निष्पन्न है। अतः इसे अस्मै और अस्य का विशेषण भी बनाया जा सकता है।

३. नमते—छक्ते हैं। दस०—अतिसामर्थ्ययुक्त शब्दायमान होते हैं।

४ शुष्मात्—सा०, दस०—बल। मै०—वेग, प्रचण्डता। पीटर्शन—साम। ऊपर मन्त्र १ में शुष्मात् पर टिप्पणी देखें।

५. पर्वताः—भाष्यकार और अनुवादक इसे पहाड़ के अर्थ में लेते हैं। जैसा ऊपर म० ११ में पर्वतेषु की टिप्पणी में लिखा है प्रत्येक पर्व = जोड़ से युक्त वस्तु पर्यंत है। अतः सगमनशक्ति, एकता की शक्ति। एकता ओर सगमन से शक्ति अप्रतिहत, दुर्धर्प हो जाती है। इन्द्र के सामने ऐसी शक्ति भी निर्गर्भ हो कर भीरुपत् हो जाती है।

(११) ऊपर आवा प्रकाश, तेज का और पृथिवी विस्तार का प्रतीक है। तेजस्वी और प्रवृद्ध शक्तियाँ भी इन्द्र के सामने हीन हैं।

६. सोमपाः—सा०—सोम रस का पीने वाला। दस०—पदार्थों के रस को पीने = खींचने वाला। ऊपर म० ६ में सुतसोमस्य पर टिप्पणी भी देखें।

(१२) सोमपाः में उत्तरपद को ✓पा रक्षणे का भी रूप माना जा सकता है। इन्द्र प्राणों की रक्षा करने वाला और अपनी सामर्थ्य से सब को नियमित

करने वाला, कमश क्षीण करने वाला है । नीचे वज्रहस्त* पर त्रिषणी भी देख ।

७. निचित — मै० — समझा गया है । दस० — निरन्तर अनेक पदार्थों से इकट्ठा किया गया । नि + √ चि + स का रूप । वेमा० — दृढ़ शरीर वाला ।

८. यज्र*ग्राहु — सा० — वज्र के समान भुजाओं वाला । मै० — भुजा में वज्र को धारण करने वाला । दस० — ग्राहुओं के समान किरणों का बल ।

९. यज्र*हस्त — सा० — यज्रयुक्त । मै० — हाथ में वज्र को धारण करने वाला । दस० — किरण रूप हाथों वाला ।

(३३) यहाँ पर वज्रग्राहु और वज्रहस्तः दोनों लगभग एक ही भाव के चोतक प्रतीत होते हैं, इस कारण इन में से एक का प्रयोग पर्याप्त था । अतः इन दोनों का युगपत् प्रयोग साभिप्राय है—वज्रग्राहु — प्राणशक्ति की सम्पन्नता, पोषक शक्ति का और वज्रहस्त* — सहायक, क्षीण करने वाली शक्ति का चोतक है । ये ही दोनों भाव ऊपर सोमश* से निकाले गए हैं ।

सहितापाठ

पदपाठ

२०. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं
यः शंसन्तं यः शशमानमृती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो
यस्येदं राघः स जनास इन्द्रः

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः ।
पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः ।
शशमानम् । ऊती । यस्य । ब्रह्म ।
वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य ।
इदम् । राघः । सः । जनासः ।

॥१४॥

इन्द्रः ॥१४॥

सायणभाष्यम्—य सुन्वन्तं सोमाभिपद्ये युर्वन्त यजमानमवति रक्षति । यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्त यज्र ऊती ऊतये । “क्षुपा मुडक्” (पा० ७।१।२९) इति चतुर्ष्यां पूर्वसवर्णदीर्घः । स्वरक्षाये शस्त्राणि शसन्त यज्र शशमानमवति स्तोत्रं कुर्वाण रक्षति । ब्रह्म परिवृढ स्तोत्र यस्य वर्धनं वृद्धिर्भवेति । तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य

चेदमस्मदीयं राघः पुरोडाशादिलक्ष्ममन्नं वृद्धिकरं भवति । स इन्द्र
इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [उर्ता] अपनी रक्षा से [सुन्वन्तम्]
सोमरस निकालने वाले की, [यः] जो [पचन्तम्] (इन्द्र) के लिए पकाने
वाले की [यः] जो [शंसन्तम्] स्तुति करने वाले की (और) [यः] जो
[शशमानम्] प्रार्थना करने वाले की [अवन्ति] रक्षा करता है, [यस्य]
जिस के [ब्रह्म] प्रार्थनाएँ [सोमः] सोमरस और [यस्य] जिस का
[इदम्] यह [राघः] धन [वर्धनम्] वर्धक (हैं), (हे) [जनासः]
पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र का भाव यह है—कर्मशील, परोपकारी,
इन्द्र के भक्त, सर्वेव इन्द्र को प्रिय रहने हैं । जो इस के विपरीत आलसी,
स्वार्थी, इन्द्र की सत्ता को न मानने वाले इन्द्र द्वारा प्रेयः और श्रेयः के सतत
दान द्वारा रक्षित नहीं होते हैं । ऐसे जनो को इन्द्र क्षीण करता रहता है ।
इन्द्र की प्राप्ति स्त्रियों के पाठ, दूसरों को मुक्त देने और परोपकार में लगे हुए
धन से सम्भव है । इन्हीं कर्मों से प्रसन्न हो कर वह अपने आप का जिज्ञासुओं के
सामने प्रकाशित कर देता है । तु० क०—उतो त्वस्मै तन्वं विसृजे जायेत् पत्य
उशती सुवासाः । (ऋ० १०।७।१४) आदि ।

२. सुन्वन्तम्—सा०—सोम रस निकालने वाला । दस०—सब के लिए
मुक्तों की सृष्टि करने वाला ।

३. पचन्तम्—सा०—पुरोडाश आदि हवियों का पकानेवाला । वेमा०—
चर और पशुओं के अंगों को पकाने वाला । पीटर्सन—सोम को (पका कर)
शराब बनाने वाला ।

(ii) सब भाष्यकारों का विचार है कि सोम निकालना आदि क्रियाएँ
इन्द्र के लिए की जा रही हैं । जिस से वह प्रसन्न हो जाए । अपनी सेवा और
प्रशंसा से सभी प्रफुल्लित होते हैं । इन्द्र इस का अपवाद कैसे हो सकते हैं ।

(iii) परन्तु वेद में पुरुषसूक्त, यशसूक्त आदि में यज्ञ = सत्कार का वर्णन
करने का विधान दिखाई पड़ता है । ऋग्वेद में कहा भी है—येयदायो भवन्ति

वेवल्यादी (ऋ० १०।११।७।६) । अतः यह पाचन इन्द्र के लिए नहीं प्रयुक्त अतिथि यज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और देवयज्ञ के निमित्त है ।

४ शसन्तम्—सा०--शस्त्रैर्गठ करते हुए । पोर्सन--गायक, स्तोता । मै०--देवताओं व प्रशंसक ।

(११) हम में नीति के यवन 'सत्य ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् । न ब्रूयात् सत्यम् प्रियम् । प्रियं च नानृतम्' का भाव निहित है । दूसरों की निगा से न अपने को शान्ति मिलती है न अर्थों की ही ।

५ शशमानम्—सा०--स्तोत्र पढ़ने वाला । वमा०--स्तुतियों से पूजा करने वाला । मै०--यज्ञ निष्पन्न कर देने वाला । प्रा०--√गम् + मानच् से । इस के मूल अर्थ--'काम करना, परिश्रम करना, गतिशील होना' ही ऋग्वेद में सर्वत्र मिलते हैं । इसी से पिछले अर्थ 'यफना, विश्राम करना' निकले हैं । तु० व० मीरु कम् नो के अर्थों का विकास । अन्य अर्थों के साथ यह '(यज्ञ द्वारा) देवताओं की सेवा में तपस्व रहना, श्रद्धा से प्रार्थना करना' का भी द्योतक है । नि० ६।८--प्रशंसा करते हुए । निघ० ३।१४।२२--अर्चा करते हुए ४।३।३८--पदनाम ।

६ अर्चति--√अर्च के अर्थ रक्षा, गति, कान्ति, दीप्ति, प्रीति, वृद्धि, श्रवण आदि हैं । अतः इन्द्र परमुखा निरत को गति और वृद्धि देता है, परार्थ के लिए पक्वाने वाले को दीप्ति, ऐश्वर्यदान आदि देता है । प्रिय बोलने वालों में प्रीति उत्पन्न करता है और परिश्रमी को नित्या और भागवृद्धि देता है ।

७ ऊती—मै० √अव् + तिन् = ऊति, वृत्तीया एक व०, स्त्रीलिंग । वैदिक रूप । मै० इसे अगति व साथ लगा कर 'सहायता से' अर्थ करते हैं । सा० ने इसे चतुर्थ्यन्त मान कर शसन्तम् कम का प्रयोजन माना है ।

१ अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम् । २ प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम् । ३ निघ० के समस्त पदनाम गति, प्राप्ति और ज्ञानायक होते हैं । देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड टी निघण्टु ऑफ़ यास्क, आइओका (स०) १९५३ (अहमदाबाद) ।

(११) 'उतो त्वरमै तन्व विसखे' के भाव के अनुसार इस का अर्थ 'अपने स्वरूप का प्रकाशन' भी किया जा सकता है ।

८ ब्रह्मा—√बृह् बढना से । ऊपर मन्त्र ६ में ब्रह्मण पद पर णिष्णी देखें । सा०—परिवृढ स्तोत्र । पीटर्सन—प्रार्थना । ब्राह्मण ग्रंथों में इस के यज्ञ, मन्त्र, ऋक्, गायत्री, प्रणव आदि अर्थ दिए गए हैं । अतः वेदज्ञान, प्रणवजप रूप यज्ञ आदि ।

९ सोम—ऊपर मन्त्र ६ में सुतसोमस्य पर णिष्णी देखें । सोम शान्ति और मन सयम का द्योतक है । दु० क० सौम्य-पद । श० ३।३।२।३ में सोम के वास को शोभन बताया है । यह ब्राह्मणों का भक्ष है (ऐ० ७।२९) । दस०—चंद्रमा और ओषधियों का समूह ।

१० राध—सा०—पुरोडाश आदि अन । मै०—भेंट । दस०—धन ।

(१२) यह √राध् सिद्ध करना, प्रसन्न करना आदि से बना है । दूसरों की सिद्धि करने वाला, प्रसन्न करने वाला, अतः परोपकार में लगाया हुआ धन ।

सहितापाठः

पदपाठः

२१. य मुन्वते पचते दुध्र आ
चिद्

वाजं ददपि स किलासि सत्यः ।

चयं तं इन्द्र विश्वहं प्रियासः

सुग्रीरासो विदधमा वंदेमा ॥१५॥

य. । सुन्वते । पचते । दुध्रः ।
आ । चित् । वाजम् । ददपि ।

सः । किल । असि । सत्यः ।

वयम् । ते । इन्द्र । विश्वहं ।

प्रियासः । सुग्रीरासः । विदधम् ।

आ । वदमे ॥१५॥

सायणभाष्यम्—इदानीमपि साक्षात्कृतमिन्द्र प्रति ब्रूते । हे इन्द्र यो दुध्रा दुध्रं सन् मुन्वते सामाभिपन्नं कुर्वते पुरोडाशादिहर्षापि पचते यत्प्रमानाय वाचमन्नं यत् वा ददपि भृशं प्रापयसि स तान्निगस्त्व सत्या

यथार्थभूतोऽसि । न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि । किलेति प्रसिद्धौ । ते तव प्रियासः सुवीरासः कस्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेप्सहसु त्रिदशं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[दुध्र] घोर [यः] जो [मुन्यते] सोम रस निकालने वाले [पचते] (परोपकार के लिए) पकाने वाले के लिए [वाजम्] अन्न [चित्] भी [आदर्दपि] देते हो [सः] वह (तुम) [विल] नि सन्देह [सत्यः] सच्चे [असि] हो । [इन्द्र] हे इन्द्र, [सुवीरासः] उत्तम वीर सत्तानों वाले [ते] तुम्हारे [प्रियासः] प्रिय [वयम्] हम [विश्वह] सदा ही [विदथम्] प्रार्थना के वाक्य [आ वदेम] बोलते रहें ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—दुध्र —सा०—दुर्घर । दस०—कटिनता से जान कर हृदय में धारण करने योग्य (ईश्वर) । मै०—परम उग्र ।

(श) इस सूत में जैसा ऊपर दिखाया गया है इन्द्र-परमेश्वर के सुष्ठि रचना विषयक वीरवर्मा का वर्णन किया गया है । जिस की शक्ति इतनी महान् है जितनी ऊपर वर्णित की जा चुकी है और जो हृदियों को प्रत्यक्ष नष्ट है उसे जानना और अनुभव करना सरल नहीं । वह सत्र को अपने शासन में रखने वाला और दण्डों को दण्ड देने वाला है । अतः वह 'दुध्र' (दूर + √धृ से) है ।

२. वाजम्—सा०—अन्न, बल । दस०—सत्र के वेग को । मै०—लूट का माल । मै०—वाज का सम्बन्ध वेजेओ, विजेओ, विजिल्, वाकर से है । वह वेद के उन कटिनतम पदों में से है जिस के सामान्य अर्थ की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर निश्चित रूप से समझना सम्भव नहीं । सेंट पीटर्सबर्ग कोष में ये अर्थ दिए गए हैं—तीव्रता, दौड़, दौड़ वा विजय धन (= पारितोषिक), लाभ, निधि, (भाष्यकारों के अनुसार बहुधा अन्न, हवि), दौड़ का घोड़ा आदि । इन् सत्र अर्थों के एक समान मूल की खोज कटिन है । तो भी हम—बल, शगडा, सघर्ष, दौड़—चाहे मैत्रीपूर्ण हो,

चाहे शत्रुता के कारण अथों से प्रारम्भ कर सकते हैं और तब हम—जो कुछ दौड़ या युद्ध में जीता जाय अर्थात् लूट का माल, निधि पर पहुँच कर अन्त में वाजाः को उपार्जित घन, भेंट में प्रदत्त वस्तुओं—के अधिक व्यापक अर्थों में ले सकते हैं । (इण्डिया ब्याड कैम इट टीच अस, पृ० १६४) । त्रिको०—ने ये अर्थ भी दिए हैं—उत्साह, गति, प्राणशक्ति, गति (विशेष रूप से घोड़े की), वाण पर लगे हुए पर, पर, घ्वनि, ऋभु, चैत्रमास आदि । ब्राह्मणग्रन्थों में इस के वीर्य, ओषधियाँ, पशु, स्वर्गलोक, अन्न और वाक् अर्थ मिलते हैं । गो० २।१।२० में छन्दासि को और गो० २।१।२२ में उक्थ्याः को वाजिनः कह कर वाज का अर्थ ज्ञान किया है (तै० १।१।२।५ भी देखें) । पाउ० सू० १७,४८ में वाज पर टिप्पणी भी देखे । निघ० २।७।२ में यह अन्न नाम है, २।६।१अ में बलनाम । निघ० ४।२।५० में वाजगन्ध्यम् को और ५।६।३० में वाजिनः को पदनाम मान कर वाज को भी पदनाम माना गया है (सीएसडी० पृ० ३९४ भी देखें) । अतः भारतीय परम्परा इसे √वज् जाना से व्युत्पन्न कर के समस्त अर्थों को गति-अर्थ से ही विकसित करती है । डा० फ़तहसिद् ने वैए० ६२८ में माना है कि ऋ० १।४।६ 'त त्वा वाजेधु वाजिन वागयामः शतक्रतो' में भी वाज को √वज् से व्युत्पन्न किया गया है । दस० ने इसी आधार पर अपने अर्थ दिए हैं ।

(ii) सूक्त में प्रस्तावित भावों और पिछले मन्त्र में सुन्वन्तम् आदि की दृष्टि में इस का अर्थ उत्साह, बल, शक्ति, घन, अन्न और ज्ञान किए जा सकते हैं ।

३. आ दर्द पि—आ + √दृ + यट् + लट् मध्यम पु० एक व० । सा०—प्रभूत रूप में प्राप्त कराते हो । मै०—(छीन कर) देते हो । दस०—सुर ओर से पूर्ण रूप से नष्ट करते हो । यहाँ पर सायणीय अर्थ ही ग्राह्य है ।

४. विदथम्—ओल्डनर्ग इसे वि + √धा से० व्युत्पन्न मानते हैं । वि √धा का अर्थ 'बाटना, प्रबन्ध करना, विधान करना' है । अतः विदथ का मूल अर्थ विधान के अर्थों के सदृश 'विधाबन, प्रबन्ध, नियम, विधान' रहे

होगे । वैदिक ऋषियों की दृष्टि में यज्ञ ही परम कृत्रिमता से विहित था । अतः यज्ञ (हवन) और विदथ (नियम, विधान) लगभग पर्याय बन गए । अन्त में विदथ का अर्थ 'किसी काम को पूरा करना' आदि मालूम पड़ता है । बृहद् वदेम विदथे सुवीराः आदि सदमों में यह अर्थ उपलब्ध होता मालूम देता है । इस प्रकार 'विदथ' और 'समा' अर्थों में एक दूसरे के समीप पहुँचते हैं । समा में प्रभावशाली पुरुष को विदथ्य भी कहा गया है और समेय भी । (वैदिक हिन्दा) ।

(ii) मै० लिखते हैं कि इस पद की व्युत्पत्ति और ठीक ठीक अर्थों पर बड़ी ऊहापोह की गई है । अब इस में कोई सन्देह नहीं रहा है कि यह √विष् पूजा करने से निष्पन्न है और इस का अर्थ दिव्य पूजा (= देवपूजा) है । इस का यज्ञ से भेद करना अति कठिन है । निघ० ३।१७ में यह यज्ञनाम भी है ।

(iii) निघ० ३।१७।५ में विदथः यज्ञनाम है और ४।१।३३ में पदनाम । यज्ञनाम होने से इस पद के देवपूजा, सगतिकरण और दान तथा पदनाम होने से गति, ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी अभिप्रेत हैं । (देखो वेमाप० १३ ; ३०) । नि० ६।७ में इसे √विद् जानना से व्युत्पन्न किया गया है । एया० में इस के अनुरूप भायो० उद्—देखना दिया गया है और विदथे को गैलिक दृष्टिस्—परम मेधावी (द्रु + उद्) से पुलित किया गया है । यहाँ इस निर्वचन को आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों के अनुकूल माना गया है ।

५. यः सुच्यते०—केवल यह अन्तिम मात्र ही 'स जनास इन्द्र' से समाप्त नहीं होता है । इस में वर्णन मध्यम पुरुष में किया गया है । पाद २ में 'स क्लृप्तासि सत्यः' का प्रयोग किया गया है । शेष मन्त्रों की दृष्टि में यहाँ मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में पर्यवसान अमीष्ट है । मन्त्र के पाद ४ में यत्समद ने अपना प्रिय वाक्य 'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः' रखा है ।

१. वेमाप० ४।३२-४४ भी देखें ।

ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नागायणः । देवता—पुरुषः । छन्दः—१-१५ अनु-
ष्टुप् ; १६ त्रिष्टुप् ।

सहितापाठ

पदपाठ

२२. सहस्रशीर्षा पुरुषः

सहस्रशीर्षा । पुरुषः ।

सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ।

स भूमिं विथर्तते वृत्वा-

सः । भूमिम् । विथर्तते । वृत्वा ।

त्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥१॥

अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

यजुर्वेदे तृतीयपादस्त्वेवम्—

यजुर्वेदीय पदपाठ—

स भूमिं ~ सुर्वतः स्पृत्वा-०००००

सहस्रशीर्षेति सहस्रशीर्षा ।

पुरुषः । सहस्राक्षऽ इति सहस्र-

ऽअक्षः । सहस्रपादिति सहस्र-

ऽपात् । सः । भूमिम् । सुर्वतः ।

स्पृत्वा । अति । अतिष्ठत् ।

दशाङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—“सहस्रशीर्षा” इति षोडशर्चं पञ्च सूक्तम् । नारायणो
नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अन्त्यमहदादित्रिंशदश्वेतनो व. पुरुषः

“पुरुषात्र परं चिचित्” (ऋ. उ. ३ । ११) इत्यादिभ्रुतिषु प्रमिद्धः स देवता । तथा चानुमान्तं—“सहस्रशीर्षा पोळ्य नारायणः पोष्यमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु” इति । गतो विनिवोगः ।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडारयो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणव्यादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तदेहान्तःपातित्वान् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राश्रित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमि-ब्रह्माण्डगोलरूपां विश्वतः सर्वतः धृत्या परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठन् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [सहस्रशीर्षाः] हजारों सिरों वाला [सहस्राक्षः] हजारों आंखों वाला [सहस्रपाद्] हजारों पैरों वाला (है) । [सः] वह [भूमिम्] विद्यमान उत्पन्न सत्र कुण्ड को [विश्वतः] सब ओर से [धृत्या] आच्छादित कर के [दशाङ्गुलम्] दस अंगुलियों की दूरी पर [अत्यतिष्ठन्] वर्तमान है ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपाद्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है । अतः असंख्य सिर आंखों आर पैरों वाला । उत्पादित प्राणियों के सिर, पैर, ओर आते हैं । दस० का प्रचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं ।

(ii) यहा पर सिर, आंख और पैर को ब्रह्म की इन पदों से बोधित शक्तिः—१. चिति=ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्राणन अभिप्रेत है । ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का संचालन आदि करता है । इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

“सर्वतः प्राणिनां तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमहोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥” श्वेउ० ३।१६॥

वेद में भी कहा है—

‘विश्वतोऽश्च्युत विश्वतोऽमुक्तो विश्वतो वाङ्मृत विश्वतस्थात् ।
स ब्राह्म्या धमात् सं पतत्रयानाभूमी जनयन् देव एव ॥’

ऋ० १०।८।१३ य० १७।१९ ।

२ पुरुष — सा०—सब प्राणियों की समाष्ट रूप ब्रह्माण्डदह । रा० । दस०—
सबत्र पारपूर्ण व्यापक जगदीश्वर (यमा०) । ‘पुरुष उस का कहत है । क
जा इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से इस
जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहत हैं ब्रह्माण्ड आर शरीर का । उस में जा
सबत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक आर अन्तर्गता है ।’ ऋभाभू०
पृ० १५१ ॥

(११) डा० फर्हसिह ने वै० ४४७ में वैदिक साहित्य से इस के ये
निबन्धन और अर्थ निकाले हैं—

१ पुरि शेत इति । पुर + √ शी । प्राग अथवा शरीरस्थ आत्मा, वायु,
भौतिक जगत् में रहने वाला प्राण ।

२ √ पृ भरना स—सब वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म ।

३ पूर + √ अस् (होना से)—मन्त्र पदार्थों से पूर । अन्तर्मान प्रजापति ।

(११) ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष को वायु, प्राण, मनःपाप का गृहक, साम,
ब्रह्म, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपति, पद्म, यज्ञ, आग्नि, सुरण सब से
आदि कहा है ।

३ भूमिम्—भवतीति भूमि । सा०—ब्रह्माण्डगोलक । मै०—पृथिवी ।
दस०—पृथिवी से प्रकृति पयन्त समस्त जगत् ।

४ विश्वतां ध्रुवा—सब ओर से ढक कर व्याप्त करना । सब को व्याप्त करने
में साधन प्रथम दो पाद के प्रस्तावित अर्थों में वर्णित किए गए हैं । यजुर्वेद में
‘सर्वत स्तुत्वा’ का भी यही अर्थ है ।

५ दुग्धाद्भुलम्—मै०—यह कहने का एक प्रकार है । न उस का आकार
पृथिवी के आकार से भी बड़ा था । पाँचम—‘दस अंगुली की लम्बाई ।

यह पद स्रग्धेद में अन्यत्र नहीं आया है । रीष ने इस अर्थ की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिसमें दद्यागुल (दस अंगुल लम्बे) शकु का वर्णन है । स्या०—दश अंगुलों से जपा हुआ स्थान । यह उपलब्ध है । अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी । शोनक—१ दस इन्द्रिया (२) दस अंगुल के मान का (नाभि से) हृदय (तर्क का) स्थान; (३) नासिका का अग्र भाग । दस—१. पाच स्थूल और पाच सूक्ष्म भूतों रूरी अणों वाला जगत् । २. पाच प्राग, मन, बुद्धि, चित और अहकार, जीव ३. दश अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश । इस प्रकार वह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलब्ध है, इन सब को ।

(ii) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है । आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है । अतः उन में या तो दशाहुलम् को भूमिम् का लिंग व्यत्यय कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए ।

(iii) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शनैः शनैः हास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है । अतः दस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की ब्रह्मशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है । यही भाव इस पद का प्रतीत होता है—दशतीति दश (स० १।१५६ दम०) प्रमित करने वाला । अगति चेष्टतेज्जेन तदगुलम् (तु. क. उ. ४।२) चेष्टा, गति करने का साधन (= शक्ति) । दश च तत् अगुलं चेति दद्यागुलम् । ब्रह्म करने वाली चेष्टा का साधन (= शक्ति) । तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तस्या स्वात् तथा । निया विशेषण । अतः ब्रह्मशक्ति शक्ति के साथ (अन्यतिष्ठत्) सब कुछ को अति द्रान्त कर के वर्तमान है ।

१. देखो महीधर का भाष्य—नामैः सनाशाद् दशाहुलमतिक्रम्य दृष्टि स्थितः ।

संहितापाठ

पदपाठ

२३. पुरुष एवेदं सर्वं

पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् ।

यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानो

उत । अमृतत्वस्य । ईशानः ।

यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

यत् । अन्नेन । अतिरोहति ॥ २ ॥

यजुर्वेदे 'वेद'-स्थाने 'वेदः' 'भव्यम्'-स्थाने 'भाव्यम्' वर्तते ।

सायणभाष्य—यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथाम्बिन् कल्पे वर्तमाना प्राणिदेवा सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवा तथैवातीता गामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशान स्वामी । यत् यस्मान् कारणात् अन्नेन प्राणिना भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमाना जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मान् प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेन तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[इदम्] यह [सर्वम्] सब कुछ—[यत्] जो [भूतम्] उत्पन्न हुआ हुआ है [च] और [यत्] जो [भव्यम्] उत्पन्न हुआ [उत] और [अमृतत्वस्य] अमरता का [ईशान] स्वामी (और) [यत्] जो [अन्नेन] अन्न से [अति रोहति] नदता है—[पुरुष] पुरुष [एव] हा (है) ॥ २ ॥

टिप्पणिया—१ पुरुष एव—इमं 'रचयित' किया जा अ याहार किया है ।

२ यद् भूतं यच्च भव्यम्—(यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों आदि का मूल स उत्पन्न (भूतम्) अतात से वर्तमान का पयन्त मत्ता मे

१ प्राणिदेवा ।

२ वस्तुत्वम् ।

३ यजुर्वेद के भाव्यम् के और ऋग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । भाव्यम् के व्यम् में स्वतन्त्र स्वरित है ।

आया हुआ और (यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से (भव्यम्) भविष्य में सना में आने वाला (इदम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् ।

(ii) मही० और दस० (कृष्णभू० १५२) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है ।

(iii) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सत्र प्राणी विराट् पुरुष के अवयव हैं । दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रचयिता है, अन्य कोई नहीं ।

३. उतामृतत्वस्येशान्—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्यों कि वह प्राणियों के भोग्य (फल) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है । उवट—मोक्ष का भी स्वामी है । मही० १. देवों का स्वामी है । २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कभी नहीं मरता है । दस० १. अग्निनाशी मोक्षमुख वा कारण या अधिष्ठाता (यमा०) । २. सत्र का ईश्वर (होने से) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है । इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है । मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है । पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ पैदा हुआ है ।

(ii) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है । अतः विचार्यमाण अंश (पाद ३) भी सृष्टि के अग का वर्णन करता है जिस को यदन्नेनातिरोहति से भिन्न धताना अभीष्ट है । पाद २ में कालविषयक वर्णन है । अतः यहा उत्तरार्ध में देशपरिच्छिन्न वर्णन है—(उत) रसयुक्त (अमृत त्वस्य) अन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सूक्ष्म शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है । उत—यद 'उतः' (उ० ३।६८) के समान ✓ उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न हो कर भीमा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त । इस में आये मन्त्र ३ के निपादस्यामृतं दिवि में विशेषित अमरत्व का निर्देश भी माना जा सकता है ।

४. यदन्नेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से लिए गए हैं । उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है ' (यत्) क्यों

त्रि (वह) (अग्नेन) अमृतसे (अतिरोहति) अतिरोध करता है ।' मही० दो अर्थ देत हैं—१. पुरुष देवों का स्वामी है '(यत्) क्यों कि (वह) (अग्नेन) प्राणियों के भोग्य फल व कारण (अतिरोहति) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् व रूप को प्राप्त होता है ।' सा० ने इस व्याख्यान को अक्षरशः अपनाया है । २. '(यत्) जो कुछ भी जीवजात (अग्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है उस सब का स्वामी है ।' त्स० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुरुष' का विशेषण माना है । उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला (उत) आर '(यत्) जो (अग्नेन) पृथिवी आदि व सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस' (इत्म्) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षमुक्त वा कारण ना (ईशान) अधिष्ठाता (पुरुष) सत्य गुणकर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है । उन्होंने ने ऋभाभू. (पृ० १-१-१५३) में भिन्न भाव लिया है—'(यत्) क्यों कि (अग्नेन) पृथिवी आदि जगत् व साथ (अतिरोहति) व्यापक हो कर स्थित है और इस से अलग भी ।

(ii) म्यूर लिखते हैं कि भागवत पुराण के व्याख्यान में इस का भाव 'देखते हुए उस ने मानवी अन्न का आत्मनमन किया है' है । अने० १९।६।४ में इस का पाठ—'उतामृतत्वस्यैवरो यदन्यनामवत् सह—यह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है ।

(iii) म्यूर ने इस का अर्थ 'क्यों कि वह अन्न से पैलता है' किया है । ग्रास० इसे अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करते हैं—(अमरता) 'जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है ।' पाण्डन इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जो कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है) करत हैं और इदं सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् का जड़ जगत् (तु क. आगे मन्त्र ४) । पाद ३ को व अग्ने अनुवाद में पुरुष का ही विशेषण रखत हैं ।

(iv) मै० का विचार है कि मन्त्र १ व अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ व अत्यरित्व्यत से अतिरोहति की तुलना इंगित करती है कि पुरुष कर्ता है और यद् (देवता) कर्म और यह कि पहला (= पुरुष) पिठलों (= देवों) को अन्न से, अर्थात्

यज्ञान द्वारा अतिक्रान्त करता है। 'जो (देवता) (यज्ञ र) अन्न से उद्भूत है', तथा 'और जो कुछ अन्न से उपन्न होता है उस का'—इन दोनों व्याख्याओं में 'आत' का भाग पूरा पूरा प्रगट नही होता है।

(४) जैसा ऊपर पाठ ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहाँ पर भी देश परिच्छिन्न सृष्टि का उल्लेख है जो अमर-मुक्तों की अप्रत्यक्ष स्थूल शरीर धारण करता है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भाजन आदि पोषक पदार्थों से उपन्न, वृद्ध और विकासन होता है'—प्रतीत होता है।

महितापाठ

पदपाठ

२४. एतावानस्य महिमा-

स्तो ज्यायांश्च पूरुष ।

पादोऽस्य त्रिधा भूतानि

त्रिपादस्यामृतं द्वित्रि ॥३॥

एतावान् । अस्य । महिमा ।

अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।

पादः । अस्य । त्रिधा । भूतानि ।

त्रिपात् । अस्य । अमृतम् । द्वित्रि ॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूप जगद्व्यावर्ति एतावान् स्रोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वभायसामर्थ्यशेषः । न तु तस्य वास्तवस्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुष अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अति शयेनाधिकः । एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते । अस्य पुरुषस्य त्रिधा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तानि प्राणिनातानि पाद चतुर्धाऽऽह । अस्य पुरुषस्य अवशिष्ट त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं त्रिनाशरहितं सत् द्वित्रि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यपतिष्ठत इति शेषः । यद्यपि "मत्तं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० व्या० ८।१ तै० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्म इयतामात्रात् पादचतुष्टय निरूपयतुमशक्यं तथापि जगत्पदं ब्रह्मस्वरूपाप्युपाश्रयमात्रं त्रिपादतत्वात् पादत्वापन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्य] इस (पुरुष) का [महिमा] विस्तार [एतावान्] इतना है । [च] और [पूरुष] पुरुष [अतः] इस से भी अधिक [ज्या

यान्] बड़ा है । [त्रिधा] सम्पूर्ण [भूतानि] उत्पन्न पदार्थ आदि [अस्य] इस का [पादः] एक चौथाई (भाग है), [दिवि] दुलोक में [अमृतम्] अमर [अस्य] इस का [त्रिपात्] तीन-चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१ टिप्पणिया—आधे भाग से विश्व का रचना—अवे० १०।७।८-९ में जिरासा का गई है कि सृष्टम् = ब्रह्म ने विश्वरूप जिस परम अयम और मध्यम, तथा भूत और भविष्यत् का रचना की उस में उस का कितना अंश प्राप्त हुआ । अवे० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि सहस्राक्षर एकचक्र रूप का आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व का रचना की । उस का शेष आधा भाग कहा है—अधेन त्रिदश भुवन जजान यदस्याध क तद् नभूव । इस भाव को ब्रह्म भिन रूप से वर्णित किया गया है ।

२ एतावानस्य—ऋग्वेद का प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है । ब्रह्मा पर ऐसे स्थलो पर आन् को ओं हा जाता है । अतः प्रकृत सन्धि सृष्ट का रचना का काल को इंगित करता है ।

३. पुरुष—सहिता में दीध हो गया है । पस्पष्ट में 'पुरुष' होगा ।

४ अमृतम्—ता०—विनाशरहित पुरुष । उ०—१. ऋन्, यजु और साम रूप वात्ता २. आदित्य रूप । दम०—नागरहित महिमा ।

५ दिवि—मही०—वातनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में ।

६. भाव यह है कि प्रकाशमान जगत् एक अंश मान है । प्रकाशक स्व रूप इस से तीन गुना है । इस में ब्रह्म की अनन्तता समात नहीं होती । यह वर्णन तो सत्ताम मानव की बुद्धि को अवगत कराने की दृष्टि से किया गया है ।

संहितापाठः

पदपाठः

२५. त्रिपादुर्ध्व उदैत्पुरुषः । त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः ।
 पादोऽस्पृहाभस्तुनः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।
 ततो विष्वङ् व्यक्रामत् । ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् ।
 साशनानशने अभि ॥ ४ ॥ साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्य'—इत्यस्य स्थाने 'व्यु' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः
 सोऽयं ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुण-
 दोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम्
 इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य
 सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—“विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकरोन
 मितो जगत्” (म० गी० १०।४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं
 विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् ।
 किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं
 चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभय
 यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [त्रिपात्] तीन-चौथाई [ऊर्ध्वः]
 ऊपर की [उदैत्] पैदा हुआ है [पुनः] और [अस्य] इस का [पादः]
 एक-चौथाई अंश [इह] यहाँ (इस जगत् में) [अभवत्] है । [ततः]
 उस में [विष्वङ्] सब कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [व्यक्रामत्] प्रादुर्भूत
 हुआ (और) [साशनानशने] खाने वाले और न खाने वाले [अभि
 (अक्रामत्)] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियाँ—१. त्रिपात्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष जो समस्त
 पुरुष का तीन-चौथाई भाग है ।

२ ऊर्ध्व उदैव—उवट—ऊपर प्रकाशमान है । मही०—इस अज्ञान कार्य मसार से पृथक् इस मसार के गुण दाया से अद्वैता उत्कर्ष से विद्यमान है । दस०—पालक परमेश्वर 'सब से उनम मुक्तिस्वरूप मसार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है (य० भाष्य) । मै०—ऊपर अमरो के लोक में ।

३ पादोऽस्त्रहर्भवत् पुन—उवट—एक भाग तीना लोको मे बीजरूप हो गया । महा०—जगत् रूप ब्रह्म यहा माया मे सृष्टि आर सहार के द्वारा बार बार आता है । दस ४—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् मे बार बार उत्पत्ति प्रलय के चक्र से होता है (य० भाष्य) । पूर्वोक्त मसाररूप एक अश स पृथक् हा है । मै०—पुन = अर्थात् अपने मूल रूप से ।

४ विष्वङ्—उवट—भुरनकोश । महा०—विषु सर्वत्राञ्चतात् विष्वङ् । देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों वाला । दस०—(जड आर चेतन के प्रति) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (= व्यापक) (य० भाष्य) । विश्व = सम्पूर्ण जड चेतन बगत् (ऋभाभू० पृ० १५४) ।

५ साशुनानुशने—उवट—साशन = रसर्ग । अनशन = मोक्ष । मही०—साने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी और न खाने आदि व्यवहार से रहित जड पदार्थ । मै —यह समास ऋग्वेद में द्वन्द्वसमासों का अर्वाचीनतम अवस्था का द्योतक है ।

संहितापाठ

पदपाठ

२६. तस्माद्विराज्जायत	तस्मात् । वि॒राट् । अ॒जाय॑त ।
विराजो अधि पूरुषः ।	वि॒राजः॑ । अधि । पू॒रुषः॑ ।
स ज्ञातो अत्यरिच्यत	सः । ज्ञा॑तः । अ॒ति । अ॒रि॒च्य॑त ।
पश्चाद्भूमिथो पुरः ॥ ५ ॥	प॒श्चाद्भू॑मि॒थो अ॒थो इति॑ । पुरः ॥ ५ ॥

यजुर्वेदे प्रथम पादस्त्वेयम्—

‘ततो विराज्जायत’

ततः । वि॒राट् । अ॒जाय॑त ।

सायणभाष्यम्—विद्यद् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रयज्यते । तस्मात्
आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते
वस्तून्मति विराट् । विराजोऽधि विराट् देहस्योपरि तमेव देहमधिपकरणं
कृत्वा पुरुषः तदेहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदा-
न्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराट् देहं ब्रह्माण्डरूपं
सृष्ट्वा यत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् ।
एतच्छास्त्रेणोक्तं उत्तरतापनीये विस्मयमामनन्ति—“स वा एष भूतानांन्द्रियाणि
विराज देवताः कोशाश्च सृष्ट्वा प्रविशामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव”
(नृता० ०२ । १ । ९) इति । स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अति-
रिक्तोऽभूत् । विराट् व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात्
देवाद्विजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं
तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पूर्वन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि । ५।

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस से [विराट्] विराट् [अजायत]
उत्पन्न हुआ । [विराजः] विराट् से [अधि] श्रेष्ठ [पुरुषः] पुरुष (है) ।
[अथो] और [पुरः] पहले [जातः] उत्पन्न हुआ [सः] वह [पश्चात्]
पीछे [भूमिम्] उत्पन्न पदार्थों से [अत्यरिच्यत] सँभारि हो गया ॥

टिप्पणिया—१. तस्मात्—तद् को उ० १ । १३२ मे √तन् से निष्पन्न
किया गया है । अतः उस विस्तृत सर्वव्यापक ऊपर वर्णित पुरुष से । मे०—
पुरुष के अवशाङ्कित चतुर्थी से । दस०—पूर्ण आदि पुरुष से । (य० भाष्य)
कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से (कर्माभू० पृ० १५६) ।

२. विराट्—मही०—विविध राजन्ते वस्तून्मतेति विराट् । ब्रह्माण्डदेह ।
दस०—त्रिभिः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराट्—विभिन्न प्रकाश के पदार्थों से ।
प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप समार (य० भाष्य) । इस भाव का विस्तार करते
हुए कर्माभू० पृ० १५५ पर लिखते हैं—जिम का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन
किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिम को ‘मूल प्रकृति’

१. यजुर्वेद में इसके स्थान पर (ततः) पाठ है । दोनों का अर्थ एक ही है ।

कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राग ओर पृथिवी जिस का पशु हैं, इत्यादि ऋग वाला [सब शरीरों का समष्टि दह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आनाश है सो 'विराज्' कहाता है ।

(ii) डा० फतहमिह ने वैज्ञिक दर्शन पृ० २०६ पर इस स्थल न विराज् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का होम हो जाने पर नाना रूपा मत्र विश्व उत्पन्न हुआ है । मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के नाच की स्थिति को विराज कहा है ।

(iii) अब० १०।७-८ म इस विराज का विस्तृत वर्णन किया गया है । ऋ० १०।७।२८ म इने हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भ परममनस्युज जना विदु । यह तप से उत्पन्न होता है—य श्रमात् तपसो जातो लोमान्तर्वान्तमानसो । यह उत्पन्न वस्तु अप्रकृत सलिल ही य जो ब्रह्म क तप से उत्पन्न आदि सृष्टि कह गए हैं । व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान थे अव्याकृत सलिल ही यहा विराज नाम से कहे गये हैं । अब० १० । ७ । ४१, आर ८।३९-४० भी देखे ।

(iv) विराजजायत—मन्थि क कारण ट को 'ट्' हुआ । पहले और पीछे दो गुरों न आने से इस ड् को 'ळ' हो गया है । तु क —पदमध्यस्थढकारस्य ळकार ऋचा जगु । पदमध्यस्थढकारस्य ळहकार ऋचा जगु ॥

३ विराजो अधि पूर्य—मै०—विराज में पञ्चमा को उत्पादकत्व का द्योतन मानते हैं—विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ । उक्त—अधिपुरुष का एक मान कर 'प्रधान तेज क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा सृष्टिकृत' अथ करते हैं तथा 'स जात' में इसी का निर्देश मानते हैं । महीधर-विराज् के शरीर पर उसे अधिकरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानि (= कतिगत चेतन ?) पुरुष नामक पुमान् उत्पन्न हुआ । यह पुमान् अपनी माया से आनरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमाना देवतामा जाव रूप ब्रह्म ही था । दस० य० भाष्य में इस में विराज न उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उत्कृष्टता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—(विराज) विराट

मंसार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है ।^१ परन्तु ऋभाभू० पृ० ११५-११६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों के शरीर मानते हैं—‘उम विराट् क तत्त्वो के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव काम करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है ।’

(ii) अवे० १०।७-८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है । वेद में—‘वा सुपर्णा सयुवा सखाया समानं वृक्ष परिपश्यन्ताते’ आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा ‘नयः केशिन ऋतुथा नि चक्षते सन्तरे वपत एक एषाम् । विधमेन्नो अभि चष्टे सचीभिर्प्रा-जिरेकस्य ददरो न रूपम्’^२ में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है । अतः यहाँ विराजो अधि पुरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है । अधि ‘अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व’ का शोतक भी है । विराज में पट्टी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं । अतः यहाँ पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा ।

४. स ज्ञातो अत्यरिच्यत०—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया । उबट-बढ़ क्षेत्रज्ञ सृष्टिहृत् ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रसुर हो गया । फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए । मही०—यह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया । फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् शरीरों की सृष्टि की । दस०—‘(पुरः) पहिले से (ज्ञातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है ।’ ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

१. ऋ० १।१६४।२०

२. ऋ. १।१६४।४४—ग्याख्या के लिए देगो बुद्धदेवविद्यालंकार—
श्रुतवाद का महावाक्य, धेवा० ६।४।

‘पश्चात्’ का अर्थ संस्कृत मूल में ‘फिर उस पुरुष के सामर्थ्य से जीव न भा दारी धारण किया और वह परमात्मा उस जीव से भा पृथक् है’ है । हिन्दी अनुवाद में यजुर्वेद भाष्य के भाव को ही लया गया है ।

५ भूमिम्—समस्त उपलब्ध पदार्थ आत्मा । भविष्य में होने वाले पदार्थ आत्मा पहले भी हो चुके हैं । अतः इस पद से तीनों काओं के पदार्थों आत्मा का बोध होता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

२७. अत्पुरुषेण हविषा	यत् । पुरुषेण । हविषा ।
देवा यज्ञमतेन्यत् ।	देवाः । यज्ञम् । अतन्वत् ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं	वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।
ग्रीष्म इध्मः शरद्धनिः ॥६॥	ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हनिः ॥६॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रश्चतुर्दश । तत्र तृतीयपाद एवमस्ति—

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।

सायणभाष्यम्—यत् यः पूर्वोक्तक्रमेणैव शरारेषूपसृष्टः स देवा उच्यते । स्वाहमिद्वयं वाञ्छन्वस्यनुपसत्त्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविर्द्वेन सक्लृप्त्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत् अन्य तिसृन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्त वसन्ततुरेव आज्यम् आसीत् अभूत् । तमेवाज्यत्वेन सक्लृप्तयन्त इत्यर्थः । एव ग्रीष्म इध्म आसीत् । तमेवेध्मत्वेन सक्लृप्तयन्त इत्यर्थः । तथा शरद्धनि आसीत् । तामेव शरद्धानिहविष्येन सक्लृप्तयन्त इत्यर्थः । पूरा पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन सत्तत् । अनन्तर वसन्तागनामा वादित्रिशेषरूपत्वेन सत्तत् इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब [देवा] देवताओं ने [पुरुषेण] पुरुष रूप [हविषा] हाव से [यज्ञम्] यज्ञ का [अतन्वत्] विस्तार किया [अस्य]

उस यज्ञ (के लिए) [वसन्तः] वसन्त ऋतु [अज्यम्] तपा हुआ घी [आसीत्] थी, [ग्रीष्मः] गर्मी [इष्मः] समिधाए (और) [शरद्] शरद् ऋतु [हविः] आहुतिया ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. भाष्यकारों के विभिन्न भाव-भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर बाध्य द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। मही० लिखत हैं कि पहले पुरुष का सामान्य हविः के रूप में सकल्प किया गया, फिर आज्ञा इष्म और हविः—इन विशेष अंगों की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का सकल्प किया गया। उनमें ने इस में योगियों द्वारा अनृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ त्रयशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। दस० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्नकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को भी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहिये।' ऋषाभू० पृ० १६१-१६२ पर भिन्न भाव लिया गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर का (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर के (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को ब्रह्म बनाने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वानः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राग्रमेधान्त गिल्य-विद्यामय च यज्ञ यज्ञ प्रकाशितमतन्वत विलुप्त कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को काल-व्यय माना है। आप ने इष्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नित्रिया है। मै० के विचार में यहा देवता व्याकृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मेध) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२ सम्भावित अर्थ—इस मन्त्र से यह लाभत होता है कि भूमि आदि लोकों की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को सम्भर बनाने के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और अथ होते हैं। वसन्त में उत्पत्ति होती है, शरद् में वृद्धि रस का विकास आदि और शीष्म में पत्र कर तन्मयी ही सुखना क्रियाएँ लक्षित होती हैं। आग्य को प्राग (तै० ३।८।१५।२३) हवि = को यज्ञ की आमा (श० १।६।३।३९) आर इष्म को अग्नि का प्रतीक (श० १।३।५।१) कहा है। अतः यहाँ पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विनाश और पात्र (= हास)—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(११) पूषादि में पुष्प विगन का द्योतक है, आदि पूर्ण परमात्मा का नहाना यह निराज्ञ ही जगत् का उत्पत्ति का सामग्रा (= हरि) है।

३ देवा —ऊपर ऋ० २।१२।१ में देवों देवान् पर विष्णु दखें। ब्रह्माण्ड में प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ भाव और ग्राह्यता 'देव' हैं। अतः सृष्टि का रचना में लगी हुई समस्त शक्तियाँ भी देवता हैं। वे ही निराज्ञ रूप सामग्री से सृष्टिरचना करी यज्ञ का विस्तार करता हैं।

(११) अथ० १०।७।२४ में ब्रह्मन्ताओं को 'देव' कहा है—'यन् देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपानतः।' इस आधार पर यहाँ 'देवा' का अर्थ ब्रह्मन्ता विद्वान् भावित जा सकता है। इस में 'जब विद्वाना ने निराज्ञ पुष्प रूप सामग्री से संपन्न सृष्टियज्ञ पर निवार किया तब उन्होंने उन में वसन्त आदि के योग को जाना' ऐसा भाव देना होगा।

४ मुहम्—मै०—होम, गल। सामान्यतः इस पर ना यहाँ अथ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और मरुत वाङ्मय में इस का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा समातकरण और ज्ञान अथ वाङ्मय, यन् से बनता है। अतः इस के अर्थों में ये ताना भाव व्यष्टि या समाष्ट रूप में पाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के अर्थों—प्राग, अवर, नम, भग, बृहन् विवाश्चत्, अयमा, मुष्म, अद्यतम कम, विद्, ब्रह्म, ययी विज्ञा, प्रजापति, विष्णु अतः, अन्न, वाद्,

वायु, सस्तर आदि म, गीता व यशगर्भे म जग्यश, प्राणापानयश आदि म यह स्थिति नितान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सूत्रन भी यह है, सूत्रन भी यह है और सूत्रन का सामग्री भी यन् है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक व कम, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कम = परोपकार क साधक हैं अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अज्ञों से यह कर व साधक नियमा और सुत्र आदि की व्याख्या करते हैं (देखो आगे मन्त्र १६)।

महितापाठ

पदपाठ

२८. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	तम् । यज्ञेमा बर्हिषि । प्र । औक्षन् ।
पुरुषं जातमग्रतः ।	पुरुषम् । जातम् । अग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त	तेन । देवाः । अयजन्त ।
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥	साध्याः । ऋषयः । न । ये ॥ ७ ॥

यजुर्वेदे मन्त्रो ५ व नवम ।

सायणभाष्यम्—यज्ञ यज्ञसाधनभूत त पुरुष पशुत्वभावनाया यूपे बद्ध बर्हिषि मानसे बजे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्त । कीदृशमित्यत्राह । अग्रतः सर्वसृष्टे पूर्व पुरुष जात पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्रागेवोक्तं “तस्मात् विराळनाथत विराजो अधि पूरुष” इति । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयाग निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्या सृष्टिसाधनयोग्या प्रजापतिप्रभृतय तदनमूला ऋषय मन्त्र द्रष्टार च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अग्रतः] तब से पहले [जातम्] उत्पन्न हुए [तम्] उम [यज्ञम्] यज्ञ (= पूजाया) [पुरुषम्] (विराज्—) पुरुष को [बर्हिषि] बाह (स आ-छा-तित यज्ञदा) पर [प्रौक्षन्] जब से छिन्ना । [तेन] (उम यज्ञमय पुरुष से) [देवा] देवता विद्वान् । [साध्या] साध्य (च) और [ये] जो [ऋषयः] ऋषि व (उन्होंने ने) [अयजन्तः] यज्ञरिया ॥ ७ ॥

टिप्पणिया—१ तम्—उबट ने यहा पर योगियों के आत्मपक्ष का हा वर्णन माना है । भाष्यकारों ने 'तम्' क भाव का व्याख्यान नहीं किया है । मै० ने ज्ञातमयत का भाव विराज् से उत्पन्न व्याकृत पुरुष = आधि पुरुष (मन्त्र -) लिया है । उबट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव लिया है । और दम० ने पूर्ण परमात्मा ।

(11) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चानू हो चुका है । विराज् पुरुष का हवि बनाया जा चुका है । सृजक शक्तिया उत्पन्न हो चुकी हैं । अतः यहा विराज् पुरुष का ही वर्णन चल रहा है ।

२ युजम्—विराज् पुरुष जीवों व कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अतः वह यह है । पिछले मन्त्र में 'यजम्' पर टिप्पणी भी देख ।

३ बुर्हिषि—उबट—तृतीयान्त मान कर प्राणायाम में दीपित अर्थ लेते हैं । महा०—मानस यज्ञ । दस०—मानस ज्ञान यज्ञ (य०भाष्य) हृदयान्तरिक्ष (ऋभाभू० पृ० १५८) । मै०—धातु ।

(11) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधिया, और भूमा आदि हैं । इस से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है । अतः 'पशुधा की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा ।

४ प्रौक्षन्—प्र + √ उष् + लङ् प्रथमपु० बहुवचन । मै०—छिड़का । महा०—सम्भारा से संस्कृत किया । दस०—मीचते हैं अथवा धारण करते हैं ।

(11) यहा पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अभिप्रेत है ।

५ पुरुषं जातमग्रत—ऊपर तम् पर टिप्पणी देखें । लोकों, पालविभाग आदि की रचना में पूर्व उत्पन्न विराज् पुरुष ।

६ देवा—पिछले मन्त्र में देवा पर टिप्पणी देखें ।

७ साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्या को एक पुरानी दिव्य योनि या ज्ञात माना है और ऋषय को 'ऋषि, मन्त्ररचयिता ऋषि' । मही० ने साध्या का अर्थ सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है ।

ये गेता ऋषि को मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं । मै० का सुहाव है नि साध्या को देवा का विशेषण भा माना जा सकता है ।

(11) श० १० । २ । २ । ३ में मन्त्र १६ के साध्या देवा को विशेष्य-विशेषण मान कर 'प्राग' अर्थ किया है । ऐ० १ । १६ में इन्हें 'छन्दासि' कहा गया है । ऋष्यां को श० ६ । १ । १ । १ में तप से उत्पन्न बताया गया है—ते यपुरास्मात् सवस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपस्मारियस्तस्मादप्य । यह पद गत्ययक्/ऋप् धातु से बनता है । निघ० । ५ । ५ । १४ अ में ऋषय को पन्नाम माना गया है । अतः इस भाग का अर्थ—(देवा) सृजन शक्तिवा (साध्या) प्राग (च) और (ये)^१ यज्ञशाल (ऋषय) तप आर श्रम—दुःशा । इस की योजना—ये साध्या ऋषय च देवा सन्ति ते—जो प्रागरूप यज्ञशाल तप और श्रम से युक्त सृजक शक्तिवा—करन पर अव सुसगत हो जाता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

२९. तस्माद्यज्ञात्सर्गहुतः	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः ।
संभृतं	समभृतम् ।
पृषदाज्यम् ।	पृषत्प्राज्यम् ।
पशून् तौश्वके वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरुण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥	आरुण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

यजुर्देवस्य मन्त्र पष्ठ । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

पशूस्तौश्वके	वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरुण्या	ग्राम्याश्च ये ॥	आरुण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

मायणभाष्यम्—सर्गहुत । सर्वात्मन पुरुष यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽय सर्वहुन् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्य दधिमिश्रमाज्य संभृत संपादितम् । दधि चाज्य चेत्येवमादिभोग्यजात

१. यद पद/यज् धातु से निष्पन्न है । देखो उ० १।१३२ ।

सर्वं संपादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकौल्लोकप्रसिद्धान्
आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः । तथा ये
स्य ग्राम्या गवाश्चादयः तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्वत्व
यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—“वायव स्येयाह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यजा । अन्त
रिक्षदेवत्या खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति” (तै० ३।२।१।३)
इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुत] अच्छी प्रकार होम किए
गए [यज्ञात्] (हवि बनाए हुए विराजू पुरुष रूप) यज्ञ से [पृषदाज्यम्]
पशु [सभृतम्] उत्पन्न हुए । [तान्] उन [पशून्] पशुओं को [वायव्यान्]
वायु में निवास करने वाले [आरण्यान्] जंगल में रहने वाले [च] और
[ये] जो [ग्राम्या] गाँव (आदि) में रहने वाले (हैं उन को बैठा)
[चक्रे] बनाया ॥

टिप्पणिया—१, यजुर्वेद ४ पाठ में अथ म कोई अन्तर नहीं होगा ।

२ यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी । यहाँ पर मन्त्र ७
में वर्णित ‘पशुरचना रूप यज्ञ’ का भाव लेना अधिक सगत रहेगा । दस०—
ने इस में पूजनाय पुरुष परमात्मा = आदि पुरुष का वर्णन माना है (य०
भाष्य) । यह विचारणीय है ।

३ सर्वहुत —मर्हा०—सर्वे हृतयस्मिन् स सर्वहुत् । तस्मात् । मत्र कुठ
की आहुति को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ । २४०—सत्र से ग्रहण करने
जाने वाला (पूजनाय परमात्मा) ।

(११) यज्ञ की सिद्धि तब ही होता है जब यह अच्छा प्रकार सम्पन्न हो ।
आत्र में पदार्थों को डालने का एक प्रयाजन उन्हें सूक्ष्मतम बना कर वायु द्वारा
सत्र में फैला देना है । यह तब ही सम्भव है जब आत्र खूब प्रचलित हो ।
यह भाव यहाँ मा अभिप्रेत है । अतः इस का अर्थ—‘सृजन शक्तियों ४ योग
से विराजू रूप सामग्री से किए जा रहे प्रागिरचना रूप यज्ञ का आत्र खूब
प्रचलित थी । उस समय उस विराजू सामग्री के सूक्ष्म तत्त्वों से’ अभिप्रेत है ।

४. संमृत्वम्—सम् + √ हृ + क्त । वेद में √ हृ और √ ग्रह् के ह् को भ् हो जाता है । अच्छे प्रकार सम्पन्न, सम्पक् सिद्ध, सम्पक् उत्पन्न । यहा क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

५ पृषदाग्यम्—मही०—इधि से युक्त आव्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह । मै०—घी । दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं ।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं । यहा प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है । उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगे, तब दधि आदि से उपलब्ध भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे । यद्यपि यहा कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यत्यास रूप अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है । पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाग्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है । इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरण्य और ग्राम्य ।

६. तान्—मै०—तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है ।

७. वानुव्यान्—यह उन विरल पदों में से है जहा उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है । इस के आन् को आगे आने वाले 'व्या' के कारण ओं नहीं हुआ क्यों कि यह पाद के अन्त में है । इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था (मै०) ।

संहितापाठः

पदपाठ

३०. तस्माद्ब्रह्मात्सर्वहुत
ऋचुः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्
यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः ।
ऋचः । सामानि । जुज्ञिरे ।
छन्दांसि । जुज्ञिरे । तस्मात् ।
यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ९ ॥

मन्त्रोऽयं यजुः संहिताया सप्तमः । तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दां छु, सि'—इति पाठः ।

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः । तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे । तस्मात् यज्ञान् यजुः अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुतः] अच्छी प्रकार निष्पन्न [यज्ञात्] (विगजू पुरुष रूप सामग्री बलि) मृष्टियज्ञ मे [ऋचः] ऋचाएं (और) [सामानि] सामन् [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए । [तस्मात्] उस मे (ही) [छन्दांसि] छन्द और [तस्मात्] उस से (ही) [यजुः] यजुप् [अजायत] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियां—१. यज्ञान् सर्वहुतः—दस०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष (सर्वहुतः) सब के पूजनीय, सब के उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से । वे ईशे ऋचः आदि का विशेषण भी मानते हैं क्या कि चारों वेद सब मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य हैं । उषट के विचार मे (१) प्रज्वालित (पुरुषयज्ञ) से देव ऋक्साम यजुः और छन्दों को उत्पन्न करते हैं । २. प्रगव से आत्मयज्ञ के प्रतीति हो जाने पर स्वयमेव ज्ञान से (ऋक् आदि) अवस्थित हो जाते हैं ।

२. ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः—दस० ने ऋक् आदि का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद लगाया है । उन का विचार है कि ऋचः सामानि और यजुः मे ही समस्त उन्नों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः छन्दांसि का प्रयोग निरर्थक होने से यह अथर्ववेद का श्रोतक है । मेड पीटर्सवर्ग कोष मे छन्दस् का अर्थ ऋक्, यजुः और साम मे भिन्न, सम्भवतः मूलतः, एक जादू-टोने का शास्त्र किया है । इन आधार पर पीटर्सन भी दस० के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । मै० समझते हैं कि इस मे केवल तीन वेदों का ही सीधा और साक्षात् वर्णन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तरु चतुर्थ वेद के रूप मे स्वीकार नहीं किया गया ।

(ii) ऋ० १०।१४।१६ मे त्रिदुम्, गायत्री और छन्दांसि को यम मे निहित बताया गया है । ऋ० १०।१४।१९ मे विप्र एक सुपर्ण को अध्वरों मे उन्नों को युक्त करते हुए बहुधा कल्पित करते हैं । मन्त्र ६ मे उन्नों को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है । ऋ० १०।१२०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द । अतः छन्द समस्त मन्त्रों का द्योतक पद है । यहा पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और वह अथर्ववेद ही है ।

३. मन्त्र की समस्या—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है । इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है । मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई । क्या इस में नित्य वाणी के प्रकाश का भाव ले कर वाणी के अग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है । उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहा अभिप्रेत है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३१. तस्मादश्वा अजायन्त	तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त ।
ये के चोभयादतः ।	ये । के । च । उभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्	गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् ।
तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥	तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रोऽयमष्टमः ।

मायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्तायज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु रू + उभयोः दन्त्युक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे । किं च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [ये] जो [के] कोई (भी) [उभयादतः] (ऊपर नीचे —) दोनों ओर दान्तों वाले (हैं वे) [अश्वाः] घांटे

[तस्मान्] उसी (यज्ञ) से [अनाद्यन्त] उपन हुए । [ह] निश्चय से [गाव] गीए [तस्मान्] उसी (यज्ञ) से [जज्ञिरे] उपन हुई [अनाद्य] बकरी और भेड़ [जाता] उपन हुई ॥ १० ॥

टिप्पणिया—१ भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर बोने और दोनों ओर दान्तों वाले गेवे आद की उपत्ति का वर्णन माना है । परन्तु गाव क ऊपर और नाच तथा दोनों ओर दष्टाए होती हैं, तथा बकरियों क ऊपर और नाच दान्त होत हैं, अतः ये सब ही 'अम्यान्त' हैं । ऐसा स्थित म ॥ १० ॥ का योजना उचित जान पड़ती है । भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उस स घोड़े उपन हुए और ये जो बाढ़ भी दोनों ओर दान्ता वाले हैं । उस से गाए उपन हुई । उस से बकरी और भेड़ उपन हुई ।

२ अनाद्य —द्वन्द्व समासों को पन्पाठ में अग्रहात नहा लिया जाता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

३२. यत्पुलं व्यदधुः	यत् । पुलम् । वि । अदधुः ।
कतिधा व्यक्ल्पयन् ।	कतिधा । वि । अक्ल्पयन् ।
मुखं किमस्य को बाहू	मुखम् । किम् । अस्य । को । बाहू
का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥	इति । को । ऊरू इति । पादौ ।
	उच्येते इति ॥ ११ ॥

यजु सहितायामय दशमो मन्त्र । तत्र तृतीयचतुर्थपादो त्वेव स्त —

मुखं किमस्यासीत्कि बाहू	मुखम् । किम् । अस्य । आसीत् ।
किमूरू पादा उच्येते ॥	किम् । बाहू इति ।
	किम् । ऊरू इति । पादौ । उच्येते इति ॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणांसिमुष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिना प्रश्ना उच्यन्ते । प्रजापते प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरुष विराड् रूपं व्यदधुः सकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यक्तरूपयन् विविधं कल्पितवन्तः । अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत् । कौ वाहू अभूताम् । का ऊरू । कौ च पादाबुच्येते । प्रथमं सामान्यरूपं प्रश्नं पश्चात् मुखं विामयाग्निना विशेषविषया प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जन (देवा ने) [पुरुषम्] विराज् पुरुष को [व्यदधुः] (स्थापयन् में) आहुति दी (तब उस को) [कतिधा] कितने प्रकार से [व्यक्तरूपयन्] वर्णन किया ? [अस्य] उस का [मुखम्] मुख [किम्] क्या (था) [वाहू] दो भुजाएँ [कौ] कौन-कौन सी (था) [ऊरू] जघाएँ (और) [पादा] पैर [का] कौन-कौन [उच्येते] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियाँ—१ अगले मन्त्र की भूमिका—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रज्ञा मन्त्र पृष्ठभूमि है ।

२ यत्—मही०—जब । तत्०—क्यों कि (ऋभाभू०) उस (पुरुष) को (य०भाष्य) ।

३ पुरुषम्—सा०—विराज् पुरुष । दस०—पूर्ण पुरुष ।

४ वि व्यदधु—मै०—जब देवा ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काटा । मही०—काल से उत्पन्न किया । दस०—(य०भाष्य)—विविध प्रकार से धारण करते हैं । (ऋभाभू०)—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं ।

(11) आश्रित वाक्य होने पर भी पत्रपाठ ने 'वि' को अन्धु से पृथक् किया है । इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पत्रपाठ उपसर्ग नहीं मान रहा है ।

५ कतिधा—कितने प्रकार से । इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं । मन्त्र १२-१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का ।

६. वि अकल्पयन्—मै०—बाटा, उ०—विचार किया। मही०—(कितने प्रकार) कल्पना की। दस०—विशेष कर कहते हैं (य० भाष्य)। उस के सामर्थ्यगुणों की कल्पना करते हैं (ऋभाभू०)।

(11) इस धातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११४।२ में भी प्रयोग हुआ है—

‘सुपर्ण विप्रा. कवयो वचोभिरेकं मन्त बहुधा कल्पयन्ति।’ ऋ० १।१६४।४६—
‘एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति’ से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह भाव हुआ।

७. मुखम्—सा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इस भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। सा० आदि ने इन का अर्थ—
पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और पैर क्या थे—लिखा है। दस० ने य० भाष्य में
“(मुखम्) के समान श्रेष्ठ, (बाहु) भुज बल को धारण करने वाला, (ऊरु) घोंटू के कार्य करने वाले और (पादो) पाव के समान नाच करने वाले’ और
ऋभाभू० पृ० १५८ में (i) मुखन गुणों से, (ii) बल, वीर्य, दृढ़ता और युद्ध आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूल्यपन आदि नीच गुणों से जिस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(11) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूछा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहु, ऊरु और पाद को दृष्टि से विराट् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उसी प्रकार एक विराट् के चोत्तरक हैं जिस प्रकार ‘एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यनि यम मातरिभानमाहुः’ में अग्नि, यम और मातरिश्वा ‘एक सत्’ के चोत्तरक हैं। विराट् का मुख आदि साक्षात् नहीं है। उस की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख = मुख के सदृश मुख निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहु—✓बहु धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, वीर्य, रक्षा, सहार आदि गुण। ऊरु—✓उर्ण्ड टट्टना से। अतः आच्छादन, पालन, विस्तार करना आदि गुण। पद (पाद)—

✓ पद जाना से । अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि । भाव यह है कि इन शक्तियों की दृष्टि से विराज् के क्या-क्या नाम हुए । यजुर्वेद के पाठ में 'वी' और 'का' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है । वहा अर्थ यह है—इस का मुख किस नाम का था, बाहु, ऊरु और पाद किस नाम के थे ।

८. कौ—डा० मै० लिखते हैं कि व्यञ्जनो से पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् ।
बाहू राजन्यः कृतः ।	बाहू इति । राजन्यः । कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः	ऊरु इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः ।
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥	पद्भ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ १२ ॥

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः । तत्र ब्राह्मणो, राजन्यः इत्युभयत्रापि
• णो, • न्यः एवं पाठः । 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्याम्' पाठो वर्तते ।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि वर्तयति । अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः । मुखमासीत् मुखमुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः । बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरु तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहिताया सप्तमः पाठः "सि मुखतस्त्रिवृत निरमिर्मतः" (तैम० ७ । १ । १ । ४) इत्यादि विरहितमाप्नोता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्राह्मणः] ब्रह्मदानी [अस्य] उस (विराज् पुरुष) का [मुखम्] मुख [आसीत्] था । [राजन्यः] शासक [बाहू] दोनों

भुजाए [कुत] बनाया गया । [यत्] जो [वैश्य] (सामान्य) प्रजाजन (य) [तत्] व [अस्य] इस की [ऊरू] दोना जघाए (कल्पित किए गए) । [पद्मयाम्] पैरों से (वह) [शुद्र] शुद्र (= तपस्वी) [अनायत] हो गया ।

टिप्पणियाँ—१ वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर मन भाष्यकारों ने ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उनरोत्तर अवर माना है । मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दस० गुणकमन्त्रभाव के अनुसार वर्णतत्त्वा मान कर एक दूसरे वर्ण में परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं ।

(ii) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है यहाँ पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र विराजू के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं । भाव यह है कि मुखवत् ज्ञान और प्रवचन की दृष्टि से विराजू का नाम ब्राह्मण है बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय या राजन्य, विस्तार करने और सर्वत्र व्यापक होने का दृष्टि से वैश्य और गति, ज्ञान और प्राप्त की दृष्टि से शूद्र नाम है । लघुणा से लोचन में इन गुणों के आधार पर विद्वत् (= प्रजा) के भा पृथक् पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए । ऊपर मन्त्र क्र० २ । १२ । ६ (क्रमसरणी १२) में भी टिप्पणियाँ देखें ।

(iii) प्रचलित शैली के अथवा के अनुसार भी चार वर्णों के प्रासङ्गिक नाम कण्वेट में केवल इन्हीं में न मिले हैं । यही नहीं, चारों सहिताओं में इन क्रम से चारों वर्णों के ये नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और किसी में नहीं । डा० अम्बेकर इस मन्त्र को विशेष रूप में प्रशंसित मानते हैं ।

२ कृत —मै० ने इसे कृतों के स्थान पर राजन्य से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं । कृत और राजन्य समानाधिकरण हैं ।

३ यद्वैश्य —मै० ने इस का अर्थ—उस का ग जघाए जो वैश्य था हा गई—किया है । ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अर्थयोजना उल्टी है ।

४ पञ्चयाम्—ये जनन की प्रकृति की स्रोतक पञ्चमी मानी गई है । पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यत' है । अतः अहा पञ्चमी नहीं मानी जा सकता । जन्मिस्तापस क समान द्रव्यभूतलक्षण में तृतीया है—गति शिला, श्रम और तप के कारण विराज शुद्ध कहलाता है ।

(11) गति दो प्रकार का होती है—१. श्रेय का ओर और २. प्रेय की ओर । अतः पञ्चयाम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

(111) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१. पोषक और सहारण । ससार ओर राष्ट्र के धारण में दोनों प्रकार की शक्तियाँ काम आती हैं । अतः 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है ।

(115) विस्तार भी अपना और दूसरे का होने से दो प्रकार का है । अतः ऊरु में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

संहितापाठ

पदपाठ

३४. चन्द्रमा मनसो जात-	चन्द्रमाः । मनसः । जातः ।
श्रक्षाः सूर्यो अजायत ।	चक्षीः । सूर्यः । अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	मुखात् । इन्द्रः । अग्निः । अग्निः । अग्निः । अग्निः ।
प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ १३ ॥

अयं मन्त्रो यजुः संहिताया द्वादश । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेयम्—

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च	श्रोत्रात् । वायुः । अग्निः । प्राणः । अग्निः ।
मुखादिग्निरजायत ॥ १२ ॥	मुखात् । अग्निः । अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याः सान्द्रिज्याग्निं गमादय पशवः क्रमाणि यदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोपन्ना इत्याह । प्रजापते मनसः सकाशात् चन्द्रमा जातः । चक्षी च चक्षुषः सूर्य अपि अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ । अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—(उसके) [मनस] मन से [चन्द्रमा] चन्द्रमा [जातः] बना । [चक्षो] आस से [सूर्य] सूर्य [अजायत] उत्पन्न हुआ । [सुखात्] सुख से [इन्द्र] इन्द्र [च] और [अग्नि] अग्नि [च] ओर [प्राणात्] प्राणों से [वायु] वायु [अजायत] उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

टिप्पणियाँ—१. चन्द्रमाः—चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः (उ० रा० ३ दभा०) । चन्द्र मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (उ० ४।२२८) । आनन्दप्रद, प्रकाशक । चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणों के कारण कहते हैं । इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भी सम्भव है—चन्दति चन्दयति वा चन्द्रः । चन्दे आनन्दे प्रकाशे वा रमतेऽसौ चन्द्रमाः । आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अतः आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप । निघ० ५।१।३ में इसे पदनामों में पड़ा गया है । शाकल्य ने इसे पदपाठ में अग्रहीत नहीं किया है । सम्भवतः वे इस की दूसरी व्युत्पत्ति मानते हों जिस में पूर्वपद में विकार होने के कारण यह पद अग्रहीत नहीं हो सकता । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से ओर नि० ११।५ में चाय + √ द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है । इस के अर्थों म सोम, वृत्र, वरेण्य, सविता, मनस, रेतसू, अन्न, प्राण, प्रजापति, ब्रह्मा, धाता, विश्वाना, राज्ञ, उदान, मनुष्य लोक, ऋक्, भर्गः, सप्त कुछ आदि मिलते हैं ।

२. मनस —चन्द्रमा ओर मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है । चन्द्रमा की किरणा न विशेष प्रकार में पड़ने पर मन में अनेकविध विकारों की उत्पत्ति पताई जाती है । शुद्ध पक्ष में कृष्ण पक्ष का अपेक्षा मानसिक गति अधिक ३ तीव्र होता है उ० क० तै० ३।१०।८।५—चन्द्रमा में मनसि श्रित । तथा उ० उत्रा० १।२८।५ तत्तन्मनश्चन्द्रमास्य । अतः यहाँ पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कही गई है । मनस्-पद √ मन् जानना, मनन करना से बनता है । जानने का साधन, अथ ज्ञानसाधक, अनुभवशक्ति आदि । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ऋत, समुद्र, देव, वृषा, वायू, प्राणों का अधिपति, यजुः, अध्वर्यु आदि कहा गया है । बृहत्, पर ब्रह्मा, होता, प्रजापति, मरु कुछ, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि ।

३. चक्षोः—टा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चम्यन्त यह रूप केवल द्रसी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुप् है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सब जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, बृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, भैरावरुण, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यज्ञ, त्रेष्टुभ, उच्छिक् आदि दिए गए हैं।

४. मुखान्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखे। श० १४।४।१।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाउ० सू० ३१ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—टा० फतह सिंह ने वै० ७ में इसे मूलतः अ-√कनू से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनों में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गति-शीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मुख में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। वे भा० ४।१३, तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाउ० सू० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखे।

७. प्राणात्—वह पद प्र + √अन् वाम लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उत में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, ध्यान आदि दसों प्राणवायुओं का बोधक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, जातवेदस्, वायु, वात, मानरिधा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साध्य देव, विश्वे देवा, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋक्, यजु, रश्मि, होता, सत्य, सवत्सर, मधु, ज्योति, हिरण्यक, क, प्रजापति, तनूनगात्, पिता, अर्णव, अन्न, सामवेद, आपः आदि कहा गया है। देखो वै० ६।

८. वायु —√वा जाना, ग्रहण से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दबोध्य होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद योगरूढि हो कर

‘हवा’ का द्योतर बन गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल अंक ७ में वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, सत्र को पृथक् पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, ब्रह्मपात, पावत्र प्रजापति, इन्द्र, तज, पूषा, तार्क्ष्य, तपिता, विश्वकर्मा, पशुपति उष, पुरोहित, वान्, देवों की आत्मा, ययु, अध्वर्यु शान्त आदि दिए हैं।

९ जेमा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियाँ में लिखा है वहाँ में आहुत पुरुष के नामों या व्याख्याना का प्रकरण चल रहा है। वहाँ विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण में उपसहार अगले मन्त्र (सं० १४) के पाठ ४ में—तथा लोको अकल्पयन्—इस प्रकार लोको = स्वरूपों का व्याख्यान किया—में किया है।

(ii) ऊपर टिप्पणियाँ में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थों के अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सब पदों के वास्तविक अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब व एक ही मन्त्र के विभिन्न पदों के द्योतर हों। इस दृष्टि से भी यहाँ पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिज्ञान है। इस की पुष्टि चन्द्रमा आर मन के, सूर्य आर चन्द्र के, मख तथा इन्द्र और अग्नि के तथा प्राण और वायु के धनिष्ठ सम्बन्ध में भी होता है।

(iii) परन्तु मनस, चक्षो, मुखात् और प्राणत् में पञ्चमो विभक्ति का प्रयोग विचारणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्मनाभ में इधभूतलभग में तृताया लेने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तान्त अर्थों की दृष्टि में यहाँ हनु में पञ्चमा माननी समझनी रहनी। मननशक्ति, दशनशक्ति, महनशीलता और धारण करने की शक्ति के कारण उस के नाम कमण चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और आग्नि तथा वायु पडे। ✓ जन् धातु का प्रयोग उपात्त द्योतर ही नहीं है, प्रसिद्धि का द्योतर भी है।

१० श्रोत्रात्—यजुर्वेद में प्राण और वायु को श्रोत्र से उद्गन्त कहा गया है। अतः श्रोत्रशक्ति के कारण वह पुरुष वायु और प्राण कहलाया।

सहितापाठ

पदपाठ

३५. नाम्ना आसीदन्तरिक्षम् । नाम्नाः । आसीत् । अन्तरिक्षम्
 शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत
 पद्भ्या भूमिर्दिशः श्रोत्रात् । पद्भ्याम् । भूमिः । दिशः ।
 तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥ श्रोत्रात् । तथा । लोकान्
 अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यजु सहिताया प्रबोधशोध्य सन्त्र । तत्र अन्तरिक्षम् इति लोकौ, इति च स्थाने 'अन्तरिक्ष ५' इति, 'लोकौ २' इति च पाठौ । पदपाठस्तु ऋग्वेदवत् ।

सायणभाष्यम्—यथा च द्वात्रीन् प्रजापते मन प्रमृतिभ्योऽकल्पयत् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापते नाम्नाभ्यो देवा अकल्पयन् उपास्तितवत् । एतदेव दर्शयति । नाम्ना प्रजापतेर्नाभे अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्ण शिरस्यौ समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्या पान्नाभ्या भूमि उपन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिश उत्पन्ना ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[नाम्ना] (उस की) नाभि स [अन्तरिक्षम्] आनाश [आसीत्] हुआ [शीर्ष्ण] शिरस [द्यौ] युगेक [समवर्तत] रना । [पद्भ्याम्] पैरों स [भूमि] पृथ्वी [श्रोत्रात्] कानों से [दिश] दिशाओं [तथा] और [लोकान्] (शेष सत्र) लोकों को [अकल्पयन्] कल्पित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणिया—१ नाम्ना—यह पद ✓ नहू बाधना से बनता है । जो गत्र कुंठ को बाध हुए है, व्याप्त किए हुए है । ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नाभि म प्राण, अन्न आर रेतस् स्थित हैं । नाभि पदार्थों का मध्य भाग होती है, जो मयरहित होता है । अन्तरिक्ष—आनाश सत्र को व्याप्त किए हुए है । इस मध्य लोक भी कहत हैं । वायु आर वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहता है ।

२ अन्तरिक्षम्—डा० फतहसिंह न दो व्युत्पत्तिया (१ अन्तर + ✓ प्र स २ अन्तर + यक्ष्म से) ब्राह्मणों से और तीन (—१ अन्तर + धातम्

२ अन्तरा + √भि ३ अन्तर् + अयम्) निरुक्त से सकलित की हैं । आभास क अर्थ में य इसे अन्तर् + √ईप् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं । ताण्ड्यमहाब्राह्मण म एक अन्य व्युत्पत्ति अन्तर + स का मन्त्र भी मिलता है (देखो वै० ५६) । ऊपर लिखी १ म उगित अन्तरिन् क रूप की दाएँ में अन्तर + √भि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है । इसी से यह पुरुष का उस क सब कुछ को अलग अन्दर धारण करने और सब कुछ क अन्तर व्याप्त होने क कारण नाम बन जाता है ।

३ क्षीर्ण — इसे √भि से व्युत्पन्न किया गया है । सब का धारक, सब का शरणभूत, अत उन्नत, परम कमनाय । तु क असारी भाषा का तिरि । इस का सामान्य अर्थ शिरम् होता है । इसे प्राणों का योनि, प्राण, अग्नि, गायत्री छन्द, विधातु, निवृत् आदि कहा गया है (देखो वै० पृ० ५४४) ।

४ द्यौ — यह कांडा, विजगाथा, नान्ति, गत, मोक्ष, मन्त्र, दम्प, व्यवहार, गुण, स्तुति अथा म प्रयुक्त √द्वि धातु से व्युत्पन्न किया गया है । ता० २० । १४ । २ म इसे √द्वि से व्युत्पन्न किया गया है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इस प्रजापति द्वारा फैलाया हुआ, हरिणा (= सुवर्णमयी), प्राण, ब्रह्म, अन्तर पात्त छन्द, विश्वरूपा, वरुण, वैश्वानर, वाक् आदि कहा है ।

५ पद्मयाम् — ऊपर मन्त्र १२ म पद्मयाम् पर लिखी देख । वहा भी हनु म पद्ममी माना जा सकता है ।

६ भूमि — भवतीति भूम । सब कुछ का उत्पत्तिस्थान हान स पृथिवी भूमि कहलाता है । सब को जन्म दार सुख आदि प्राप्त कराने वाला हान क कारण वह पुरुष भूमि कहलाया ।

७ दिश — √दिश् से बनता है । प्रसाधक, निर्देशक । ब्राह्मणग्रन्थों में रर्गलाक, नाक, अग्नि, विश्वदेवा, ऋतुएँ, धान, श्रवणशक्त, छन्दम्, परिधिया, प्राण, समान, वैरूप साम आदि का 'दिश' कहा गया है । अत प्रकरण म इस का बहुवचन रूप कोई सन्नता उत्पन्न नहा करता है । वैदिक पदों का योजना परम कुनिम है । य कवि क काव्य ४ पदों क समान नहा है । उन की योजना अनेक दृष्टि को ध्यान में रख कर की गई है ।

८ तथा लौकौ अकल्पयन्—✓ कल्प् का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, मताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है। लोक पद✓लोर् देराना, प्रकाशित होना से मतता है। अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशप्रद। अतः ज्ञापक = स्वरूप = नाम। इसी आधार पर इस का अर्थ 'पद' भी किया जा सकता है। पुरुष के विभिन्न नामों, पक्षों स्वरूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया।

९ ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पशु आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की शक्तियों और कमों की सृष्टि का बोध भी आलंकारिक शैली में होता है। वर्णन के क्रम में अव्यवस्था ज्ञान से यदा सृष्टिरचना का प्रकरण समग्रहकर्ता का मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता।

सहितापाठ

पदपाठ

३६, सप्तस्यामन् परिधयस्

त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

देवा ययुजं तन्नाना

अयधन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽ-

धयः । त्रिः । सप्त । सुम्ऽ इधः ।

कृताः । देवाः । यत् । ययुजम् ।

तन्नाना । अयधन् । पुरुषम् ।

पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य साकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त उन्दासि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रय परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तम परिधिप्रतिनिधिरूप । अत एवाज्ञायत—‘न तस्य पुण्यात् रश्मि रथायादित्यो ह्येतेषां पुरस्ताद् ग्रास्यन्ति’ (तैत्ति० २।१।६।३) इति । तत एत आदित्यसहिता सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपा । तथा समिध त्रि सप्त त्रिगुणोक्तसप्ततयासा एव विशति कृता । “द्वादश सासा पञ्चतवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकाधिश” (तैत्ति० ५।१।१० २) इति श्रुता पदार्था एकाधिशतिदारुयुक्तेभ्यस्त्वेन भाविता । यन् य

पुरुषो वैरोनोऽस्ति त पुरुष देवा प्रनापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञ तन्वाना
मानस यज्ञ तन्वाना कुर्वाणा पशुम् अब्रधन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन
भावितवन्त । एतदेवाभिप्रय पूषन् "यपुरुषेण हविषा" इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जन [देवा] देवों ने [यज्ञम्] (सृष्टि—)
यज्ञ का [तन्वाना] त्वस्तार करत हुए [पुरुषम्] (विराज) पुरुष को
[पशुम्] (हान रूप) प्राण [अब्रधन्] बनाया (तव) [अस्थ] इस यज्ञ
की [परिधय] सीमाएँ [सप्त] सात [आसन्] थीं, (आर) [समिध]
सामधाएँ [त्रि सप्त] इक्कीस [कृता] बनाई गई ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—१ सूक्त परिधय—परिधि—परि + √ धा से । धारक,
अत सीमा । ब्राह्मणग्रन्थों में त्रिधाओं आर लाओं का परिधि कहा है । सा०
में १) गायत्री आदि सात छंदों आर २ आहवनाय की तीन परिधियों, तान
उत्तर वात्काधा और आदित्य को परिधि बताता है । क्रमाभू० में दस० में
ब्रह्माण्ड के एक के ऊपर एक के क्रम में स्थित १ समद्र २ जमरण साहस
वायु ३ मेघमण्डलस्थ वायु ४ वृष्टिजल ५ वृष्टिजल के ऊपर वायु ६ अत्यन्त
सूक्ष्म धनञ्जय आर ७ सबत्र व्याप्त सूत्रा मा—इन सात आवरणों की परिधि
माना है । मै० में यज्ञों के चारों ओर रखी जाने वाली तीन हरी समिधों
को परिधि बताता है । सृष्टियज्ञ के वर्णन में दस० का अर्थ अधिक समीचीन है
सात छंदों का भाव वाग्रहण से स्थाप की उक्ति में अधिक संगत होता है ।
वेद के कतिपय मन्त्रों में सृष्टिरचना से छंदों का सम्बन्ध बताया गया है ।
(यथाप० ४ । १८२ १७३, १७८ १८० देखें ।)

२ त्रि सूक्त समिध—इक्कीस सामधाएँ । सा०—१२ मात, ५ ऋतुएँ,
३ लोक और आदि-व । दस०—इक्कीस पदाधा (१ प्रकृति महत्, बुद्धि,
अन्तःकरण और जीव का समुदाय, १० इन्द्रिय,—१ तन्मानाएँ, और ५ भूत)
रूप सामग्री । यथा० में यह पारगणन इस प्रकार किया है—१ प्रकृति, १ महत्
१ अहकार, ५ सूक्ष्म भूत, ५ स्थूल भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, और ३ गुण-सत्त्व, रजस्
और तमस् । ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणो, वसन्त, गम और अस्थिषा की समिध कहा
गया है । तै० २ । १ । ३ । ८ के अनुसार यह पद सम् + √ दा (= यच्छ)

से बनता है। श० ९।२।३।४४ में इसे सम् + √ इन्ध् से व्युत्पन्न किया गया है।

(11) ऋ० १।१६४।२५ में शायन की तीन समिधाएँ बताई हैं। श्र० ३।२।९ में परिजम्न यह अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोक में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। श्र० १०।५१।२ में अग्नि की समिधाओं को देवयानों कहा है। अव० ५।२६।१ में यजुप् ही समिधाएँ हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएँ पिशाचजम्भनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से ममिन् बन कर अमर आयु देता है। अवे० ८।९।१८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(12) त्रि सप्त का प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुह्य पदों (१।७२।६), विधुल्लिङ्गो (१।१९१।१२), सात मोर निषो (१।१९१।१४), अघ्न्या क नामो (७।८७।४), सोमया का उसाओं (८।४६।२६), सखा क पद में सुखो (१) आदि (८।६९।७), गिरिओं की सानुओं (८।९६।२), पूर्व्य व्योम में सय आशिर की दोहक धेनुओं (९।७०।१, ८६।२१), नदियाँ (१०।६४।८) की संख्या की व्योक्त है और अवे० १२।२।२९ में ऋषियाँ की संख्या की।

(13) यहाँ पर सृष्टियज्ञ का वर्णन है। त्रि सप्त और समिध के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मण के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियाँ या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दस० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३ देवा — ऊपर मन्त्र ७ में देवा पर टिप्पणी देखें।

४ यज्ञम् — ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देखें। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग परम पुरुष का चिन्तन करते हैं (देखो ऋभाभू० पृ० १६३)।

५ तन्व्याना — √ तन् + शानच्। विस्तार करते हुए।

६ पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस की देह वाला नहीं है । ऋ० ने इसे ✓ दृश धातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रष्टा, सर्वभूजनीय और द्रष्टव्य' ग्रहण किया है । इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणा व पशुपद क अर्थों से होती है जहाँ केवल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रत्युत अग्नि, सविता, वैश्वदेव इन्द्र, देवी विश्व, सोम श्री, यज्ञ, शान्ति, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तन्, अन्न, वाज, मेध, धान, इत्या प्राण, आत्मा, यज्ञमान वज्र, प्राक्, उक्थ ऊषा, स्वर, यज्ञ आदि को भी पशु कहा है ।

महितापाठ

पदपाठ

३७. यज्ञेने यज्ञमयजन्त देवास्	यज्ञेने । यज्ञम् । अयजन्त ।
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।	देवाः । तानि । धर्माणि ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त	प्रथमानि । आम् । ते । ह ।
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः	नाकम् । महिमानं । सचन्त ।
॥ १६ ॥	यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ।
	॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्वे प्रपञ्चेनोक्तमथ साध्याश्च दशयात । देवा प्रजापति प्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सफलपेन यज्ञ यथोक्तयज्ञस्वरूप प्रजापतिम् अचयन्त पूजितवन्त । तस्मात् पूतनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जाग्रदुपविकाराणा धारकाणि प्रथमानि मुर्यानि आसन् । एतावता सृष्टिप्रतिपादकमूक्तमगाथ सगृहीत । अथोपासनात्फलानुवादकमगाथ सगृह्यत । यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्या पुरातना विराडुपासिता साधका देवा सन्ति तिष्ठन्ति तन् नाकं विराट्प्राप्तिरूप स्वर्गं ते महिमानं तदुपासका महात्मान सचन्त ममत्रयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[देवा] देवों ने [यज्ञम्] (पुरुषरूप) यज्ञमय (हवि) से [यज्ञम्] (सृष्टि—) यज्ञ का [अयजन्त] सम्पादन किया ।

[तानि] वे [धर्माणि] नियम [प्रथमानि] प्रमुख [आत्मन्] हो गए ।
 [इ] निश्चय मे [ते] वे [महिमानः] (प्रमुख धर्म रूप) कीर्तियां [नाकम्]
 (उम) सुखमय (मोक्षस्थान) में [सचन्त] विद्यमान है [यत्र] जहा
 [पूर्वे] पुराने [साध्याः] सृष्टि के साधक [देवाः] देव [सन्ति] विद्य-
 मान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियाँ—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियाँ—पुरुष के मन में
 नामनारूपी यक्षमय बीज, अप्रकृत सलिल आदि । सा०—प्रजापति के प्राण
 रूप देव ।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ । दम०—ज्ञान यज्ञ (यमा०) ; स्तुति
 प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (ऋभाभू०) । सूक्त के वर्णन से यह पद
 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है । परन्तु यह पुरुष विराज् है या अव्या-
 कृत परम पुरुष । विराज् तो यह सृष्टि ही है । पहले परम पुरुष को ही यज्ञ
 की हवि = सामग्री बनाया गया है । उनी से सब उत्पत्ति बताई गई है । यह
 उत्पत्ति 'विराटजायत' का व्याख्यान कही जा सकती है । अतः अनुवाद में इस
 का अर्थ 'पुरुष रूप यक्षमय हविम्' किया गया है । पाउ० सूक्त० १४ में यज्ञपद
 पर टिप्पणी भी देखें ।

३. यज्ञम्—मै०—जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित
 किया गया है वैसे ही यहा पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है ।
 सा०—यन्स्वरूप प्रजापति । दक्ष०—यज्ञनीय पूजनीय परमेश्वर । इन दोनों ने
 अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है । यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो
 भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त
 रहेगा । ✓ वज्र धातु का अर्थ सगतिकरण भी होना है अतः अयजन्त =
 किया ।

४. तानि—दस में पूर्ण पाद—'यज्ञेन यक्षमयजन्त देवाः' में वर्णित धर्मों =
 नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है । सा० ने 'प्रसिद्ध ब्रह्मद्रूप
 विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है । पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवा' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं । दस० ने तानि मे अयजन्त क भाव का निर्देश माना है ।

५ धर्माणि—सा०—धारक । दस०—धारणात्मक (यमा०) करने योग्य (ऋभाभू० १६४) । यह प०✓धृ से बनता है । अत धारक । नमः, शक्तिया आदि ।

६ प्रथुमानि—✓प्रथ् से । अत विस्तृत, प्रमुख । दस०—१ अनाम भूत मुख्य । २ सब कर्मों क आदि म करने योग्य (ऋभाभू०) । पहला अथ अधिक समत है ।

७ नाकम्—मा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—१ दुःखविहीन भुक्तिगुल २ सबदुःखरहित परमेश्वर ।

८ महिमान—मा०—प्रजापति क उपासक महात्मा जन । दस०—महत्त्व से युक्त । विद्वान्, पू०य । मै०—सम्भवत यह म निहित शक्तियों ।

(११) यह पद✓मह् से बनता है । अत पूजनीय, महान् । इस का विशेषण पद 'त' पूर्वपादस्थ तानि न ही निर्देशक हो सकता है । अत हिन्दी अनुनाद म ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियों' अर्थ ग्रहण किया गया है ।

९ सचन्तु—✓सच् से लट् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप । प्राप्त होती हैं, मिलती हैं, मिथमान हैं ।

१० यत्र—सा०—विराट्प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—मोक्ष । यह पूर्वपादस्थ 'नामम्' की ओर संज्ञत करता है ।

११ एवे साध्या द्वा—सा०—पुरातन विराट् की उपासना क साधन देवता । दस०—साधनों से युक्त (याग-) साधन कर लेने वाले प्राचीन देदीप्यमान विद्वान् । मै०—प्राचीन साध्य, देवता । ऊपर मन्त्र ७ में साध्या पर टिप्पणी भी देखे । यह पद✓साध से बनता है । अत साधक । इसे 'देवा' से धृक् लेने के लिए मन्त्र में कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है । अत इस 'देवा' का विशेषण उपाया गया है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३८.

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च
 विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
 तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति
 तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानुमग्रे ॥
 य० ३१।१७ ॥

अद्भ्यः इत्युत्सभ्यः । सम्भृत इति
 सम्भृतः । पृथिव्यै । रसात् । च ।
 विश्वकर्मणः इति विश्व-
 कर्मणः । सम् । अवर्त्तत । अग्रे ।
 तस्य । त्वष्टा । विदधदिति वि-
 दधत् । रूपम् । एति । तत् ।
 मर्त्यस्य । देवत्वमिति देवत्वम् ।
 आजानुमित्याजानम् । अग्रे ॥

य० ३१।१७ ॥

महोदधरभाष्यम्—“अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाप”
 (१।३।६।२।२०) इति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम् । उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषा-
 त्रिष्टुभवादित्यदेवत्याः । पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्रातः लभ्यते ॥ ॥

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चको-
 पलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य
 विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्त्तत समभवत् ।
 भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्ग
 शरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य
 उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयस्त्वष्टा-
 दित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य
 पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । द्विविधा देवाः
 कर्मदेवा आजानदेवाश्च । कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्रातः कर्मदेवाः । सुष्टयादा-
 ह्मत्पला आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—“ये शत कर्मदेवानामानन्दाः स
 एक आजानदेवानामानन्दः” (बृ० ४।३।३३) इति श्रुतेः येषां दम
 आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [पृथिव्यै] सुविरुद्ध सृष्टि (रचना) के लिए [अद्भ्य] (आदिकारण) जलों से [सम्भृत] निकाले हुए [विश्व कर्मण] समस्त (रचना रूप) कम म समर्थ [रसात्] सार से [अग्रे] सृष्टिरचना के समय [समवर्तत] (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई । [त्वष्टा] सृजक पुरुष [तस्य] उस (दृश्यमान जगत्) को [रूपम्] रूप [विदधत्] देते हुए [षति] (सर्वत्र) पहुँचा हुआ है । [अग्रे] आरम्भ से [तत्] वह हो [मत्स्यैस्य] मरणशील प्राणियों में [आजानम्] सत्र ओर से (समस्त वन्य कर्मों आदि का) उपादक [देवत्वम्] । द्रव्य गुण (है) ॥ १७ ॥

टिप्पणियाँ—१ अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै०—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—दत्त०—पृथिवी को उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई । इन्होंने इसे उपलब्ध मान कर जल आदि की सृष्टि का व्याख्यान किया है । विश्वकमा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् कार्यरूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है । उसी कारणरूप जगत् के अंशों से सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है । सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अपने कर्मों से सुख प्राप्त करने के लिए वेद की आश देता है (—देवत्वमाजानमग्रे) (ऋभाभू०) ।

(ii) उवट—जलों और पृथिवी के रस से उत्पन्न मिश्रणार्थ से पूर्व संयोग रूप में विद्यमान प्रजापति अपने एकाग्र रूप मर्त्यलोक में प्राप्त प्रभुव है । मही०—जल और पृथिवी आदि पांच भूतों और काल के रस को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है । वह आजान देव = मुख्य देव है ।

(iii) उवट और महीधर ने पृथिव्यै को पञ्चमर्थ म चतुर्था माना है । हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनावश्यक है । यहाँ पर तादर्थ्य चतुर्थी का प्रयोग है । पृथिवी पद √ प्रथ् से बनता है । अद्भ्य को सत्र भाष्यकारों ने पांच भूतों का स्रोतक माना है । यदि इन जलों को आदिकारण 'मलिल' मान लें तो इसे उपलब्ध मानने की आवश्यकता न रहेगी । सम्भृत का रसात् से सम्बन्ध सीधा और द्वाभाविक है । अतः इसे पञ्चम्यन्त लिया गया है । इस प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना क्लृष्ट है ।

२ विश्वकर्मण — व्युत्पत्ति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सन इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रसात् या विशेषण और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३ त्वष्टा—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहा पुरुष रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अतः सूर्य अर्थ अप्रासंगिक है।

४ तद्—तु० व०—एक तद् (ऋ० १।१६।४६) और तदेकम् (ऋ० १०।१२१।२)।

५ आजानम्—मही०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दस०—समन्ताजनाना मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म—आ + जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ + √जन् (आ समन्तात् जनयति कारयति कर्माणि) से लिया गया है।

६ तत्स्य—√तन् से तद् शब्द का पठ्यन्त रूप। सामान्यतः यह निर्देशक सर्वनाम क रूप में आता है। यहा यह 'पृथिव्यै' पद से सकृत् सृष्टि रचना का द्योतक है। इसे मर्त्यस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

सहितापाठ

पदपाठ

३६० वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव त्रिदित्याति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

य० ३१।१८॥

वेद । अहम् । एतम् ।
पुरुषम् । महान्तम् ।
आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम् ।
तमसः । परस्तात् । तम् । एव ।
त्रिदित्वा । अति । मृत्युम् । एति ।
न । अन्यः । पन्थाः । विद्यते ।
अयनाय ॥ य० ३१।१८॥

महीधरभाष्यम्—एत महान्त सर्वोत्कृष्ट पुरुष सूर्यमण्डलस्थमह
वेद जानामीति श्रुपेर्वचनम् । कीदृशम् ? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो
यस्य तम् । उपमान्तराभवात् स्थोपमम् । तथा तमस परस्ताद् दूरतरम् ।
तमोरहितमित्यर्थ । तम शब्देनाविद्योच्यते । तमेवादित्य विदित्वा
ज्ञात्वा मृत्युमत्येत्यतिक्रामति पर ब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्य पन्था
मार्गो न विद्यते । सूर्यमण्डलान्त पुरुषमात्मरूप ज्ञात्वैव मुक्ति ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मे [एतम्] इस (ऊपर वाणत) [महा
न्तम्] महान् [आदित्यवर्णम्] गूर्म के समान तेज वाले [तमस] अन्धकार
के [परस्ताद्] परे [पुरुषम्] पुरुष को [वेद] जानता हू । [तम्] उस
[ण्व] ही [विदित्वा] जान कर [मृत्युम्] मृत्यु को [अति एति] पार कर
जाते हैं । [अयनाय] मोक्ष के लिए [अन्य] दूसरा कोई [पन्था] मार्ग
[न विद्यते] नहीं है ।

टिप्पणिया—एत पुरुषम्—मही०—सूर्यमण्डलस्थ पुरुष । उग्र, दम०—
परमेश्वर । यह अर्थ ही प्रकरणोचित है क्यों कि एतम् म पूर्व मन्त्रों म वर्णित
पुरुष की ओर निर्देश है ।

२ आदित्यवर्णम्—३ण—√ वृ से व्यु पन्न होने क कारण 'तंज' का प्रयाय
माना जा सकता है । रग भी पण्यों का स्वरूप = तज हा है । ज्ञात पण्यों
म आदित्य का तज हा समाधक होता है । यह पण्य आत्ति (न + √ गो
अनलण्ने स) का तद्धितप्रत्ययात् रूप है । अत तज की अनिवारिता,
अवण्डता आर सात य का भी द्योतक है । दम० न इस का अर्थ 'स्वप्रकाश
प्रज्ञानस्वरूप' दिया है ।

३ तमस—यह अन्धकार, अज्ञान, सामानिक बन्धन और दुःख आदि
का है ।

४ अयनाय—महा०—आश्रय शरण क लिए । त्स०—१ व्यावहारिक
और पारमार्थिक मुक्त क लिए (ऋभाभू०) । २ अमान स्थान मान
क लिए ।

सहितापाठ

पदपाठ

४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽनुन्त- प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः ।
 रजायमानो बहुधा नि जायते । चरति । गर्भे । अनुन्तः ।
 तस्य योनिं परिं पश्यन्ति धीरा- अजायमानः । बहुधा । नि ।
 तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ जायते । तस्य । योनिम् । परिं ।
 पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् ।
 ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥

य० ३१।१९ ॥

य० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—य सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थित सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्य सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थान स्वरूप परिपश्यन्ति । “अहं ब्रह्मास्मि” इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजावानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थु स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापति] पुरुष ही [गर्भे अन्त] उत्पन्न वस्तुआप अन्दर [चरति] मिचरण करता है । [अजायमान] उत्पन्न न होने पर (भी) [बहुधा] अनेक प्रकार से विनिध रूपों में [जायते] उत्पन्न होता है । [धीरा] धैर्यशाली जन [तस्य] उस के [योनिम्] (जगत् के उपादक) स्वरूप को [परिपश्यन्ति] देखत हैं । [ह] अवश्यमेव [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] पदार्थ [तस्मिन्] उस में [तस्थु] स्थित हैं ॥

टिप्पणिया—१ गर्भे अन्त—मही० और दश० (यमा०) ने इस का अर्थ ‘गर्भस्थ जीवों के अन्दर’ लिखा है । पिछले समस्त वर्णन में पुरुष को सर्वव्यापक और समस्त उत्पन्न पदार्थों की सामग्री बताया गया है । वही सर्व व्यापकता यहाँ अभिप्रेत प्रतीत होती है । ऋभाभू० पृ० १६७ भी देखें ।

२ बहुधा विज्ञायते—मही०—कार्य रूप में उत्पन्न होता है । दत्त०—उस परमेश्वर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है । इन्हो ने इसे जगत् से सम्बद्ध किया है ।

सहितापाठ

पदपाठ

४१. यो देवेभ्यः ऽ आतपति
यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो
नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥

य० ३१ । २० ॥

यः । देवेभ्यः । आतपतीत्या-
ऽतपति । यः । देवानाम् ।
पुरोहितः ऽ इति पुरः ऽ हितः ।
पूर्वः । यः । देवेभ्यः । जातः ।
नमः । रुचाय । ब्राह्मणे ॥

य० ३१ । २० ॥

महीधरभाष्यम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति
द्योतते । यश्च देवानां पुरोहित सर्वसार्थेष्वपि नीत । यश्च देवेभ्य सखा
ज्ञातु पूर्वो जात प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नमः । कीदृशाय ? रोचते-
ऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय । 'इगुपध'—(पा० ३ । १ । १३०) इति
अप्रत्यय । तथा ब्राह्मणे ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मि । इति त्रिलोप । ब्रह्मावयव
भूताय वा ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—[य] जो [देवेभ्य] देवों के लिए [आ तपति]
धर्म आर तप करता है, [य] जो [देवानाम्] देवा में [पुरोहित] अग्र-
गण्य है, [य] जो [देवेभ्य] देवों से [पूर्व] पहले [जात] निजमान
था, (उस) [रुचाय] तेजस्वी प्रकाशमय [ब्राह्मणे] ब्रह्म अ स्वरूप के लिये
[नमः] जमस्कार है ॥

टिप्पणियाँ—१. देवेभ्यः—मही०—देवताओं के लिए । दत्त०—विद्वाना
के लिए । यदि इस का अर्थ 'तमस्त प्रकाशमान पदार्थ' किया जाए तो मूल
भाव के अधिक समीप रहेगा । समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही व्योक्ति है ।
ममा० में दत्त० ने यही अर्थ लिया है ।

२ पुरोहित—मही०—मन कामों में आगे किया हुआ । दत्त०—
१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वमुखों से युक्त करने वाला । २. पहले से ही हित क
लिए (पगलों क) बीच में स्थित—सूर्य का वर्णोपग मानते हैं । उवत्—इन्द्र
रूप में देवों क आगे वर्तमान ।

३ नमो रुचाय ब्राह्मणे—मही०—दीप्यमान ब्रह्म के पुत्र या अगस्त्य
आदित्य क लिए प्रणाम । दत्त०—१. रुचिपर ब्रह्म और ब्रह्ममेवम् के लिए प्रणाम
(स्रभाभू०), २ रुचि कराने वाले परमेश्वर की सन्तान क तुल्य सूर्य से अन्न
(= नम) उत्पन्न होता है ।

(11) मन्त्रस्य 'य' से पिछले मन्त्र के प्रजापति का परामर्श होता है ।
सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है । अतः हिन्दी अनुवाद । ब्रह्मण स्वरूपमिदं
ब्राह्मि, तस्मै ।

सहितापाठ

पदपाठ

४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम् । ब्राह्मम् जनयन्तः ।
देवाऽअग्रे तदेतुनन् ।	देवाः । अग्रे । तत् । अनुनुन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्	यः । त्वा । एवम् । ब्राह्मणः । विद्यात् ।
तम्यं देवाऽअमन्त्रशे ॥	तम्यं । देवाः । अमन् । वशे ।
य० ३१ । २१ ॥	य० ३१ । २१ ॥

महीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमाना प्राणा रुच शोभन ब्राह्म ब्राह्मणो
ऽपत्यमादित्य जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथम तद् वचोऽनुनुन् उचु ।
'ब्राह्माऽजार्ता' (पा० ६ । ४ । १७१) इति निपात । तत्किमत आह । यो
ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्न विद्याज्जानीयान् तस्य
ब्राह्मणस्य देवा वशे अमन् वदया भवन्ति । आदित्योपासिता जगत्पूज्यो
भरतीत्यर्थ ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुवाद—[रुचम्] प्रकाशमान रुचिपर [ब्राह्मम्] ब्रह्म, ज्ञान
आर प्रज्ञात क स्वरूप क ज्ञान का [जनयन्त] प्राप्त करने वाले [देवा]

देव पुरुष [तत्] उम (ब्रह्म जीव प्रकृत क स्वरूप के ज्ञान) को [अग्ने] श्रेष्ठ [देवा] देवपुरुष [अनुबन्] व्याख्यान करते आए हैं । [य] जो [ब्राह्मण] मनुष्य [त्वा] भैवन करने योग्य [एवम्] इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को [विद्वान्] जान ले [देवा] देव पुरुष [तस्य] उस की [वशे] कामना में रहत हैं ॥

टिप्पणिया—१ ब्राह्मम्—ब्रह्मण इद (स्वरूपम्) । ब्रह्म ✓ बह् से बनता है । ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म न वाक्, सत्य, नृत्य, मन, हृत्, चक्षु, श्रोत्र, प्रण, प्रज्ञावति, बृहस्पति, आश्रित्य, अग्नि, यन्, प्राग विद्युत्, पण, पलाश, सव, अन्त रिध आदि अथ दिये हैं । अत यह पद जीव, प्रकृति आर पुरुष तीनों का वाचक है । मही० ने इस का अर्थ आश्रित्य आर दम० ने ब्रह्मोपासक किया है ।

२ देवा—मही०—दीप्यमान प्राण । उपड—तेजस्वी योगों । दस०—विद्वान् ।

३ तत्—यह ब्राह्मम् न लिए आया है । दम०—ब्रह्म, जाव और प्रकृति का स्वरूप ।

४ अग्ने—पहले । उ० २ । १८ म इस की व्युत्पत्ति अगति गच्छति इति अग्रम्—✓ गू जाना से दी गई है । अत गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ । उ० १।२८ पर दमा० भी देखे । दमा० में '०अग्ने०' पाठ है । अन्यत्र '०अग्ने०' पाठ है

५ ब्राह्मण—सौ० ३।२।१।४० में कहा है—तस्मादपि (दीक्षित) राजन्थ वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायत यो यशजायत । इस क अनुसार तीनों वर्ण ब्राह्मण हैं । इस का पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि के वर्णन में मनुष्य मात्र के लिए ब्राह्मण पद के प्रयोग से होती है । ऐ० ७।१९ में हुताद् प्रजा को ब्राह्मण कहा गया है । श० १३।४।१।३ में प्रत्येक हवन करने वाला ब्राह्मण होता है । दस० ने ऋषभाभू० में (हिन्दी) में ब्राह्मण का अर्थ 'मनुष्य' ही किया है । पितृममीश्वर म प० मधुसूदन शर्मा भी यही मानते हैं ।

६ त्वा—यह युष्मद् का अन्वादेश रूप है । युष्मद् ✓ युप् सेवा करना से बनता है । अत समनीय ।

७ देवा अस्तन् वशै—मही०—देवता वश में हो जाते हैं, वह पूजनीय हो जाता है । दस०—इन्द्रिया वश में हो जाती है । यमा० में 'देवा' का अर्थ विद्वान् लिया गया है ।

८ 'वगे'—वो ✓ वश् कामना करना से । अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना । देखो मन्त्रापी० ।

९ अस्तु—✓ अस् + लट् प्रथम पु० बहुवचन । अडागम का लोप है ।

१० पुवम्—भाष्यकारों ने इस का अर्थ 'इस प्रकार' किया है । यह ✓ इ जाना से बनता है । अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का चेतक हो कर 'इस प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है ।

सहितापाठ

पदपाठ

४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-
होरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम-
न्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निपाणामुं
मेऽपान सर्वलोकं मे इपाण ॥
य० ३१।२२ ॥

श्रीः । च । ते । लक्ष्मीः । च ।
पत्न्यौ । अहोरात्रेऽदृश्येहःऽरात्रे ।
पार्श्वेऽदिति पार्श्वे । नक्षत्राणि ।
रूपम् । अन्विनौ । व्यात्तमिति
त्रिऽआत्तम् । इष्णन् । इपाण ।
अमुम् । मे । इपाण । सर्वलोक-
मिति सर्वलोकम् । मे । इपाण ॥
य० ३१।२२ ॥

महीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्य स्तुत्या प्रार्थयते । हे आदित्य, श्रीलक्ष्मीश्च
ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये, त्वद्दृश्ये इत्यर्थः । यया सर्वजनाश्चरणीयो
भवति सा श्री । श्रीयतेऽनया श्री सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते दृश्यते
ज्ञै सा लक्ष्मी । सौन्दर्यमित्यर्थः । अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्था
नीये । नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम् । तत्रैव तेजसा भासमानत्वात्-
“तेजसा गोलकं सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः” इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः । “अग्निर्ना
द्यामापृथिव्यौ । इमे ह्रीदः सर्वमस्तुवाताम्” इति श्रुतेः । य ईदृशस्तु त्वा याचे
इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् । इपाणेच्छ । ‘इपु इच्छायाम्’ विकरणव्यायसः ।
यद्वा ‘इय आभीक्ष्ण्ये’ क्रयादि । अनेच्छार्थः । निमेषणीय तत्राह । अमु पर

लोक मे ममेपाण मम परलोक समीचीनोऽस्तित्यतीच्छा । अमोचेच्छ
त्वादित्थं भवतीत्यर्थः । सर्वं मे ममेपाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमित्यतीच्छे
त्यर्थः । मुक्तो भवेयमित्यर्थः । “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (आनन्दयोग ० ३।१४।१)
इति सामश्रुतः ॥

अ मन्महाधरकृत वदन्नाप मनाहरे ।

नरमधाध्याय एष एकविंशोऽयमारितः ॥

हिन्दा अनुवाद—[च] आर [श्री] गोभा [च] आर [लक्ष्मी]
मम्पन्नता [न] तुम्हारी [पत्न्यौ] शक्त्या (हैं) [जहोरात्रे] दिन आर रात
[पार्श्वे] पकड़ने वाला (अर्थात्—नाशक शक्त्या) (हैं), [नभत्राणि]
नभ [रूपम्] तन (ह) [अश्विनौ] आश्विनदेवता (तुलोक आर पृथ्वालोक)
[व्यात्तम्] प्रसार (हैं) । [इष्णुः] (स्थापन करने वाला) इन्द्र [इषाण]
(भरा बलवान्) चाह । [मे] मेरा [अमुम्] उस (नाशकान् परोप
मुत्त) को [इषाण] ३ । [मे] मझ [सर्वलोकम्] समस्त प्रकाश [इषाण]
प्रकाश कर ॥ २२ ॥

टिप्पणियाँ—१ पत्न्यौ—आग्न, वरुण आदि का जो पत्निया बताई गई हैं
वे उन की शक्तिया हैं । लोक मे मी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी
सहायक, विनाशक शक्ति होती है और प्रतिकूल पत्नी हास, निराशा, श्रमनति
आदि लाने वाली शक्ति होती है । यह शब्द यज्ञयोग मे पति शब्द से नह
लगा कर बनाया जाता है । अतः यहां यज्ञशील परोपकाररत स्थापन शक्त्या
भाव होता है ।

२ पार्श्वे—यह पद √ स्पृञ् छूना से बनता है । छूने—पकड़ने वाला,
हलाने वाला, अतः नाशक शक्त्या ।

३ अश्विनौ—ब्राह्मणग्रन्था में इस का अर्थ वावापृथिव्या भा दिया गया है ।
पाउ० मे सू० ६१ में अश्विना पर मित्रता देखें ।

४ व्यात्तम्—दि + आ + √ दा + क्त । निशय रूप में चारों ओर से
ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ ।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,
 श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा०
 फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार
 गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री
 प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,
 सकलित और रचित बेदलावण्य
 मे विष्णु, इन्द्र और पुरुष
 सूक्तों का शादिक

हिन्दी अनुवाद और सुरुशिनी टिप्पणिया समाप्त हुई ।



परिशिष्ट १

संहितापाठ से पदपाठ

पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाकल्य की एक दृष्टि है जिस के अनुसार व पदच्छेद करते हैं, इति आर अग्रह लगाते हैं। पदकार क अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। वे अनुमान का प्रिय हो कहे जा सकते हैं। अत पिछके माध्यमों ने अनेक बार शाकल्य के पदच्छेद को स्वीकार न कर क अपना पदच्छेद दिया है^१। अनेक बार 'इति' और 'अग्रह' के प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है^२। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा चन्द्रमा^३। शाकल्य के अतिरिक्त रामण आर दयानन्द स्वामी के भी पदपाठ मिलते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों से बनता है—पदप्रकृति संहिता अत पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्धर्च में सब पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन में सन्धि के कारण स्वर और रूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सब पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप में दूसरे पदों से पृथक् पूरा विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के बिना ही दिखाया जाता है।

१ वेभाष० ९। ४-७, २९। ४, ६-२५ और उन में निर्दिष्ट परिशिष्ट।

२ वही, ९। १२-१६।

३ मत्स०-३४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रयुक्तों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के वृत्तिपथ स्थलों पर अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है ।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवन्ता कृतानि । (ऋ० २ । १२ । ४)

२. श्रुग्रीवो यो जिगीवो लक्ष्मादत् । (ऋ० २ । १२ । ४)

३. यं चन्दसी संयती विह्वयेते । (ऋ० २ । १२ । ८)

इन तीन मन्त्रभागों को लें । इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन । इमा । विश्वा । च्यवन्ता कृतानि ।

२. श्रुग्रीव । इव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् ।

३. यम् । चन्दसी इति । संयती इति । समुऽयती । विह्वयेते इति । विऽह्वयेते ।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है । सन्धि के कारण यहां दो अनुदात्त वर्ण मिल गये थे । उन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया । अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है । संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है । पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त नामने नहीं रहता है । अतः 'वि' उदात्त के कारण पदपाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्रुग्री और इव के बीच में अवग्रह लगाया है । इस में तथा जिगीवो लक्षम् में सन्धि छिन्न कर दी गई है । ग्रीव में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था । अब वे पृथक् हो गए—(ई + इ = ई ई) श्रुग्रीर्इव । अतः 'इ' स्वरित हो गई है । संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था । पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है ।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई और ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आवृत्त कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—‘मी’ संहिता में स्वरित ‘न्द’ के पश्चात् आने से अचिह्नित था, पदपाठ में ‘इति’ का ‘इ’ उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। संहिता में ‘स्म’ अनुदात्त ‘न्द’ स्वरित के पश्चात् आने से अचिह्नित था। पदपाठ में यह प्रमाण दूर हो जाने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धिया तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा कर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक् पृथक् लिख लो। साथ ही जहाँ-जहाँ संहिता में दीर्घ हुआ है, वहाँ-वहाँ उसे ह्रस्व कर दो—जैसं, यं स्मां = यम् । स्म ।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने की आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख कर अवग्रह लगा दो (ऊपर उदाहरण सख्या ३ देखो)।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा जाता है। जैसे अकुरित्यक (ऋ० २।१२।४) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुनः लिख लो। इस संग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

(५.) सत्र से पहले अपनी लगाई ‘इति’ पर स्वर का चिह्न लगाएँ जो ‘इति’ है।

(६.) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाएँ। उस में ये बातें ध्यान में रखते—

(i) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यो जिगीवान् = यः । जिगीवान् ।

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

(ii) पहले पद के स्वरित दर्श के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित ही तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—**अन्द्सी संयती = अन्द्सी इति । संयती० । सधस्थं विचक्रमणः = सध ऽ स्यम् । वि ऽ चक्रमणः ।**

(iii) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो कर अनुदात्त ही हो तो पदपाठ में उसे स्वरित कर दो—**यत्र गावो भूरिशंसाः = यत्र । गावः । भूरि ऽ शंसाः ।**

(iv) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(अ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । वृत्वा + अति = वृत्वाति । महिमा + अतः = महिमातः ।

(आ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । परि + अमृषन् = पर्यमृषन् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

(इ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । पुदानि + अक्षीयमाणा = पुदान्वक्षीयमाणा । गुहा + अर्क = गुहाकः । अत्र + अह = अत्राह ।

(ई) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अक्रामन् = व्यक्रामन् । वि + अकरपयन् = व्यकरपयन् । ब्राह्मणः + अस्थु = ब्राह्मणोऽस्थु ।

(उ) उदात्त अ या आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । त्रेधा + उद्गायः = त्रेधोद्गायः । उतर्द्धम् = उतर्द्धम् ।

(ऊ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्तूनि + उद्गमि = वास्तून्गमि । स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एनुम् = अस्तीत्येनम् । किले + अग्नि = किलोति ।

ऊ स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, इम और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त आया हो तो यह स्वरित न रह कर अनुदात्त हो जायगा—

येन + इमा = येनेमा । यस्य + उरुषु = यस्योरुषु ।

(v) उदात्त को पहचानने की रीति—ऋग्वेद में उदात्त आचक्षिप्त रहता है । सामान्यत एव पद में एक ही उदात्त होता है । स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अचक्षिप्त रहते हैं । अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले पदों को अनुदात्त मान लो । जो आचक्षिप्त पद शेष बच व सब उदात्त होंगे । जिस स्वतन्त्र स्वरित के आगे १ या ३ का अक्ष हो उस से अगला अचक्षिप्त अक्षर भी उदात्त होता है ।

(vi) स्वरों के चिह्न लगात समय स्वर के सामान्य नियम—[(१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही । (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + आचक्षिप्त वर्ण] का प्रयोग कर ।

(vii) 'इति' के पश्चात् आवृत्त पद में उस का मूल स्वर ही लगाए, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को भी चिह्नित करें—स्युस्ती इति समुष्मती ।

(viii) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर इन 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है । उसे व्यक्त करें । (१) रुन्दसी इति । विद्धयेत् इति० । यहा 'सी' और 'ते' का अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है । (२) अकरित्यक । यहा पहले 'क' को स्वरित नहा किया गया है ।

(ix) जिन पदों में अवग्रह लगाया जाता है उन में सन्धि तोड़ दी जाती है । जेमे गिरिऽस्था ।

(x) बाध सन्धि के कारण उत्पन्न मूर्धन्य ए और णू को क्रमशः दन्त्य स और न् में बदल दे । यथा मो पु वरुण = मो इति । सु । वरुण (अ० ७।८१।१) ॥

पदपाठ में इति लगाने के नियम

६. प्रगृह्य सज्ञको के आगे इति—

(१) द्विवचन के ई, ऊ और ए के पश्चात् इति लगाई जाती है । जैसे रुन्दसी इति । ऊरु इति । उच्येते इति ।

(२) 'उ' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है । इसे साननासिक् और दार्घ्य भी कर लिया जाता है—ऊँ इति ।*

(३) ओदन्त निपातों के आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अयो इति ।

(४) जिन पदों के अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाता है—सुरसी इति । शयानम् । (ऋ० ७।१०।२।२) ।

(५) एकरान्त अस्मे, युष्म आदि के आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति । (ऋ० १।९।७) । युष्मे इति । (ऋ० ४।१०।८) ।

(६) ओसारान्त सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाता है—इन्द्रो इति । (ऋ० १।४३।८) ।

७ अन्य पदों के आगे इति—

(७) यदि पद के अन्त में 'रू' को विसर्ग बन हों और साहता में उन के आगे किसी वर्ण के आन से संधि से 'रू' न हुआ हो तो पदपाठ में इन विसर्गों के आगे इति लगा कर विसर्गों को 'रू' कर दिया जाता है ।—अन्तरिति (ऋ० १।६२।९) । पुनरिति (मस० २५) । परन्तु तु० क० अन्तराग्निम् = अन्त । अग्निम् । । यहाँ पर संहिता में ही विसर्गों को 'रू' हो गया है । अतः पदपाठ में इति नही लगाई गई है ।

८ अवग्रह लगाने के नियम

१ यदि पूर्व पद में कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों के समास वाले पद के पूर्व पद और उत्तर पद के बीच में अवग्रह लगाया जाता है । जैसे गिरिऽस्था । भूरिऽश्वत्था । सधऽस्थम् । युक्तऽग्राणि । परन्तु तु०—क०—उभयादित् ।

२ द्वन्द्व समासों को अवग्रहीत नही किया जाता है । जैसे साशुनानगने इति । अत्राचय ।

३ 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवग्रहीत किया जाता है ।—धन्वीऽइव । विष्ऽइव ।

* कुछ मस्करतों में ऊँ इति, उम् इति लिखा मिलता है । पा० १।१।१८—'ऊँ देखें ।

४ उपसर्गो को सज्ञाओं और कृदन्त पदों से अवगृहीत किया जाता है ।
विऽकर्मणेषु । प्रऽयतम् । प्रऽ कुपितान् । अपऽधा । समुऽवृक् । सुऽ शिप्र ।
प्रऽ दिशि । आऽरोहन्तम् निऽचित् । विऽराट् । समुऽभृतम् । परिऽ धय ।
समुऽ इध ।

५ प्रधान वाक्य में उपसर्ग को क्रियाओं से पृथक् रक्ता जाता है—अति ।
अनिष्टत् (मम० २२) । वि । अक्रामन् (मस० २५) । अति । अरिच्यत्
(मम०-२६) ।

६. आश्रित (या गौण) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अवगृहीत
किया जाता है । —विऽ मुमे (मस० १) । अधिऽ क्षियन्ति (मस० २)
परिऽ अभूषन् (मम० ७) । उत्ऽ आचत् (मस० ९) । अतिऽ रोहति
(मस० २३) । परन्तु वि । अदधु (मस० ३२) में अवगृहीत नहीं है । इस
पर गिप्पणी देखे ।

७ अवग्रह क स्थलों पर एक से अधिक उपसर्ग इन्द्रे आ जाएँ तो प्रथम
या अन्तिम उपसर्ग को ही अवगृहीत किया जाता है । सुप्रऽ अव्यम् (ऋ०
१ । ६० । १) । उपऽ प्रयन्त (ऋ० १ । ७४ । १) ।

८. यदि प्रकृति में कोई विचार न हुआ हो तो मु, भ्याम्, भिम्, भ्यस्, इमु, त्,
तरप्, तमप्, मत् और क्त् आदि प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है ।—
उत्तरम् । त्रिऽभि (परन्तु तु० क० पदेभि । समन्ऽसु । आतस्थि
श्वासा । परन्तु तुविष्मान् । अमृतऽत्वस्य । पुनऽभ्याम् ।

९. अकारान्त नामधातुओं क अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु'
प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है—देवऽयव ।

१०. जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यत
प्रत्यय को ही अवगृहीत किया जाता है । आतस्थिश्वासा ।

११. अवग्रह लगाने के सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं । अनेक बार
इन क अपवाद भी मिलते हैं । यथा कुचुर (मस० २) । चिष्वद् (मस० २५) ।
चन्द्रमा (मस० ३४) ।

१२. एक पद में एक से अधिक अवग्रह नही लगाया जाता है । (देखो
ऊपर नियम ७, १०) ।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर

(कोष्ठकों में इस समूह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है ।)

१. मूल वेदसंहिताओं, शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वराकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं । यहाँ काठ जग्वेद में स्वराकन की रीति पर सामान्य प्रकाश दला जाता है । ॥३॥

२ ऋग्वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—(उच्चेऽदात्त —पा०) । नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—(नीचैऽनुदात्त —पा०) । जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण चन्द्रित हो जाए वह स्वरित होता है । (समाहार स्वरित —पा०) । इस में उच्चारण ऊँचा चढ़ कर नीचे उतरता है । इस प्रकार उदात्त में आश्रय (= गात्रों को ऊपर की ओर रचना), अनुदात्त में विश्रम्भ (गात्रों का शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप (गात्रों का तीव्र गमन) होता है । वैदिक स्वर सगोतामक है, लोचिक भाषा मक । तीनों ही स्वर अच् युक्त व्यञ्जन या अच् पर ही रह सकते हैं । एक वर्ण पर एक ही स्वर रहता है ।

३ ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है । अनुदात्त के नीचे पठ हुइ रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एक सड़ी रेखा (।) लगाई जाती है ।

स्वर के उपयोगी नियम

४ सामान्यत एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु क —अनुदात्त पदमेऽबर्जम्—पा०) ।

॥३॥ अन्य स्वराकन रीतियों के लिए देखो युधिष्ठिर भीमासक—वैदिक स्वर भीमास और वैमास० ।

५. कुछ देवताद्वन्द्व समासों आदि में दोनों पदों में अपने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है। जैसे—सिन्नावरणौ । इन्द्राद्बृहस्पती । बृहस्पति । एतच्चै ।

६ उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाले अनुदात्त स्वरित हो जाता है।—
(उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः । पा०) जैसे—भूरिष्टगा (६) । युक्तग्राणा (१२) । यहाँ भू और क्त उदात्तों के पश्चात् रि आर ग्रा अनुदात्तों की स्वरित हो गया है ।

७. यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित होने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अगर अनुदात्त ही रहता है । अतः दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित में पूर्व आये हुए अनुदात्त में कोई विराम नहा आता है । जैसे—य सुन्वन्तु मवर्त्ति य पचन्तम् (१०) में 'सु' 'न्तु' आर 'त्ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित) की स्थिति है ।

८. स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सब अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं । परन्तु जब ऐसे अचिह्नित किसी अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है । ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एक श्रुति या प्रचय ऋतं हैं । जैसे—यार्वा चिद्स्मै पृथिवी में 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले वि, ट, स्मै और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं । परन्तु 'पृ' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है ।

स्वतन्त्र स्वरित

९. कही-कहा ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है । इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है । जैसे—वीर्ये णि (१) । वीर्येण (२) । राज्ञ्यं (३३) ।

१० जिन स्थलों में यह स्वरित मिलता है उन में व्रुधा पादपूति के लिए सन्धिच्छेद कर के अपुर की सख्या बढ़ाई जाती है । इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों को पादपूर्ति के लिए वीरि अंजि, वीरि ण और राउनि अ पढ़ा जाता है।

११ कई बार सहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से वह समाप्त हो जाता है। यथा ब्राह्मणाऽस्य (३३)। पदपाठ—ब्राह्मण । अस्त् ।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वारत के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अंक लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्न रहता है। जैसे—व्य १ स्मत् । वृष्य २ नभ । स्व १ जर्जन्ती ।

१३ जब स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ हो आए उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वारत के आगे नीचे अनुदात्त के चिह्न से युक्त ३ का अंक लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—ववे ३ दानाम् । वृष्य ३ न । वृष्या ३ अह ।

१४ कुछ पदों 'क्व' आदि में नित्य स्वतन्त्र मिलता है।

१५ प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन के जात्य, अग्नि निहित, प्रलिङ्ग और धैप्र नाम दिए हैं। इन सब भेदों का प्रयत्नमान एक में ही हो जाता है।

नित्य निघात (= अनुदात्त) पद

१६ इव, उ, चिन्, स्म, स्विद् इ, य, च और वा अपाठ (२) कुछ एकाच् व्यक्तिवाचक सर्वनाम, मे, त आदि और (३) निर्देशन सर्वनाम एन् तथा इम्, सीम्, तथा (४) अनिश्चयामक सर्वनाम 'ख' और 'सुम्' आदि सब अनुदात्त रहते हैं।

उदात्त का अभाव

१७ कुछ अवस्थाओं में सम्बोधनों और क्रियापदों आदि में उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे पूणतया निष्ठात (= अनुदात्त) ही रहते हैं। ऐसे स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है।

१८ निर्देशक सर्वनाम इदम् क आदेश 'अ' क रूप जब किसी सहा क लिए प्रयुक्त हुए हों और उन का अर्थ गौण हो तब वे निष्ठात हो जाते हैं। जैसे—अस्थं जनिमान्।

सम्बोधन पदों का स्वर

१९ सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का यदि वाक्य के प्रारम्भ में आया हो तो उस का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे—पूषन्ननु प्र गा इहि मे पूर्षन्। वास्ताप्सन् प्रति जानीहृस्मान् मे वास्तोप्सते। इन्द्रावरुणा बृधनाभिरप्रति मे इन्द्रावरुणा। उप आ भाहि भानुना मे उप पत्।

२० परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य क मध्य में अन्य पदों के पश्चात् आया हो तो वह निष्ठात (= उदात्त स्वर से हीन) हो जाता है। यथा म जनास इन्द्र मे जनाम। मरुद्भिरग्न आ गहि मे 'अग्ने'।

क्रियापदों का स्वर

२१ यदि वाक्य क मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य का क्रिया निष्ठात (उदात्त स्वर से हान) होती है। जैसे—विष्णोर्नु क वीयाणि प्र वाचम् (१) म वोचम्। प्र तद् विष्णु स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूपम् एतु (३)। अग्नि पार्थो अश्याम् (५)। आदि।

२२ प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य क प्रारम्भ में आई हो तो वह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेद मासो धृतप्रतो मे 'वेद'। अभूद्व सविता वन्द्यो नु न मे 'अभूत्'। अर्षर्षिर्वर्षमुद पू गृभाप मे 'अवर्षा'। अकर्धन्वानि मे 'अक'।

२३. क्यों कि सम्बोधनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्बोधन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्तर से युक्त होगी। जैसे—आध्वर्युः कर्णं ध्रुधि हवर्मन् । 'हे सुनने वाले कानों वाले' हमारी पुकार सुनो' । वृहस्पते रक्षता दम्यु योनिम् । 'हे बृहस्पति' इस के घर की रक्षा करो' । इन में ध्रुधि और रक्षतान् उदात्त स्तर से युक्त ही गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएँ एक वाक्य में आ जाएँ तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के आरम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्तर होता है। जैसे—अपार्मीवां वार्धते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। तुरगिरिर्जयाति क्षेति पुष्यति 'सफल वह जीतता है, सासन करता है और पुष्ट होता है' में क्षेति और पुष्यति क्रियाएँ।

२५. यत्, या, इस् के रूपों, च, हि, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्तर रहता है। जैसे—यो विंममे (१)। यो अस्कर्मायत् (१)। यस्य ... अधिक्षियन्ति सुयनानि विधा (२)। यो दानस्तन्मात् (८)। यो गा उदाजदपृथा (९)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान गम्यता जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्तर से युक्त होती है। जैसे—अध स्विदासीद्दुपरि स्विदासीद् 'क्या नीचे था अथवा ऊपर था'। इस में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसी ३ स्' में 'सी' उदात्त है।

उपमर्गों का स्तर

२७. प्रधान वाक्यों में उपमर्ग की क्रिया से पृथक् रक्ता जाता है और वह उदात्त स्तर से युक्त होता है। जैसे—प्र तद् विष्णुः स्ववते (२) और अभि पापों अद्याम् (५) में प्र और अभि को पृथक् क्रिया गया है।

२८. आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ समस्त माना जाता है और वह निघात हो जाता है। इसा लिए पदपाठ में उसे अवगृहीत करते हैं जैसे—यो देवान् ननुना पृथभूपत् (७)। यो गा उदाजदपधाबुलस्य (९)। यस्योरपु त्रिपु विक्रमणेप्वधिक्षियन्ति मुबनानि विश्वा (२)।

समासों का स्वर

२९. आग्नेडित (पुनरुक्त) पदों के समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अद्वरह । यथायथा । प्रप्र । इन को पदपाठ में अवगृहीत किया जाता है ।

३०. बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—विश्वतो-मुखः । भूरिश्रगा (६)। युक्तर्माणा, सुतमोमस्य (१२)। नहुत से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषतः जब पूर्वपद बहु, पुरु, नञ् (अ या अन्) और सु हो। जैसे—सुशिप्र (१२)। उरुगायार्य (३)। उरुक्रमस्य (५)। कुचर. (२)।

३१. कमधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—प्रथमजा प्रातुर्युज् । महाधन । परन्तु जब पूर्वपद नञ् में (अ या अन्) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—अनग्निदग्धा । अनेश्वदा ।

३२. तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—गोत्र-भिद् । भद्र वादिन् । उदुमेघ । परन्तु षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—बृहस्पतिः । अपा नपात् । शुन शेष. ।

३३. द्वन्द्व समासों में समास करने पर वनं प्रातिपदिक में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—अज्ञावय. (३१)। यहा अज्ञावि प्रातिपदिक है)। साशानानशने (२५)।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—इन्द्रावरणा । सूर्यामासा । आया'...पृथिवी (१३)। इस पद में दोनों भागों को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिद्मै' पद भी आ गए हैं।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण

वर्णमाला

१. ऋग्वेद में व सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की धनिया मिलते हैं वा लौकिक मन्त्रों में पाए जाते हैं। ऋग्वेदशास्त्र के अनुसार तीन स्थानों—अथ सिद्धांशो ३ व, उपरि सिद्धांशो ३ व और भीतिव विन्दती ३—में ही 'व' का उच्चारण होता है।

२ इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ और ञ्ह—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये न्यूनतम वर्ण नहीं माने जा सकते हैं कि एक ही पद में दो स्वरों के बीच में आने पर 'ट' को 'ळ' और 'ड' को 'ञ्ह' हो जाता है।

‘पदमध्यस्थटकारस्य ञ्हकार व्यङ्ग्या जगु ।

पदमध्यस्थटकारस्य ञ्हकार उङ्ग्या जगु ॥

यथा तस्माद्विसालजायत में आ और अ के बीच में आने से 'ट' को 'ळ' और 'ड' को 'ञ्ह' हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी नियम प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

१. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के विभक्त पदों में, अथवा एक वाक्य के विभिन्न पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में परान्त 'ए' और 'आ' के पश्चात् 'अ' का पूर्ण रूप बहुत कम होता है (तु. के प्रवृत्तान्त पाठमन्त्रपरि—पा०)। यथा—यो अस्त्रभायत् (१)।

२. इस मन्त्र में पूर्व रूप वाली सन्धियाँ ये मिलती हैं—याऽविता (१२)। परेऽर्वरे (१४)। पादोऽस्य (२४)। घ्राहृणोऽस्य (२३)। ऐमी सन्धियों को अर्वाचीनता का चोटक माना जाता है। परन्तु वक्त्रमण्डलो में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पाथा अद्याम् (५) । यो अन्तरिक्षम् (८) । नपो अस्ति (११) । सो अर्य
(११) । मिराचो अधि (२६) । † सूरिअस्य । सु अधिअम् । वरणस्य जग्ने ।
अभि एति ।

* इतिकरण क जो स्थल पूर्व परिशिष्ट म दिखाए गए हैं वहां सन्धि नहा
होती है । 'अ' आर उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भा सन्धि नहा
का जाता है, जैसे अथो (अथ + उ), मो (मा + उ) आदि ।

६ व्यञ्जनमन्धि—पदान्त आन् को औ हो जाता है । यथा—होर्माँ
अकृत्ययन् (३५) त्रिगीवाँ लक्षम् (१०) । प्रकुपितौ अरम्भात् (८) । परन्तु लेप्
त्कार प्रथम पुरुष बहुवचन म 'आन्' म कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा
आ गच्छान् उत्तरा युगाणि । इसी प्रकार पदान्त इन्, ऊन् आर ऋन् का ईर्
ऊर आर ऋर् हो जाता है, जैसे—रस्मीरिव । इस नियम का अपवाद भा
मिलता है । यथा—एताव्रानस्य (२४) । † दर्धानान् अमन्यमानाञ्छर्वा (१६) ।

७ बाह्यमन्धि—इ द्वार अन्त मन्धि म लागू होने वाले नियम बाह्य
मन्धि म भा लगाए जात हैं । यथा—मो पु वरण । इस म 'सु' को 'पु' मो क
कारण हुआ है ।

८ लोप होने पर सन्धि—कई द्वार पाठपूर्ति क लिए लोप हो जान
पर भा साध मिलता है । जैसे—य स्माँ पृच्छन्ति कुट्ट सेति घोरम् (११) म
सेति (स + इति) म द्विगो का लोप हो जाने पर भा सन्धि की गई है ।

शब्दरूप

१ वैदिक भाषा लाटिन् भाषा का अपना शब्दरूप म आधार समृद्ध है ।
वहा लैटिन् भाषा म प्रयुक्त विभक्ति प्रययों क अतिरिक्त और भा विभक्ति
प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार से उद्धा लाटिन् भाषा क एक रूप क

† इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र मत्ता नहीं है । पाठपूर्ति के लिए
सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं । ये उदाहरण डा० मक्डोनाल्ड ने दिये हैं ।

‡ मे०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है । पाणिनि
भी ऐसा ही मानते हैं । तु० क० दीर्घादनि समानपादे । जानोऽपि नियम् ।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इन अतिरिक्त रूपों का मा उक्त विवरण आगे दिया जाता है।

एकवचन

१० तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है। यथा—युद्ध के युद्धेन और युद्धा। मनीषा के मनीषया और मनीषा।

११ एन का 'अ' भा बहुधा दीर्घ पाया जाता है—एना। ऋग्वेद में एनेन रूप उपलब्ध नहीं होता है।

१२ कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एक वचन का रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं। यथा—शर्मा के शर्मया और शर्मा।

१३ महिमन् का एक रूप 'मह्मा' (७) भी होता है।

१४ चतुर्था—कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों का रूप 'इ' अन्त वाले होते हैं—कृति का कृती (२०) †।

१५ पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों का रूप 'आ' अन्त वाले भा हात है—अपुषा (९)—'बाडे स'।

१६ क्षुप् का रूप 'क्ष्वा' (३४) भी एक बार आया है।

१७ षष्ठी—पुङ्लिङ्ग इकारान्त और नपुंसक लिंग इकारान्त पदों का रूप 'अस्' से भी बनते हैं। यथा—मधु का मध्व (५) और अरि का अर्य (४)।

१८ सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते हैं। यथा—गुहा से गुहा (१०)। इकारान्त पदों का सप्तमी एक वचन में 'औ' का साथ साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नी—अग्ना (अग्नि में) वेदा (वदि में)।

१९ 'अन्' अन्त वाले पदों को 'इ' का बहुधा लोप हो जाता है—परमे व्यामिन्। शमन् और शमणि। ब्रह्मन् और ब्रह्मणि। इन पदों में उपधा

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है। सा० ने चतुर्था का माना है।

न 'अ' का लोप कभी नही होता है । अतः कवल अहनि, राजनि ही मिलते हैं, अहि और राज नही पाए जाते ।

१० अथ पदो म भी विभक्ति त्वह का अभाव देखा जाता है । यथा—
विश्वह (२१)—'मम गिनो म' ।

०१ सम्बोधन—मत्, वत् आर वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मनुसो रु सम्बुद्धा छन्ति । पा० ।)—भानुमत् से भानुम (प्रथमा में—भानुमान्), हरिवत् से हरिव (प्रथमा में हरिवान्), चकृवस् से चकृव (प्रथमा में चकृवान्) ।

द्विवचन

२२ 'आ' की अपक्षा प्रथमा आर द्वितीया क द्विवचन म 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है ॐ—आतृस्थिवासा (१४)—'बैठे हुए दो जन' । अश्विना—'दो अश्विन् देव' । द्यावा (१३)—'दो सुलोक' । राजाना—'दो राजा' । द्वारा—'दो द्वार' । नद्या 'दो नदिया' ।

२३ ईनारान्त आलिग पदा क रूपो म 'ई' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथवा आर आकाश' (७) । क्रन्दमी सयुती (१४)—'दो चलाता हुई सनाए' । दवी—'दो देवया' ।

२४ अस्मद् आर युष्मद् क द्विवचन में पांच विभाक्तियों म रूप मिलत है ।

१	२	३
अस्मद्—वाम्, आवम् (श०)	आवाम् (श०)	×
युष्मद्—युवम्	युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्
	५	६ ७
अस्मद्—	आवाभ्याम् (कास)	आवयौ (श०)
.	आवद् (तैस०)	

ॐ तु० क० वाच्छन्दमि (पा०) ।

युष्मद्—

युवद्

युवो,
युवयो (तैत्ति०)

२० इन क साथ ही २री, ४थी और ६ठी विभक्तियों में नौ और वाम् क प्रयोग भी मिलते हैं ।

बहुवचन

२६ प्रथमा विभक्ति—अन्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिङ्ग शब्दों क कभी कभी 'आसम्' में मिलते हैं (तु० ५०—आसमेरमुन्—पा०) । यथा—अधाम् (६) अधामि, रधामि, जुनासु (१३), प्रियाम्, सुनीराम् (२१) । इन क साथ 'आसु' क रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामा (१३), युध्यमाना (१५) ।

२७ इनासत् स्त्रीलिङ्ग पत्नों क अन्त में 'इम्' होता है । यथा दुधी — दया' । (तिस्र) पृथिवी — 'तीन भूमिया' ।

२८ तृपुसक लिङ्ग पत्नों क रूपों में आनि, इनि और उनि की अपेक्षा आ इ, ऊ (कभी कभी अ, इ, उ) का प्रयोग अधिक मिलता है । तु० ५० नेत्यन्ति बहुम्—पा०) । यथा—भुवनानि त्रिधा (२) । त्री पूर्णा पदानि (४) । अक्षयिमाणा (४) । हा वास्तूनि (९) इमा त्रिधा प्यर्चना कृतानि (१०) ।

२९ तृतीया—अकारान्त पत्नों में 'ऐम्' क साथ-साथ 'एभम्' का प्रयोग भी मिलता है । यथा—पदेभि (३) । देवभि और दुधे ।

३० शब्दरूपों की रचना—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर इनासन्त और ऊनासन्त अनेकाच् शब्दों क रूपों में पाया जाता है । ऐस पत्नों में अविनाश स्त्रीलिङ्ग और कुछ पुल्लिङ्ग हैं । इन म से आएका क रूप एनाच् शब्दों—धा और भू क समान चरते हैं । भट्ट मतना दा है कि इन पत्नों में पद्य क बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और धा, भू म 'आम्' । जो प्रथम का 'इ' बाद प्रत्यय अविनन्तर नग और वभू क लौकिक रूपों क समान गत है । उदाहरण क लिए रुधी (पु०) नृनी (म्ना०) और तृन् (म्ना०) क रूप इस प्रकार होते हैं—

३१. रथी

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	रथी	रथ्या	रथ्या
सम्बोधन		रथ्या	
२	रथ्याम्	रथ्या	रथ्या
३	रथ्या		
४	रथ्ये		
५	रथ्या		
६	रथ्ये		रथीनाम्

३२. नुदी (स्त्री०)

१	नुदी	नुद्या	नुद्य
८		नुद्या	
२	नुद्यम्	नुद्या	नुद्य
३	नुद्या		
४	नुद्ये		
५	नुद्य		
६	नुद्य		नुदीनाम्
७			

३३. तनू (स्त्री०)

१	तनू	तन्वा	तन्व
सम्बोधन		तन्वा	
२	तन्वम्	तन्वा	तन्व
३	तन्वा		
४	तन्वे		
५	तन्वा		
६			तनूनाम्
७	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसर्गो-
णाच्छेयादाहवायाजालः' में संयोजित किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का
लोप, उन के स्थान पर पूर्ण मयर्ण, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। कात्यायन
ने इन में इया, ई (सरसी-७ मी) और अया का भी कर्मन किया है।

धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लड़ और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में
निरन्तर और कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दीर्घ पाया जाता है। जैसे—आवर्त्—
✓ लुङ् प्रथम पु० एक व०—'उस ने ढका हुआ है। आवर्त्' (या आवर्त्)
✓ रिष् प्रथम पुरुष एक व० लुङ्—'उस ने रिक्त कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए बिना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया
जाता है (तु-व-बहुल छन्दश्चमाद्योरोऽपि । पा०)। इस प्रकार के अट् से
रहित रूप अंग्रेजी के इस्लड्क्विटव के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा प्र वौचम्)
और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' क योग में
लौकिक सस्कृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः क्रिया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते
हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के
दोनों ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् भी रखा जाता है और उन के
बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। (तु० व० उपसर्गोः क्रियायोगे । तं
प्रागधातोः । छन्दमि परेऽपि । व्यवहिताश्च । पा० ।) जैसे प्र तद् विष्णु स्तवते
(२) । प्र विष्णवे शृणुम् एतु (३) । अर्च भाति भूरि (१) । गमुद् वाजं-
धिरा स नः । परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग मदीव क्रिया में पहले आते हैं
और उन के साथ समास होते हैं। जैसे विममे (१) । पर्यभूयत् (७) ।
उदाजत् (९) ।

तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन (कर्तृमात्र्य) में 'मत्' की अपेक्षा
'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। (तु० क० इदन्तो मसि । पा० ।)

जैसे—उष्मि (६)—इच्छा करते हैं (√ वधू से) । दुमि और दुमः ।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'यन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं । (तु० क०—ततनमनयनाश्च-पा० ।) जैसे—याथ और याथन (तुम जाओ) । यात और यातन (तुम जाओ) ।

४०. लोट लकार ने मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं । इन रूपों में मणिष्य में किए जाने के लिए किसी काम का आह्वान अभिप्रेत होती है । जैसे—रक्षतात् । धृतात् । कर्मा कर्मा यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है ।

४१. श्रु, शृणु, पृ कृ आर वृ धातुओं से लोट मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है । (तु क. श्रु-शृणु-पृ कृ-वृभ्यदण्डसि-पा०) । जैसे—श्रुधि (हवम्) । शृणुधि ।

४२. कुठ धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष के रूपों में पर्यगसित हो जाते हैं । जैसे—देते के स्थान पर दायें का प्रयोग ।

४३. द्वित्व—लिट् लकार में कुठ धातुओं के द्वित्व में अभ्यास में स्वर को दीर्घ हो जाता है । (तु० क० तुजागना दीर्घोऽभ्यामस्य) । जैसे—दाधार (४) (√ धृ से) । तूतुजानं । तृताव ।

४४. गण—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है । एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है । जैसे—हृणोमि । करमि । मेदमि । हृषेते (१४) ।

४५. लकार—वेद में लुङ्, लङ् आर लिट् के प्रयोग मत्र कालों में पाए जाते हैं । (तु. क. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा०) । लिट् का प्रयोग भूतकालान्य में ही होता है (तु. क. छन्दसि लिट्-पा०) । जैसे—स दाधार पृथिवीं धामुते गम् में दाधार पद । डा० मैक्डोनाल्ड का विचार है कि लङ् लकार सदा वर्ण गानक भूतकाल का द्योतक है, परन्तु यह ठीक नहीं । (देखा केभाप० । ५४ । १२) । लिट् का वर्तमान में प्रयोग—अभ्यमानुन्दवी जुघानं

(१६) । लट् का—अ यतिष्ठद् दशागुलम् (२२) । उट् का—एते त्वे भानवा दशतार्याश्चित्रा उपमा अचूर्तासु भागु ।

१६ काल—दिन की हुई धातु स पहले अट् का आगम कर क आध धातु प्रत्यय लगा कर एते रूप भी प्रयुक्त हुए हैं । मैं न इन्हें 'नक्षत्रैक' नाम दिया है । उदाहरण के लिए—√ चित् स-उत्तम पु० एक व०—अचिकितम् । प्रथम पु० एत व०—अचिकेत् । प्रथम पु० नटु व०—अचिकितु ।

१७ ला० मैत्रेयतल के मत में महिताआ म उट् का कोई निवर्तक रूप नहीं मिलता है । तृच्-अतमागी मज्ञाओं से ही इन लकार के रूपों का ब्रह्म काल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा ।

१८ भाव (मूढ)—लोप्य भाषा में ओट, निधिलिट्, आशीर्लिट् आर उट् का प्रयोग होता है । वेद में आशीर्लिट् का प्रयोग अल्प मात्रा में पाया जाता है । लट् भविष्यत् काट् का भूतशालर रूप है और भविष्य का यातक है ।

१९ परन्तु यहा एक और नये भार—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है । इस भार का प्रयोग विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण अवाह, सप्रत्य प्रार्थना आशा हेतुह्युत्तमद्वय, इच्छा कामप्रवृत्त और समानता—इन लोट् आर निवर्त्त्य अर्थों उपसर्ग और आगका में होता है । (तु० क०—निधिले उपसर्गप्रवृत्तयोश्च । पा०) । निधिलिट् का मूल लय इच्छा आर समानता का प्रकाशन है और लोट् का 'निश्चय प्रतिष्ठा । विभिन्न पुरुषों में इस का अर्थान्तर मित्र भी लीति होता है । यथा उत्तम पुरुष में यह प्रतिष्ठा 'निश्चय' का यातक है

• वाक्या में इस का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में यह प्रधान मक पदों के साथ आता है, जैसे—ब्रूदा न शुश्रुवद् गिर । गागनास्या में यह उपसर्ग मात्रा में सम्प्रत्य-गोतक पदों के साथ आता है । जैसे—यानं पृतपायू ।

२१ लट् में धातु के आगे अ या आ आगोवा जाता है (एते ऽ नक्षत्रा-पा०) । जल—भवति म न्यनर आर मप का प्रयोग भी देवता में आता है

(—सिब्रटुलं लेटि—पा०) । यथा तारिपन् में । परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का छोप भी बहुधा हो जाता है (—इतश्च छोपः परस्मैपदेषु—पा०) । जैसे—तारिपन् में ।

५२. लेट् में मारधातुव और आर्धाधातुन—दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है । √भू और √सु के लेट् के रूप इस प्रकार हैं—

५३. √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवात्	भवात्	भवान्
मध्यम पु०	भवसि, भवाः	भवाथ	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाव	भवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवति	भवै से	भवन्त
म०पु०	भवसि	भवै थे	भवध्वै
उ०पु०	भवै	भवैव है	भवामहै ।

५४. √सु—

परस्मैपद

प्र०पु०	सुनवत्	सुनवत्	सुनवन्
म०पु०	सुनव	सुनवथ	सुनवथ
उ०पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	सुनवते	सुनवै ते	सुनवन्तः
म०पु०	सुनवसे	सुनवै थे	सुनवध्वै
उ०पु०	सुनवै	सुनवाव है	सुनवामहै

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

१५. आधुनिक वैदिक व्याकरणों ने लेट् के रूपों को विस्तार कर रखा है कि इस के रूप केवल वर्तमानकाल के होते ही नहीं हैं, प्रत्युत

॥ तु. क. सुचन्त (३७) ।

उन का प्रयोग लिट् और उत् म भी होता है । उन क अनुसार लोट् और विधि लिट् क भी उत् और लिट् में प्रयोग होते हैं । इन क कतिपय उदाहरण ये हैं—

लिट् लकारीय

लेट्	विधिलिट्	लोट्
✓ तुद् स—तुतोदत्	✓ वृत् स—वृत्त्यात्	सुच् से—सुमुग्धि
		✓ भू स—भूमत्
		✓ वृत् स—म० पु०
		आत्मनपद एक व०—वृत्स्व

लुट् लकारीय

✓ नी से—प्र० पु०	✓ विद् से—विदेत्	✓ अत् से—
एक व०—	✓ अद् से—अद्यात्	म० पु० एक व०—अविद्दि
नेपति, नेपत्	✓ मज् से—भक्षीष्ट	द्विप०—अविष्टम्
✓ बुध् से—योषिषत्		त्रु व०—अविष्टन
		प्र० पु० एक व०—अविष्ट
✓ विद् से—विदत्		✓ सत् से—प्र० पु०
✓ कृ से—करति, करत्		एक व०—सदत्
		द्वि व०—मदताम्
		त्रु व०—मदन्तु
		✓ श्रु स—म० पु०
		श्रुधि श्रुतम् श्रुत्
		प्र० पु० श्रोतु
		श्रुताम् श्रुन्तु

५६ इज्जस्मिन्—यह परिभाषा आधुनिकों की है । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अत् आगम स हीन ट् और लट् क रूप को इज्जस्मिन् कहते हैं । इस क प्रयोग लेट् क अन्तर्गत आ जाते हैं । उत्तम पुरुष में यह इज्ज को प्रकट

करता है। यथा—विष्णोन्तु क वीयाणि प्रवोचम् (१)। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्ररणा और उसाह को उत्त करता है और बहुधा लोट् के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—मुगा न सुपथा कृणु। पूषन्निह ननु विद म विद इजाक्व है। इस भाग का प्रयोग कृष्णद म बहुलता से हुआ है।

५६ सात यद्योतक कृदन्त पद—लाकक साहस्य म उपलब्ध मानयद्योतक कृत्त पत्ता (गतृ गानच आ) के आत रक्त छुड लनार म भी कना और कम दोनों म सात य द्योतक कृद त रूप मिलत है। जेन परस्मैप —√ कृ स—कृत। √ गम् स—गमत्। √ स्था स—स्थात्। आ मनपद—√ कृ स—क्राण। √ बुध स—बुधान।

५८ लट् लकार म कसु और कानच प्रत्ययात्त रूप भी मिलत ह (तु क लिङ् कानज वा। क्वसुश्च। पा०।)। यथा √ गम् से शशमान। √ क्रम् से विचक्रमाण (कानच) (२०)। √ स्था से तस्थिवासा (इद्रचन—क्वसु) (१६)। √ ब स—निगीबान् (१०) (क्वसु)।

५८ ऋग्वेत् म क्ववतु प्रययान्त पगे का प्रयोग नहा किया गया है।

५९ कवा-अर्थ के रूप—वद म क वा न साथ साथ नी आर वाय क रूप भी मिलत ह। (तु क इष्टीनामातच। स्ना यात्यश्च। क रो यक् पा०)। स्वाथ क प्रयोग अप ह। जैसे—दिव सुपर्णो गवाय। च्छान दवान्। पत्रा सोमस्य वावृधे। य और त्य प्रत्ययात्त पत्ता का अन्तम स्वरबहुधा दीघ मिलता है।

तुमथ के रूप

६ तुमर्थ के रूप लाङ्क सम्भूत म न लिए क भाव क प्रकाशन क लिए करल एक हा प्रयय—तुमन् का प्रयोग होता ह परन्तु वद म इस न लिए लगभग एक ऋजन प्रययों का प्रयोग होता है। पागान मान ने इन को अरोत्त सूत्रा म सकालत किया है—

१ तुमर्थे से—सन्—अम—ऽमन्—कम—कसन्—अधै—अ यैन्—कधै—कधैन्—गधै—गधैन्—तवै—तवेल्—तवन।

२ प्रथै रो हधै अयाथधै।

३. दृगे विख्ये च ।

४. दाक णमुल्वमुत्ता ।

५. इधरे तोमुन्वमुना ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्था, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है । इन में से पिछले तीन वर्गों के रूप अल्प हैं । शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों में लगभग १२ गुना अधिक हैं ।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु प्रत्ययान्त नाम धातुओं से बनते हैं । जैसे—सुमिधम्—‘प्रदीत करने के लिए’ । प्रतिधाम्—‘रखने के लिए’ । प्रतिरम्—‘जानने के लिए’ । कर्तुम्—‘करने, बनाने के लिए’ । भेत्तुम्—‘फाटने के लिए’ । विभाज (नागकृत्) । अपटुपं (नागकृत्) ।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से और अम्, मन्, वन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं । यथा—गमध्वै (६)—‘जाने के लिए’ । अवसे (१५)—‘रक्षा के लिए’ । सत्तवे (१२)—‘रहने के लिए’ । दृशे—‘देखने के लिए’ । श्रद्धे—‘सच्चा विश्वास करने के लिए’ । जीवसे—‘जानने के लिए’ । विज्ञने—‘ज्ञानने, दातवे—‘देने के लिए’ । कर्तवैष्णवे—‘करने के लिए’ ।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं । ये रूप असू और तोम् में मिलते हैं । जैसे—अवपदं—‘गिरने के लिए’ । नेत्तं—‘ने जानने के लिए’ । विचरितो—‘विचारण के लिए’ ।

६५. सप्तमी विभक्ति में केवल ‘तनि’ प्रत्ययान्त रूप ही निश्चयात्मक निगुद रूप है । जैसे—नेपणिं—‘ले जाने के लिए’ । धत्तं—‘देने के लिए’ ।

६६. कृत्यप्रत्यय—कृत्य-अर्थ में तवै, केन्, केन्प और तन् का प्रयोग होता है (तु० व० कृत्यार्थे तवैकेनेकेन्यत्तन.—शा०) । जैसे—द्विदृशेण्यः ।

॥ इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और पै ।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद के मूल कर्मप्रवचनीय निपात इतना, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये इस प्रकार हैं—

६८. द्वितीया के साथ—अति—‘परे’। अधि—‘ऊपर को’। अनु—‘पीछे’। अन्तर्—‘म’। अभि, आ उप, प्रति—‘की ओर’। परि—‘चारों ओर’। पुर—‘सामने’।

६९. पञ्चमी के साथ—अधि—‘ऊपर से’। अन्तर्—‘अन्दर म’। आ—‘दूर से, तत्र’। परि—‘(चारों) ओर से’।

७०. सप्तमी के साथ—अधि—‘ऊपर’। अन्तर्—‘अन्दर’। अपि, आ आर उप—‘समीप’।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१. नइ मार एक विभाक्त क स्थान पर दूसरा विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। जेय—चतुथा न अथ म पद्म, पथा न अथ म चतुथा आर सप्तमा क अथ म चतुथा। यवा—ध्रुवस्मे धत्त (११) म सप्तमा न लिए अस्मै म चतुथा का प्रयोग किया गया है।

७२. घर्णविकार—नइ पत्त म घणा म विकार पाया जाता है। जस—सुधस्थम् (१) [तु क मधमादस्थयोऽष्टन्गम् ।] गृभ्णामि। सम्भृतम् (२९)। [तु न --दृग्रहोर्भःष्टन्गम् । पा० ।]

७३. साहित्यिक दीर्घ—अनेक बार सादृता म स्वरों को लम्बा कर दिया जाता है। पत्पाठ म इन्हें ह्रस्व कर दिया जाता है। जैसे—ग्मां (११)। पूरूप (२४)।

७४. प्रत्ययों का प्रयोग—बहुत से प्रत्यय सादृता स्थलों में अन्यत्र भी हो जाते हैं। जैसे—अद्यायुररातीवा मृचयति। इस म अद्यायु म क्यच् आर उ प्रत्यय पड़ेछा में हुए हैं।

७५. व्यत्यय—शगिनि ने वैय्य भाषा क लौकिक सरुत से भर्ग का 'यययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है । इन वन का विस्तार इन का रका में दिया गया है—

मुप्—तिङ्—उपग्रह—लिङ्—नराणा

काल—हल्—अच्—स्वर—वर्त्त—यडाञ्च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रदृष्टा

सोऽपि च सिध्यति बाहुल्येन ॥

भार यह है कि वैय्य भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, किया क तिप् आदि प्रत्ययों आनने—परस्मै पदों, पुलिङ्ग, नपुमसलिंग और छालिङ्ग उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों, लृप् आदि लकारों, व्यञ्जनों, अ, आ आदि स्वरों उगत्त आदि स्वरों फारकों आर गगा क प्रयोगों में लौकिक भाषा क नियमों की उप गा पाइ जाती है ।



वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै रसाद्य	३८	य० ३१ । १७
एतावानस्य महिमा	२४	ऋ० १०।९०।३ य० ३१।३
चन्द्रमा मनसो जात	३४	ऋ० १०।९०।१३ य० ३१।१२
ततो विराडजायत	२६	य० ३१।५
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्	५	ऋ० १।१५४।५
त यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षन्	२८	ऋ० १०।९०।७, य० ३१।९
तस्मादश्वा अजायन्त	३१	ऋ० १०।९०।१०, य० ३१।८
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत	३०	ऋ० १०।९०।९ य० ३१।७
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत	२९	ऋ० १०।९०।८ य० ३१।६
तस्माद्विराडजायत	२६	ऋ० १०।९०।५
ता वा वास्तुन्युष्मसि गमध्वे	६	ऋ० १।१५४।६
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष	२५	ऋ० १०।९०।४ य० ३१।४
द्यावा धिदस्मे पृथिवी नमेत	१९	ऋ० २।१२।१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्ष	३५	ऋ० १०।९०।१४ य० ३१।१३
पुरुष पृवेद सर्व	२३	ऋ० १०।९०।१२ य० ३१।२
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तर	४०	य० ३१।१९
प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण	२	ऋ० १।१५४।२
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म	३	ऋ० १।१५४।३
माक्ष्णोऽस्य मुखमासीत्	३३	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।११
यज्ञेन यज्ञमयचन्त दवा	३७	ऋ० १०।९०।१६ य० ३१।१६
यत्पुरुष व्यदधु	३२	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।१०

मन्त्र	क्रमसंख्या	सञ्चेत
यत्पुरयेण ह्यिषा	२७	ऋ० १०।९०।६, य० ३१।१४
य प्रन्दर्मा मयती विह्वयेते	१४	ऋ० २।१२।८
य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋतेऽजिनयन्ते जनायो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५४।४
यस्याश्चाम प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा व्यवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्थान्	७	ऋ० २।१२।१
यो देवेभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रश्मस्य चोदिता य कृशस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणावसप्तमिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
य पृथिवीं व्यथमानामदहद्	८	ऋ० २।१२।२
य क्षम्वर पर्वतेषु क्षियन्तम्	१७	ऋ० २।१२।११
य क्षम्वतो महेनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
य सप्तरश्मिर्दृपमस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
य मुन्वते पचते दुध आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
य मुन्वन्तमवति य पञ्चन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुच ब्राह्म जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचम्	१	ऋ० १।१५४।१
वेद्राहमेत पुरष महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पन्थ्यावहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
यतास्यायन् परिधय	३६	ऋ० १०।९०।१५, य० ३१।१५
महस्रशीर्षा पुरष	२२	ऋ० १०।९०।१, य० ३१।१

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णां नुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

अरु.	१०।५	अमन्यमानान्	१६।५	आजानम्	३८।५
अक्षीयमाणा	४।३	अमृतम्	२४।४	आतन्धिरासा	१४।७
अगळे मन्त्र की		अपनाय	३९।४	आश्रु	१०।८
भूमिना	३२।१	अयाम्.	६।७	आश्रुर्दधि	२१।३
अग्निः	३४।६	अरम्णात्	८।२ (111)	आवे भाग से विश्व की	
अग्ने	४२।४	अरिणात्	९।२	रचना	२४।१
अच्युतच्युत्	१५।४	अर्यः	१०।९	आहुः	११।५
अजायय	३१।२	अर्यः पुष्टीः	११।६	हत्या	५।१०
अहत्, अग्ना		अरति	२०।६	इद दीर्घं प्रयत् सधस्यम्	
अलम्भात्	८।६	अश्मनोरन्तरग्निं			३।४
अद्रवः सम्भृतः		जजान	९।८	इन्द्र	७।१४
पृथिव्यै०	३८।१	अश्वासा	१३।७	इन्द्रः	३४।५
अध्वं गुहाक्	१०।४	अश्विनौ	४३।३	इमा विश्वा	१०।१
अनुददाति	१६।८	अमन्	४२।९	ईम्	११।४
अन्तरिक्षम्	३५।२	अस्कमायत्	१।८	उ	४।५
अपघा	९।६	अस्तुरत्	१८।७	उत त्व	२३।२
अपा नेता	१३।३	अस्य	५।२	उतामृतत्वस्येशानः	२३।३
अभि अग्न्याम्	५।५	अहिम्	९।१;	उत्तरम्	१।९
अभ्यसेताम्	७।१०		१७।५	उत्सः	५।१५

उदाजत्	९।९	गमचै	६।५	ता	६।१
उभयाः	१४।६	गमै अन्तः	४०।१	तान्	२९।६
उदक्रमस्य		गाः	९।४	तानि	३७।४
हि म्भुरित्या	५।९	गाः भूरिष्टङ्गा.	६।६	तुविष्मान्	१८।३
उरुगायः	१।१३	गिरिष्ठाः	२।५	त्रिः सप्त समिध.	३६।२
उरुगावाय	३।२	गौः	६।६ (ii)	त्रिधातु	६।६
उश्मसि	६।४	घोरम्	११।३	त्रिपात्	२५।१
ऊतो	२०।७	चक्षोः	३४।३	त्रिभिः पदेभि.	३।६
ऊरु	३२।७ (ii)	चत्वारिंश्या शरदि अन्व-		त्रिषु विक्रमणेषु	२।६
ऊरु	३३।४ (iV)	विन्दत्	१७।३	त्री, पूर्णा,	४।२
ऊर्ध्वं उदैत्	२५।२	चन्द्रमाः	३४।१	त्रेषा	१।१२
ऊर्ध्वः, सामानि,		चित्	१९।२	त्वष्टा	३८।३
ऊन्दासि, वलु	६०।२	च्यवना कृतानि	१०।२	त्वा	४२।६
एकः	१।५	जधान	१६।६३	दधानान्	१६।४
एत पुरुषम्	३९।१	जात एव	७।२	दद्याकृत्स्नम्	२२।५
एतावानस्य	२४।२	जिगीवान्	१०।७	दस्योः	१६।९
एनः	१६।३	तन्	२।२;	दाधार	४।७
एवम्	४२।१०		५।१;	दातुम्	१७।६
ओजायमानम्	१७।४		३८।४;	दास वर्णम्	१०।३
कतिधा	३२।५		४२।३;	द्विवि	२४।५
करीः	१२।५	तथा लोको अक्षत्यन्		दिशः	३५।७
कुचर	२।४		३५।८	दुधः	२१।१
कृतः	३३।२	तदस्य०	५।१६	देव देवान्	७।५
क्री	३२।८	तन्वानाः	३६।५	देवयवः	५।८
कनुना	७।६	तम्	२८।१	देवाः	२७।३
कन्दसी आदि	१४।१	तमत्	३९।३		२८।६
कन्दसी	१४।२	तस्मात्	२६।१		३६।६

दवा अमन् वशे	४२।७	देवेभ्यः	४१।१	द्याम्	८।१	द्याम् आरोहन्तम्	१८।९	द्यावा...पृथिवी	१९।१	द्यौः	३५।४	धर्माणि	३७।५	न ऋते	१५।१	न विजयन्ते		जनासः	१५।२	नमेते	१९।३	नमो रुचाय ब्राह्मणे	४१।३	नरः	५।६	नाकम्	३७।७	नाधमानस्य	१२।४	नाना हवेते	१४।८	नाथ्याः	३५।१		१९।७	नुम्	१।२	नुम्णस्य मह्ना	७।११	पचन्तम्	२०।३	पत्न्यौ	४३।१	पद् (पाद)	३२।७ (11)	पदे	५।१२	पद्मधाम्	३३।४;		३५।५	परमे	५।१३	परेऽवरे	१४।५	पर्यभूयत्	७।७	पर्वताः	१९।५	पर्वतेषु	१७।२	पशुम्	३६।६	पाथ	५।४	पादोऽस्येहाभवत्		पुनः	२५।३	पार्थिवानि	१।५	पार्श्वे	४३।२	पुरुषः	२२।८	पुरुष एव	२३।१	पुरुषम्	३२।३	पुरुष जातमग्रतः	२८।५	पुरोहितः	४१।२	पूरुषः	२४।३	पूर्वे साध्या देवा	३७।११	पृथदाज्यम्	२९।४	प्र	२।१	प्रथमः	७।३	प्रथमानि	३७।६	प्र वोचम्	१।४	प्राणात्	३४।७	प्रियम्	५।३	प्रोक्षन्	२८।४	बन्धुः	५।११	बर्हिषि	२८।३	बहुधा विजायते	४०।२		३२।७ (11)	बाहू	३३।४ (11)	ब्रह्म	२०।८	ब्रह्मणः	१२।३	ब्राह्मणः	४२।५	ब्राह्मम्	४२।१	भाव	१३।१	भाष्यकारो		का अर्थ	३१।१	भाष्यकारो के		विभिन्न भाग	२७।१	भुवनानि विश्वा	४।८	भूमिः	३५।६	भूमिम्	२२।३	भूमिम्	२६।५	मधुना	४।१	मध्वः	५।१४	मनसः	३४।२	मनस्वान्	७।४	मन्त्र का भाव	२०।१	मन्त्र की समस्या	३०।३	महि	१६।२	महिमान	३७।८	मह्ना	७।१२	मुख	३२।७ (11)	मुखम्	३२।७	मुखात्	३४।४	मुगा न		भीमः	२।३	यः	७।१	य इति	१२।१	यः मुन्वते	२१।५	यजुर्वेद के पाठ में		अर्थ में अन्तर न		होना	२९।१	यशम्	२७।४,
--------------	------	----------	------	--------	-----	------------------	------	-----------------	------	-------	------	---------	------	-------	------	------------	--	-------	------	-------	------	---------------------	------	-----	-----	-------	------	-----------	------	------------	------	---------	------	--	------	------	-----	----------------	------	---------	------	---------	------	-------------	-----------	-----	------	----------	-------	--	------	------	------	---------	------	-----------	-----	---------	------	----------	------	-------	------	-----	-----	-----------------	--	------	------	------------	-----	----------	------	--------	------	----------	------	---------	------	-----------------	------	----------	------	--------	------	--------------------	-------	------------	------	-----	-----	--------	-----	----------	------	-----------	-----	----------	------	---------	-----	-----------	------	--------	------	---------	------	---------------	------	--	-----------	------	-----------	--------	------	----------	------	-----------	------	-----------	------	-----	------	-----------	--	---------	------	--------------	--	-------------	------	----------------	-----	-------	------	--------	------	--------	------	-------	-----	-------	------	------	------	----------	-----	---------------	------	------------------	------	-----	------	--------	------	-------	------	-----	-----------	-------	------	--------	------	--------	--	------	-----	----	-----	-------	------	------------	------	---------------------	--	------------------	--	------	------	------	-------

यत्नात्	२९१८	त्रि, अन्धु	३२१४	अत् धत्	१११८
यजान्मरुत	३६४	त्रिचनमाण	११११	आत्रात्	३४१०
यजन	३७१३	त्रिज द्रव	२११७	शाष्ण	३५१३
यत्	२९१२	त्रिथम्	२११४	सचत्	३७१९
यजान्मरुत	३०१७	त्रिम	११६	म वनाम इन्द्र	७११३
यजन	३७१०		८१३	म नातो अश्वरिचन	२६१४
यत्	३२१२	मरातो अधि पुरुष	२६१३	सधस्थम्	१११०
यत्	५१७ ३७१०	द्विरात्	२६१२	मन परिषय	३६११
यधनाति रोहति	२६१४	वि वन्मण	३८१२	सतसाम	१८११
यत् भूत यद्य		वि वना वृत्वा	२७१४	सतसिधून्	९१३ १८१-
मन्त्रम्	२३१२	विश्वस्य प्रतिमानम्	१५१३	सयती	१४१३
यद्वैद्य	३३१३	मन्त्रा	२१७	सम्भावित अथ	२७१२
मुचप्राणा	१२१६	विष्णो	१११	समृतम्	२९१४
यो अस्वभावात्	११७	विध्वद्	२५१४	समान चिद्व्यमातरिवामा	
रघस्यचोदिता	१२१२	वीयाणि	११३		१४१७
राघ	२०१७०	वृषम्	१८१२	सनवे	१८१४
रात्रि	७१९	वृषो	३१३	सर्गदुत	२९१३
रा हणम्	१८१६	अथमानाम्	८२	सहस्रगीषा, सहस्रा	
वज्रगाह	१९१८	व्यातम्	४३१४	सहस्रपात्	२२११
वज्रहन्त	१९१०	समन्तम्	२०१४	सा या ऋषयश्च ये	१८७
वरीय	८४	मन्त्रम्	१७११	साशनानशने	२५१५
वर्षो की ठपवि	३२१७	सघत	१६१७	मुनमात्रस्य	१२१८
वलस्य	९१७	शवा	१६१६	मुनन्तम्	१०१०
वत्	४२१८	शशमानम्	२०१५	मात्रम्	१२७
वाङ्म	२११२	शशानम्	७१७	सात	१११२
गाम्	६१५	श्रीव विगीर्षो लज्जाम्		सोम	२०१९
वायु	३४१८		१०१६	सम्पत्	१९१६
वायवान्	२९१७	शवत	१६१७	समा	१७११
वाप्ति	६१३	गुप्तात्	७१८, १९१४	सधया	४१४
वि	३२१४ (१)	शूरम्	३११	हन्ता	१६१०
वि अस्वयन्	३२१८	श्रम	६१२ (१४)	दयत	१४१४

वेदस्तावण्यम्

सक्षेप निररण

+ जोड़ का चिह्न
= बराबर है, समान है
✓ धातु का द्योतक चिह्न
अकोसु०—अमरनाथ मुधागेर, मानु
जिगाक्षत, बम्बई १९२८
अवे—अथर्ववेद, अजमेर वैष्ण्व यन्त्रा
ल्य, २००१ वि
अन—अवैस्ता भाषा
आइओका—प्रोसाडिग्न ऑफ दा
आल शण्डया ओरियण्टल
कान्फस
आइओका० (स)—तमरीज ऑफ
पपज साब्मिडिन्दी आल
इण्डया ओरियण्टल
कान्फस
आप्टे का कोप—वी० एस० आण्ट
स्टूण्डस सङ्कृत-
दाग्लश टिक्शनरी,
दिताय सस्वरग

आश्व ग०—आश्वगयन शुद्धगूत्र
उ०—पचपायुगात्र, सभाष्य, दयानन्
सरस्वती न० १९८९
ऋ —ऋग्वेद—सातवल्कर द्वारा
सम्पादित मूल संहिता
ऋभाभू०—ऋग्वेदा भाष्यभूमिका
दयानन् सरस्वती आर्ष
साहित्य मण्डल अजमेर
१९०१ वि०
ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल बम्बई
एया०—ऐतिमालाजीज आफ वारन,
डा० सिद्धेश्वर वमा
कठोप०—कठोपनिषद्
का० य —काण्व यजुर्वेद संहिता, प
सातवल्कर द्वारा संपादित
का० श्री०—कात्यायन श्रात सूत्र
कास०—काटनसंहिता, स्वापाय
मण्डल, पाटली
को०—कापीताकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता
 गो०—गोपय ब्राह्मण
 ग्रा० ग्रास०—ग्रासमैत्र
 छाउ०—छानेगोपनिषद्
 जैउ० जैउत्रा०—जेमिनीय उपनिषद्
 ब्राह्मण
 तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण
 तु० कं०—तुलना करो
 तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
 तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्या-
 यमण्डल, पाठटी
 दशाउ०—दशपाद्युगादि वृत्ति पं०
 युधिष्ठिर भीमासक द्वारा
 सम्पादित
 दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और
 उन का ऋग्वेद भाष्य,
 ९ भाग, अन्नमेर
 नपुं०—नपुंसक लिंग
 नि०—निश्च, डा० लक्ष्मण दत्तरूप
 द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७
 निघं०—निघण्टु—दयानन्द सरस्वती
 स्वामी द्वारा सम्पादित,
 अन्नमेर, १९८९ वि०

नेवैशा०—नेचर और वैदिक शास्त्र
 एस० के० गुप्त
 पं० उ०; पपाउ०—पञ्चपाद्युगादिसूत्र,
 स्वामी दयानन्द
 सरस्वती द्वारा
 सम्पादित
 पा०—पणिनिमुनि रचित अष्टाध्यायी
 और उस की काशिकावृत्ति,
 बनारस
 पाउ०—पारस्करीयोपनयन सूत्रों का
 प्रस्तुत संस्करण
 पादि०—पादाटपशा
 पा० भे०—पाठभेद
 पीटर्सन—हिन्ज और दी ऋग्वेद
 प्रथम भाग
 पु०—पुरुष, पुलिग
 पृ०—पृष्ठ
 प्र०—प्रथम पुरुष
 वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र
 वृउप०—बृहदारण्यकोपनिषद्
 भायो०—भारत-यूरोपीय काल्पनिक
 भाषा का कल्पित पद
 मनु०—मनुस्मृति, बम्बई

मन्त्रसं, मन्त्र — इस संस्करण में
महात क्रमगत
आर य० ११ क
मन्त्रों की माह और
न गन् आरक
क्रमसं संग्रह ।
प्रमाणों में
मन्त्रों के आर
प्रमाणों की मन्त्रों
है ।

महा — महापर, यज्ञों में
मु० उ — मुण्डकोपनिषद्
मेघ — भगवद् महापर कुमार गुप्त
द्वारा सम्पादित तामरा
संस्करण ।

म० — भगवद्, ए० ए० आरकनका
वैष्णव शीर्ष

ममू — मैक्स मूलर

य — यज्ञों में माहता अन्तर १९९९
व०

यभा, य भा य भाष्य —
यज्ञों में भाष्य रामा नान्त
मन्त्रों का ४ भाग, अन्तर

य — वचन

यि — नान्तमा

यिनी — मन्त्रमान्य मन्त्रान्त-नान्त
यज्ञ, भगवद्-नान्त
विकानता १८९९

य भा — यज्ञभाष्य

यभाषा — मन्त्र कुमार गुप्त, य
भाष्यभाष्य को नान्त
मन्त्रों का दन

यभा — यज्ञ भाष्य

यह — यज्ञ इष्टम्, य भाग,
मैक्समूलर आर यज्ञ

यैग — यज्ञ वैष्णव ऐगमालाजी, य०
पतह सिंह

यको — यज्ञ काय हसन ।

यैगम — यज्ञ ग्रामर फार स्टुडन्ट्स
मन्त्रों का, ए० ए० ।

यैरा — भगवद्, ए० ए०, वैष्णव गन्त्र

यैमा — यज्ञ साह २, यज्ञ शास्त्र
नान्त, नान्त

य — गतयज्ञ ब्राह्मण का भाग नान्त

यज्ञौता — यज्ञ मन्त्रों का

यै य — यज्ञ अन्तराधान

सप्त०—उत्पाथ प्रकाश, कलकत्ता,

स० १९८१

स०—संस्कृत

सच०—उत्पाथचन्द्रिका आत्माराम,
पटना

संप०—दयानन्दभाष्या म संस्कृत
पदार्थ

संवि०—सत्तारविधि. स्वा० दयानन्द
सरस्वती, अजमेर

संज्ञकौ०—संस्कृतस्य शब्दार्थं नीत्तुम
श्रीप, द्वारनामसाद
शर्मा चतुर्वेदी, इलाहा

बाद १९१७

सा०—वागमार्थ (ऋग्वेद), पूना
४ भाग ।

सा० ला०—माइचन्जिग लाइटर

सिक्कौ—सिद्धान्त कीमुनी, बाल-
भनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—मुधीर कुमार गुप्ता, ए
क्रिष्णल रूढ़ी श्रीक
दा कम्मैण्णरी श्रीन दी
ऋग्वेद माइ स्वामी दयानन्द

सूत्र०—इस सम्बन्ध म सम्पादित
पास्तर्गरीयोनायन सूत्रों की
क्रमिक सरलता और उन पर
स्पष्टिमा

खी०—खीलिग

दि०—हिन्दी अनुवाद

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए. पीएच डी., शास्त्री, प्रभाकर
संस्कृत-साहित्य का सुबोध इतिहास



यह लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक, नई रसों के सार से विभूषित, कीर्ति आदि के इतिहासों के समान मौलिक, उच्चस्तरीय, सर्वाङ्गपूर्ण, सुन्दर और शुद्ध छद्म हुआ तथा कालिदास की विधि आदि अनेकों ऐतिहासिक समस्याओं पर नया प्रकाश डालने वाला एकमात्र संस्करण है। यह विचारियों के लिए पाठ्य और सहायक पुस्तक, विद्वानों और अलोचकों के लिये विचारों की उद्बोधक और सग्रहणीय, सर्वसाधारण के लिए ज्ञानवर्धक तथा रोचक, पारितोषिक और भेंट के उपयुक्त तथा पुस्तकालयों की शोभा है।
दूसरा संस्करण कर्गलबद्ध ४॥॥ वषट्पद्ध ५॥॥

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, गोरखपुर (उ०प्र०)

संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी

(वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, मेघदूत और उस की वैदिक पृष्ठभूमि, दशकुमारचरित, शुक्नासोपदेश, गन्धपारिजातविवरण, संस्कृत व्याकरण, अर्थव्यञ्जकताचित्र, नेचर और वैदिक शास्त्राज और ऋग्वेद का धर्म, पास्कुर गृह्यसूत्ररूप उपनयन सूत्र और वैदिक सूत्रसंग्रह आदि के प्रख्यात, मौलिक और ससार लेखक तथा सम्पादक)

डा० सुधीर कुमार गुप्त एक प्रसिद्ध और अनुभवो विद्वान् हैं। आप की लेखनी में शक्ति है, भाषा में श्रृंखला और बल है। विषयवर्णन में गाम्भीर्य सरलता, स्पष्टता, विशदता और नई दृष्टि है। आप की शैली युक्तियुक्त और प्रवाहशील है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के विकास का एक सुगम, सश्लिष्ट अनति सक्षिप्त और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। इस का पहला संस्करण १९५१ में रोहतक से एक सहायक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। उस में लगभग १६० पृष्ठ थे। अध्यापकों ने उस की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। विद्यार्थियों में यह इतना प्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही यह संस्करण समाप्त हो गया।

अब यह दूसरा संस्करण नई संशोधन के साथ प्रकाशित किया गया है। इस में ग्रन्थ की काया ही पलट गई है। इस का आकार पहले से कई गुना बढ़ गया है। इस में कुल ६१० पृष्ठ हैं।

इस संस्करण में अनेकानेके विषय सम्मिलित कर दिये गए हैं। पहले से विद्यमान विषयों में आवश्यक परिवर्तन और सशोधन भी कर दिये गये हैं, यथा नाटककार और काव्यकार कालिदास के पृथक् पृथक् व्यक्तित्व का सम्पादन

और उन की तिथि, उपमा कालिदासस्य, मास और शूद्रक की तिथि और व्यक्तित्व तथा नाटक की उत्पत्ति के बादों के स्थल ।

इस संस्करण में कवियों के गुण दोषों के साथ उन के ग्रंथों के नार और अन्य कवियों से तुलना भी दिए गए हैं । पाठटिप्पणियों में B A B A Hons, M A, I C S, I A S, P C S. आदि परीक्षाओं से प्रत्येक विषय से सम्बंधित प्रश्न संगृहीत किए गये हैं । इस से पुस्तक पाठ्यपुस्तक हात हुए सहायक पुस्तक का भी काम करता है ।

इस प्रकार इस पुस्तक का क्षेत्र विस्तृत हो जाने और स्तर के उँचा हो जाने से यह न केवल समस्त विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं और प्रतियोगा परीक्षाओं के लिए परम उपयुक्त है, प्रयुक्त समस्त संस्कृत, हिंदी और भारतीय इतिहास के पद्वानों, समालोचकों भारतीय साहित्य सवियों और जनसाधारण के लिए पठनीय है ।

आगे दी हुई विषय-सूचा से ग्रंथ के स्तर और क्षेत्र का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है ।

विषय-सूची

१. विषयप्रवेश

१—२९

वैदिकसाहित्य का सिंहावलोकन—१ संस्कृत गोलचाल की भाषा—४ संस्कृत साहित्य के अध्ययन का महत्त्व—७ आधुनिक काल में संस्कृताध्ययन का पुनरुद्धार—१० लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत का विशेषताएँ—१६, संस्कृत पाली, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाएँ—१६ भारतीय लिपि का प्रादुर्भाव और विकास—२३, संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक भावना का अभाव—२५ दातहासनिर्माण के साधन—२७ ।

२. वीरकाव्य—रामायण, महाभारत और पुराण

३०—८४

वीरकाव्य की उत्पत्ति और विकास—३० रामायण का कर्तृत्व—३२ शाखाएँ और विस्तार—३३, रामायण के दो भाग—३४, रामायण

हामर काव्यों का अनुकरण—३५, रामायण की तिथि—३६, रामायण की रचना का उद्देश्य और विषय—३८, रामायण का महत्त्व—४०, रानक रमणाय शैली और गुण—४२, महाभारत का कर्तृत्व—४४, महाभारत का विषय—४६, महाभारत के विषयों की उत्पत्ति और विस्तार—४८, महाभारत में प्रवेश—५१, महाभारत का रचनाकाल—५२, महाभारत का महत्त्व—५४, भगवद्गीता—५८, रामायण और महाभारत की तुलना—५९, रामायण और महाभारत के सार—६१, पुराणों का सामान्य परिचय—६१, पुराणों का विशेष अध्ययन—पुराणों का लक्षण—६३, पुराणों का विषय और उन का विकास—६४, पुराणों के नाम और उन के विषयों के सार—६६, उपपुराण—६६, पुराणों का कर्तृत्व—७०, पुराण मूलतः सत्रों की परम्परा नहीं है—७३, पुराणों का रचना काल—७४, साहित्य में पुराणों का उल्लेख—७६, आख्यानों की सत्ता—७६, पुराणों में शुद्ध धार्मिक संहिता का अभाव—७७, पुराणों की निचली सामा—७८, पुराणों का महत्त्व—८० ।

३ महाकाव्य—अ० कालिदास के पूर्ववर्ती कवि १अ—२२अ

कालिदास में पूर्ण काव्यशैली की सम्पन्नता—१अ, संस्कृत काव्यशैली की उत्पत्ति और विकास—५अ, संस्कृतकाव्य की विशेषताएँ—८अ, पाणिनि—११अ, वररुचि—१२अ, अश्वघोष का जीवन और काल—१३अ, अश्वघोष की कृतियाँ—१४अ, अश्वघोष का कवित्व—१६अ, अश्वघोष की कृतियाँ की उपलब्धि का महत्त्व—१६अ, अश्वघोष और कालिदास की तुलना—२०अ, मातृचेष्ट—२२अ ।

४. महाकाव्य [चालू]—आ० कालिदास और उन के ग्रन्थ २३अ—६५अ

कालिदास की तिथि—२३अ, कालिदास का जीवन—२६अ, जन्मस्थान—३०अ, व्यक्तित्व—३१अ, कालिदास की कृतियाँ—३२अ,

नृतुसहार—३४ अ, मधदूत—३६ अ, कुमारसम्भव—३८ अ, रघुवश
—४१ अ, कालिदासक विशेषगुण—४६ अ, अलंकारों का प्रयोग—४८ अ,
उपमा कालिदासस्य—४९ अ, अन्य अलंकार—५२ अ, अर्थान्तरन्यास
को छटा—५२ अ, श्लेष—५३ अ, छंदों का प्रयोग—५३ अ, वर्णन-
शक्ति—५३ अ दोष—५४ अ, दूतकाव्यों की परम्परा—५४ अ, मेघदूत
क अनुकरण—५५ अ, कालिदास का प्रकृतिवर्णन—५७ अ, कालिदास
के काव्यों में जड़न आदर्श—६० अ, वैदर्भा रीति क मुख्य गुण—६५ अ ।

५ महाकाव्य [उपरुहार]—३० कालिदास के उत्तरकालीन कवि
६६ अ—११३ अ

प्ररसेन—६६ अ मेण्ड या भट्ट मेण्ड—६६ अ रावणार्जुनीय या
आनुनरावणाय—६७ अ भारवि—तिथि—६७ अ गुण दोष—६८ अ
किरानार्जुनीय का कथा और उस का स्तोत्र—७० अ भारवि में कृत्रिमता
—७३ अ, भारवि का व्याकरण का प्रयोग—७४ अ भारवि का अर्थगौरव
और व्यावहारिक ज्ञान—७६ अ भट्टि—७६ अ, कुमारदास—८० अ,
माघ—तिथि—८२ अ, शिशुपालवध की कथा और उस का स्तोत्र
—८३ अ मूलकथा में परिवर्तन—८५ अ माघ के गुण दोष और
शैली—८६ अ, भारवि और माघ की तुलना—८८ अ, कालिदास, भारवि,
माघ और श्रीहर्ष की तुलना—९० अ हरविजय—९० अ, कवि
रहस्य—९३ अ, जेमद्र—९३ अ, कप्पणाम्बुदय—९४ अ, मख—९४ अ,
श्रीहर्ष की तिथि—९४ अ, श्रीहर्ष की कृतियाँ—९८ अ, नैषधचरित और
उस की कथा—९८ अ, नैषधचरित की पूर्णता—९९ अ, मूलकथा में
परिवर्तन—१०० अ, श्रीहर्ष का महत्त्व—१०० अ, संस्कृत महाकाव्यों की
परम्परा में श्रीहर्ष का स्थान—१०३ अ, शिल्प या द्रव्यर्थक काव्य—१०६ अ,
जैन कवियों की देन—१०८ अ, हरिचन्द्र—११० अ, संस्कृतकाव्यों में
उत्तरोत्तर कृत्रिमता और अधनत रुचि—११० अ ।

६. ऐतिहासिक काव्य

११४ अ—१२८ अ

ऐतिहासिक काव्य की उत्पत्ति और विकास—११४ अ, प्राकृत म
 ऐतिहासिक काव्य—११७ अ, गउडवद्दी—११७ अ, संस्कृत के ऐतिहासिक
 काव्य—११८ अ, हर्षचरित—११८ अ, नयसाहसचरित—११९ अ,
 विक्रमादित्यचरित—११९ अ, राजतरंगिणी—१२० अ, राजतरंगिणी का
 ऐतिहासिक महत्त्व—१२२ अ, संस्कृत कवियों की तिथि के निर्णय में गण
 का महत्त्व—१२५ अ, अप्रधान ऐतिहासिक काव्य—१२६ अ ।

७ गद्यकाव्य और चम्पू

१२९ अ—१८१ अ

गद्य की उत्पत्ति और विकास १२९ अ, गद्यकाव्यशैली का विकास
 दार्ष्टिकालीन—१३४ अ, यूनानी प्रभाव १३५ अ, महाकाव्य की विशेषतायें
 —१३६ अ, गद्यकाव्य के भेद—रूपा और आख्यायिका—१३७ अ,
 गद्यकाव्यों की विरलता के कारण—१३९ अ, संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास
 की रूपरेखा—१४० अ, गद्यकाव्यों का विस्तृत अध्ययन—मुग्धु—१४२ अ,
 वासवदत्ता की कथावस्तु और उस का आधार—१४४ अ, कथा का आधार
 —१४५ अ, गण—जीवन—१४५ अ, गण का रचनाकाल—१४७ अ,
 कादम्बरी की कथा—१५१ अ, कथा का मूल स्रोत—१५४ अ, गण की
 व्यावहारिक बुद्धि और परिदृश्य—१५४ अ, गण का प्रकृतिनिरीक्षण—
 १५७ अ, दण्डि—व्यक्तित्व—१५९ अ, तिथि—१६० अ, कृतिया—
 १६१ अ, दशकुमारचरित—१६२ अ, गुण और दोष—१६२ अ,
 शैली—१६३ अ, दशकुमारचरित की कथावस्तु—१६५ अ, दशकुमारचरित
 की कथावस्तु का स्रोत—१६७ अ, गण और दण्डी की तुलना—१६८ अ,
 विद्वत्काल का गद्यकाव्य—१७० अ, शीलभट्टारिका—१७० अ, धनपाल
 —१७० अ, उदयसुन्दरीकथा—१७१ अ, गद्यचिन्तामणि—१७२ अ,
 वेमभूपालचरित—१७२ अ, आधुनिक गद्यकाव्य—शिवगणेशचरित—१७३ अ,
 निमधलेखन—१७३ अ, दयानन्द सरस्वती—१७४ अ, भीमसेन—१७८ अ,

हृषीकेश भट्टाचार्य—१७४ अ, अन्य निबन्धलेखक—१७५ अ, चम्पूकाव्य की उत्पत्ति और विकास—१७५ अ, चम्पूकाव्य की विशेषतायें—१७७ अ, नलचम्पू—१७७ अ, यशस्तिलकचम्पू—१७८ अ; जीवन्धरचम्पू—१७९ अ, रामायणचम्पू—१७९ अ, भारतचम्पू—१७९ अ, वरदामिकापरिणय चम्पू—१८० अ, पौराणिक चम्पू—१८० अ, विश्वगुणादर्श चम्पू—१८० अ, सग्यदायों के विवेचक चम्पू—१८१ अ, स्वाहासुधाकर चम्पू—१८१ अ, आधुनिक काल के चम्पू—१८१ अ ।

८. औपदेशिक जन्तुकथायें (नीतिकथायें) और लोकप्रिय कथायें

१८० अ—१९६ अ

भारत में जन्तुकथाओं की उत्पत्ति और विकास—१८२ अ, उत्पत्ति—१८२ अ, विकास—१८४ अ, औपदेशिक जन्तुकथाओं की विशेषतायें—१८५ अ, औपदेशिक जन्तुकथाओं और लोकप्रिय कथाओं में भेद—१८७ अ, जन्तुकथाओं का सक्षिप्त विवरण—१८९ अ, पंचतन्त्र—१८९ अ, पंचतन्त्र का लेखक—१९० अ, पंचतन्त्र का रचनाकाल—१९० अ, पंचतन्त्र का विषय—१९१ अ, बौद्ध ग्रन्थ नहीं है—१९१ अ, कथा १९२ अ, पंचतन्त्र की शैली और गुणदोष—१९४ अ, पंचतन्त्र की शाखायें—१९५ अ, तन्त्राख्यायिका—१९६ अ, सरल ग्रन्थ (The Textus Simplicior) १९६ अ, पूर्णभद्र का निष्पादित संस्करण—१९६ अ, दक्षिणी पंचतन्त्र—१९७ अ, नेपाली पंचतन्त्र—१९७ अ, रितोपदेश—१९७ अ; पहलवी रूपान्तर और उस पर आश्रित अन्य पार्श्वत्य भाषाओं के रूपान्तर—१९९ अ, भारतीय भाषाओं में अनुवाद—१९९ अ, गुणाढ्य की बृहत्कथा और उस का साहित्य—२०० अ, तिथि—२०० अ, व्यक्तित्व—२०२ अ, स्थान—२०३ अ, ग्रन्थ का रूप—२०४ अ, बृहत्कथा के विषय और उन का आधार—२०४ अ, महत्त्व और गुण—२०५ अ, बुद्धस्वामी का बृहत्कथा श्लोकसमग्र—२०५ अ, काश्मीरी बृहत्कथा—२०६ अ, बृहत्कथामञ्जरी—

०७ अ, जमासरिसागर—०८ अ, साहित्यिक प्रणय कथायें—२१० अ, मतालपत्रविश्लेषिका—२११ अ, कथा—२११ अ, शुकसप्तति—२१२ अ, कथा—२१२ अ, सिंहासनद्वात्रिंशिका—०१२ अ, सामान्य कथायें—२१३ अ, शिक्षाप्रद या नाति कथायें—२१४ अ, परिशिष्टपर्यन्त—२१४ अ, उपमिति भवप्रपञ्चकथा—२१४ अ, औपदेशक चतुर्कथाओं का पश्चिम पर प्रभाव—२१५ अ, पञ्चतन्त्र क पश्चिमी रूपान्तर—२१८ अ, शुकसप्तति क अनुवाद २१६ अ, अनुवादों में आख्यानो में हेरफेर—२१९ अ ।

६ मुक्तक और सूक्ति लेखक

२२० अ—२६६ अ

संस्कृतमुक्तककाव्य का विशेषतायें—२२० अ, संस्कृतमुक्तक काव्य की उत्पत्ति और विकास—२२२ अ, मुक्तककवियों का विशिष्ट अध्ययन—२२८ अ, भर्तृहरि—२२८ अ, अमरु—२२४ अ, तिथि—२३४ अ, रचना का उद्देश्य—२३५ अ, विशेषतायें—२३५ अ, मिहिरा—२३७ अ, जयदेव की तिथि—२३८ अ, गातगाविन्द का विशेषतायें—२४६ अ, गातगोविन्द का लारुप्रियता और रसाति—२४२ अ, गीतगोविन्द का अप्रभ श मूल—२४३ अ, शृ गारिक मुक्तककाव्य—२४३ अ, शृ गारतिलक—२४४ अ, घटकर्पूरकाव्य—२४६ अ, मयूरशतक—२४७ अ, आर्यासप्तशती—२४७ अ, सुभाषितसंग्रहों में उपलब्ध शृ गार मुक्तक पद्य—२४८ अ, स्तोत्र और धार्मिक मुक्तक काव्य—२४६ अ, चण्डाशतक—२५० अ, सूर्यशतक २५१ अ, मातंग दिवाकर—२५१ अ, सूक्ति या सुभाषित संग्रह—२५४ अ, प्राकृत मुक्तककाव्य—२५६ अ, हाल की गाथासप्तशती—२५६ अ, तिथि—२५६ अ, स्वरूप—२५७ अ, विषय—२५७ अ, शैली आदि—२५७ अ, अन्य काव्य—२५८ अ, नीति मुक्तक काव्य—२५८ अ, प्रमोदक काव्य—२६४ अ ।

१० संस्कृत नाटक की उत्पत्ति, विकास और विशेषताएँ

२६७ अ—३०४ अ

उत्पत्ति और विकास—विहगम दृष्टि—२६७ अ, उत्पत्ति—२६७ अ, भारतीय नाटक का विकास क्रम—२६६ अ, विशेष अध्ययन—भरत

नाट्यशास्त्र का मत—२६६ अ, नाटक की उत्पत्ति में धार्मिक क्रियाओं और कुशीलवों का योग—२७२ अ, वीरकाव्यों का योग—२७४ अ, नाटकों की सत्ता पर वैयाकरणों की साक्षी—२७६ अ, पतञ्जलि की साक्षी—२७७ अ, नाटक की उत्पत्ति धार्मिक या लौकिक—धार्मिक—२८० अ, लौकिक—२८५ अ, संस्कृत नाटक का मूल प्राकृत नाटक—२८६ अ, संस्कृत नाटक पर यूनानी प्रभाव—२९० अ, संस्कृत नाटक पर शकों का प्रभाव—२९६ अ, संस्कृत नाटक की विशेषताएँ—२९८ अ, नाटका में संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग—३०३ अ ।

११ संस्कृत नाटक का विकास—भास, शूद्रक और कालिदास
३०५ अ—३७१ अ

ट्रिवण्ड्रम नाटकों का कर्तृत्व (भास की समस्या)—३०५ अ, भास की तिथि—३०६ अ, कृतिया—३११ अ, भास की नाट्यकला—३१२ अ, भास की शैली—३१४ अ, रूपकों की भाषाएँ—३१६ अ, छन्द—३१७ अ, पिछले कवियों पर प्रभाव—३१७ अ, भास के नाटकों की कथाएँ—३१९ अ, भास की अन्य रचनाएँ—३३० अ, शूद्रक के पूर्ववर्ती नाटककार—३३१ अ, शूद्रक—३३१ अ, मृच्छकटिक—३३२ अ, कथानक की मौलिकता—३३५ अ, मृच्छकटिक का कर्तृत्व—३३६ अ तिथि—३३८ अ, शूद्रक का चरित्रचित्रण—३३६ अ, मृच्छकटिक की शैली—३४१ अ, मृच्छकटिक की प्राकृति—३४२ अ, चारुदत्त और मृच्छकटिक का सम्बन्ध—३४४ अ, नाटककार कालिदास—३४७ अ, नाटकों के कथासार—मालविकाग्निमित्रम्—३४८ अ, विक्रमोर्वशीयम्—३४९ अ, आभयानशाकुन्तल—३५० अ, कालिदास के नाटकों की प्रमाणिकता और शाखाएँ—३५१ अ, कालिदास की नाट्यकला—३५३ अ, कालिदास के दोष—३५७ अ, कालिदास का चरित्रचित्रण—३५८ अ, कालिदास की शैली—३६० अ, उपमा कालिदासस्य—३६२ अ, वर्णनशक्ति—३६६ अ, कालिदास का संदेश—३६८ अ, भाषा और छन्द—३७० अ ।

१२. नाटकों का विकास (चालू)—कालिदास के परवर्ती नाटककार
३७२ अ—४५६ अ

अश्वघोष के नाटक—३७२ अ, शारिपुत्रप्रकरण—३७२ अ, लाक्षणिक और गणिका नाटक—३७४ अ, अश्वघोष के नाटकों की भाषा—३७५ अ, अश्वघोष के नाटकों का छन्द—३७६ अ, चंद्र या चन्द्रक—३७६ अ, हर्ष—३७८ अ, हर्ष के नाटकों का वर्तृत्व और तिथि—३८० अ, हर्ष के नाटकों की कथाएँ—३८३ अ, रत्नावली—३८३ अ, प्रियदर्शिका—३८४ अ, नागानन्द—३८६ अ, हर्ष चतुर अनुकर्त्ता—३८८ अ, महेंद्र विक्रम वर्मा का मत्तनिलास—३८९ अ, भवभूति—साम्प्रत्यक्ष अध्ययन—तिथि—३९० अ, कृतिया और नाट्यकला—३९० अ, गुण दोष और शैली—३९३ अ, जीवन का यथार्थ चित्र—३९४ अ, पात्रों के अनुरूप मायण—३९४ अ, भावप्रकाशन की शक्ति—३९४ अ, भवभूति का भाषा और छन्द—३९७ अ, भवभूति—विशेष अध्ययन—शक्तित्व—३९७ अ, भवभूति के नाटकों की कथाएँ—३९९ अ, महावीरचरित—३९९ अ, मालतीमाधव—४०१ अ, उत्तररामचरित—४०४ अ, भवभूति का चरित्रचित्रण—४०६ अ, विदूषक का अभाव—४०७ अ, भवभूति का आलाचकों के प्रति भाव—४०८ अ, नाटक का आदर्श—४०९ अ, प्रेम का आदर्श—४०९ अ, प्रकृतिचित्रण—४१० अ, कदम्ब रस का चित्रण—४१२ अ, कालिदास और भवभूति की तुलना—साम्प्रत्यक्ष—४१५ अ, वैष्णव—४१७ अ, प्रकृतिचित्रण—४१७ अ, प्रेम का आदर्श—४१७ अ, उपमाएँ—४१८ अ, रस—४१८ अ, चरित्रचित्रण—४१८ अ, शैली—४१९ अ, निशाचरित—४१९ अ, रचनाएँ—४२२ अ, मुद्राराक्षस की कथा—४२२ अ, शैली और गुणदोष—४२६ अ, कौमुदीमहोत्सव—४२९ अ, शक्तिभद्र—८३० अ, हनुमत्नाटक—४३० अ, भट्टनारायण—४३१ अ, वेणोमहार—४३२ अ, कथा—४३२ अ, नाटकीय कला—गुण और दोष—४३५ अ, मुरारि—४३८ अ, अनर्घराघव—४३८ अ, राजशेखर—४३९ अ, रचनाएँ—४४० अ, चैमोहर—४४२ अ,

प्रसन्नराघव—४४३ अ, गुणदोष—४४५ अ, कृष्णमिश्र—४४६ अ, प्रमोद
चन्द्रोदय—४४६ अ, लाक्षणिक या अप्रस्तुतप्रशंसात्मक रूपक—४४६ अ,
कुन्दमाला—४५१ अ, शैलो—४५२ अ, कुन्दमाला का कथासार—४५२ अ,
कुछ अन्य अप्रमुख नाटककार—शिवस्वामी—४५४ अ, अनगहर्ष भावराज
—४५४ अ, यशोवर्मन—४५५ अ, मयूरराज ४५५ अ, अन्य नाटक—
४५५ अ ।

१३. भारत और पश्चिम का सम्बन्ध और आदान-प्रदान

४५७ अ—४६४ अ

भारत का पश्चिम से प्राचीनकाल में सम्बन्ध—४५७ अ, भारत और
पश्चिम का पारस्परिक आदान प्रदान—४६० अ, वीरकाव्य और नाटक—
४६० अ, कृष्णपूजा पर ईसाई प्रभाव—४६० अ, दर्शन—४६२ अ,
विज्ञान—४६३ अ, रसायनशास्त्र—४६४ अ, ज्योतिष—४६४ अ, खेल—
४६४ अ, शिल्प और कला—४६४ अ ।

परिशिष्ट

१ कुछ ग्रन्थों के कथासार जो मूल में नहीं दिये गए हैं

१ इ—४ इ

सौन्दरनन्द—१ इ, बुद्धचरित—२ इ,

२ परमसमग्र १—१०७

४ इ—४३-इ

डा० सुधीर कुमार गुप्त की अन्य रचनाएं—

१ दशकुमारचरिते प्रथमोऽद्वातः	२०)
२ दशकुमारचरितम् (पू० पी० १-३, ३० पी०) :	३१)
३ शुक्नासोपदेशः	२॥)
४ Nature of Vedic Shakhas	1/8/-
५ <i>Authorship of Some of the Hymns of the Rigveda</i>	1/8/
६ वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन का सार	२॥)
७ ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख विस्तृत सूची पत्र मगोप ।	३॥॥)

सूचना—डाक द्वारा मन्दिर में मगाई हुई स्वप्रकाशित सभी पुस्तकें नापसन्द होने पर पहुच की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिष्ट्री द्वारा विक्रीय योग्य टफ्फाली अवस्था में लौटाने पर माहक को उस से लिया हुआ मूल्य मात्र मनी आर्डर से लौटा दिया जायगा ।

भारती मंदिर, अनुसन्धान शाला,
४ हीरापुरी गोरखपुर ।

भारत प्रेस, गोरखपुर ।

छ आता भारती मन्दिर पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प
 सुवीर कुमार गुप्त, एम० ए०, शास्त्री, प्रभाकर, एम० डी० एच०,
 मेघदूत का वैदिक पृष्ठ भूमि और उमका
 सांस्कृतिक सन्देश



यह लेख विद्वान लेखक न अखिल भारतीय प्राच्य महा-सम्मेलन के अहमदाबाद अधिवेशन में पढ़ा था। इसमें लेखक ने अपने मेघदूत के द्वितीय संस्करण में व्याख्यात पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल का शृङ्खलाबद्ध विस्तार कर उनसे प्राप्त सन्देश को व्यक्त किया है। साथ ही अनेकों शब्दों के विश्लेषण से यह दिखाया है कि कालिदास की व्यञ्जना का समझने के लिये योगिक वैदिक व्याख्यान शैली का ज्ञान आवश्यक है।

व्याख्यात कथाएँ—रुद्रदेव, बलराम का मूतपथ और सारम्भत जलो का सेवन, त्रिपुरविजय, क्रौञ्चभेदन, देवताओं की योवनावस्था, देवता और अप्सराएं, शिव और कुंभर का मैत्री।

व्याख्यातपद—यज्ञ मघोन, कामरूपम्, पयोद, श्रद्धाना, अतिथि, स्वाणाम् मविनु, सुरपति, ताये, पादान, जल, अनिल भर्तु ।

परिशिष्ट—१ लक्ष में आए मरुत के श्लोक और मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद। २ बिह्व विवरण

प्रकाशक—

भारती मन्दिर, नई दिल्ली, सुरजा (३० प्र०)

पुस्तक निर्रेता, विज्ञापक और प्रापक

लेखक की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—

१ मयदूत—द्वितीय मस्कण। इस में विस्तृत भूमिका मूलपाठ मल्लिनाथ की सस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाक, निष्पत्तियाँ परिशिष्ट आदि हैं। लगभग सभी पौराणिक कथाओं के बहिर्बल को उजागर किया है। अनुक्रम कृति। सुन्दर छपाई और कागज। मूल्य ५८/

२ सक्षिप्त दशमसुक्तचरित—पुनर्पीठिका के प्रथम तान —द्वयमा और तत् पीठिका का शाब्दिक हिन्दी अनुवाक और विस्तृत भूमिका सहित उत्तम और प्रामाणिक सम्पादन कागज २० X २०/३६ मजिस्ट ३४ ग्रजित ० १०

३ विश्रुतचरित—मूलपाठ मस्कण टीका हिन्दी अनुवाक निष्पत्तियाँ और परिशिष्ट में विभूषित। मूल्य १/४/

४ अर्थ यन्त्रताचित्र—चित्र रूप में अर्थ-यन्त्रना का स्पष्टीकरण ४

5 Nature of Vedic shakhas and Authorship of the Phonetic Sutas edited by Dayananda Sarasvati /12/

भारती मन्दिर, नई बस्ती गुरुजा (६० प्र०)
पुस्तक विज्ञापक, प्रापक प्रकाशक और विक्रेता

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए पीएच डी शास्त्री, प्रभाकर

शुकनासोपदेशः



डा० सुधीर कुमार गुप्त मधूत, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, दशकुमारचरित, वदभाष्यपद्धति को दयानन्द मरस्वती की देन, ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख नेचर ओर वैदिक शास्त्राज आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता पूर्ण आलोचनात्मक ओर अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वानों, अध्यापकों और विद्यार्थियों की समान में सुप्रसिद्ध हो गई हैं। आर ने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली अपनाई है जिस में आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय पाया जाता है।

इन्हीं लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की बुद्धि और लेखनी से प्रादुर्भूत यह रचना बाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी में उपलब्ध व्यावहारिक ज्ञान के गम्भीर समुद्र शुकनासोपदेश का विस्तृत भूमिका, अभिनव अनिलनामक संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, भाषा, सांस्कृतिक और दार्शनिक भावों की प्रकाशिका व्याख्यात्मक तथा व्याख्यादि की टिप्पणियों अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक परिचय और शब्दानुक्रमणिका से युक्त एकमात्र प्रामाणिक तथा सर्वाङ्गसुन्दर आलोचनात्मक संस्करण है। यह परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक, विद्वानों, आलोचकों और अध्यापकों के लिए मननीय और समग्रहण्य तथा जनसाधारण की ज्ञानवर्धक रचना है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि यह पाठका में आगे विस्तृत अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति

उत्पन्न करता है। इस म ऋग्वेद से ले कर आज तक रचे गये वाङ्मय के अनेकों ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है।

आकार २० X ३०/१६ पृ० १२० मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २॥)

विषय-सूची

आमुख

भूमिका—१-संस्कृत गद्यकाव्य के भेद कथा और आल्पायिका (१-४), २-संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास का साररेखा (५-६), ३-वाण जीवन (१०-११), ४-वाण का रचनाकाल (१२), ५-वाण की रचनाएँ (१३), ६-ईर्ष्यचरित का परिचय (१४-२०), ७-ईर्ष्यचरित की सक्षिप्त कथा (२१), ८-कादम्बरी शब्द का अर्थ (२२), ९-कादम्बरी की कथा (२३-३२), १०-वाण के गुण (३३-४३), ११-वाण के दाप (४४-४८), १२-वाण की व्यावहारिक बुद्धि और पाण्डित्य (४९-५६), १३-वाण और दण्डों की तुलना (५७-६१), १४ संस्कृत कवियों की तिथियों के निर्णय में वाण का महत्त्व (६२-६४)।

कादम्बर्यां शुकनासोपदेशः

१-२२

परिशिष्ट १—टिप्पणियाँ, शाब्दिक द्वित्री अनुवाद और भाव।

परिशिष्ट २—अलंकार शास्त्र का प्रारम्भिक परिचय।

काव्य (२), शब्दशक्ति (३), अभिधा (४), लक्षणा (४), व्यञ्जना (४), रस (५), नायक (६), नायिका (७), गुण (८), रीति (९), कविसमवय्याति (१०), अलंकार (११)—१-अनुप्रास २-यमक ३-श्लेष ४-उपमा ५-उत्प्रेक्षा ६-रूपक ८-निरोधाभास।

शब्दानुक्रमणिका

रचना—दार्द्रे और कोष्ठकों में मदभों की मर्यादित गण्डे हैं।

विशेष सुविधा—प्रकाशक से डाक द्वारा मैगार्ड हुई पुस्तक पसन्द न आने पर पुस्तक प्रति की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिस्ट्री द्वारा प्रत्येक योग्य टिकमाली अस्थान में लाटाने पर ग्राहक को उससे लिया हुआ मूल्यमात्र मनीआडर से लाटा दिया जायगा।

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, गोरखपुर (उ०प्र०)

गद्यपारिजातविवरण

इस ग्रन्थ में संस्कृत गद्य और गद्य काव्यों से चुने हुए अधो लिखित स्थला का शाब्दिक हिन्दा अनुवाद दिया गया है। अनुवाद से पूर्व आवश्यक पदों पर मौलिक व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। पाठ के आरम्भ में उमका मार भी दिया गया है।

१—शतपथ ब्राह्मणे मत्स्यावतारोत्तहास ।

—तैत्तिरीयोपनिषदि शिखावल्ली, भृगुवल्ली च ।

२—बृहदारण्यकापनिषदि याज्ञवल्क्यमंत्रे यासवाद (२/४) ।

४—महाभाष्ये व्याकरणाध्ययनप्रयोजनानि ।

५—समुद्रगुप्तप्रशस्ति ।

६—दशकुमारचरिते अष्टम उच्छ्वास ।

७—कादम्बर्याम्— जाबाल्याभ्रमवर्णनम्, जाबालिवर्णनम्, मुनि-विषयको विचार, पत्तिविषये तापसाना जिज्ञासा तन्निवारण च, शुक्नासोपदेश ।

८—हर्षचरिते सप्तम उच्छ्वास—(आदित कुमारस्य वशादिर्वारिचय यावत्)

इस विषयसूची से ही पुस्तक की ज्यादातरता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का भा शाब्दिक, मौलिक और प्रामाणिक अनुवाद अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पृष्ठ संख्या ३०२

मूल्य ६)

सूचना—प्रत्येक प्रामाणिक प्रति पर लेखक के हस्ताक्षर अमैजी म (S K Gupta) अंकित मिलेंगे।

विद्यार्थियों के लिये महायज्ञ पुस्तकें—

प्रो० सुधीर कुमार गुप्त के आगामी प्रकाशन—

अगस्त मिनट्स १९५४

(१) रघुनग—दूसरा और तेरहवाँ सर्ग, प्रत्येक लगभग २)

(२) कुमारसम्भव—५ वाँ सर्ग, लगभग २)

(इन में विस्तृत भूमिका, मूलपाठ, संगीतनी टीका हिन्दा अनुवाद, टिप्पणियाँ, परिशिष्ट और अनुक्रमणिकाएँ हैं) । अनुक्रम संस्करण ।

दिसम्बर, १९५४

(३) मरुतु माहित्य का सुगोचर इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में)

द्वितीय परिवर्धित और सशोधित संस्करण, लगभग ३॥)

फरवरी, १९५४

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल और उसका एक अध्ययन—इसमें मभेद मूल पाठ, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद टिप्पणियाँ, विस्तृत भूमिका, परिशिष्ट, अनुक्रमणिकाएँ तथा प्रश्नोत्तर होंगे ।

लगभग १०)

प्रो० गुप्त के ने विद्वत्तापूर्ण, सरल, स्पष्ट, संक्षिप्त और पूर्ण संस्करण अन्यत्र अप्राप्य हैं । इनके सेवकृत आदि ग्रन्थ छात्रों हाथ विक्रय रहे हैं । उनमें इन प्रकाशना का उपादेयता का अनुमान कर सकते हैं ।

मूल्य अगाऊ भज कर प्रति सुरक्षित करने वाले छात्रा और आचार्यों का मूल्य का १ कमीशन आर प्रो डाक व्यय दिया जायगा । यह सुविधा केवल उन्हीं ही दा जायगी जो अपनी प्रतिया क्रम १२ अगस्त, ३० मिनट्स और ३१ अक्टूबर १९५४ से पूर्व सुरक्षित करायेंगे । इसी प्रकार पुस्तक-विक्रेताओं को भी विशेष अतिरिक्त सुविधा दी जायगी ।

भारती मन्दिर,

नई धरती,
ब्रज (उ० प्र०)

अर्थव्यञ्जकताचित्रम्

इसमें चित्र के आकार में काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण के अर्थव्यञ्जकता के प्रकारों का सरल संस्कृत में सक्षिप्त और मार्मिक स्पष्टीकरण दिया गया है। यह एम० ए०, शास्त्री और विशारद के चेन्नारियों के लिए अनुपम ग्रन्थ है। इस चित्र को दीवार पर भटकाया जा सकता है। कागज और छपाई बढ़िया है।

मूल्य -/४१

कुछ सम्मतियां—

1. *Pt Gauri Shanker, M A, B Litt, P. E. S, Gora College, Hoshiarpur (formerly at Lahore) and Member Board of Studies in Sanskrit Punjab University.*

“It is very instructive and at the same time lucid and comparative”

2. *Prof M K Sircar, M A (Calc & Dac), Formerly Head of the Sanskrit Deptt D A V College, Lahore and Lecturer Punjab University Lahore now Head of the Sanskrit Deptt Hamsa Raje College, Delhi*

“I have recommended it to the M A students of the Punjab University. I find the chart very useful for the students of Sahitya in M. A and Shastr and Visharada Examinations”

3. *Prof N N Chitambar, M A, K T, V. T. Shastri, formerly Senior Lecturer in Sanskrit, Ranga College, Delhi Now Reader in Sanskrit, Delhi University, Delhi*

' It is admirably fitted to serve the purpose for which it is published I have already recommended your 'citram' to my M A students

4 Pt Vana Mahi Sharma Chaturveda, Sahityacharya,
Kanya Tirtha etc, Shri Mathur Chatin Veda Vidya
laya, Dempier Park, Mathura

“श्रीयुत श्री सुधीर कुमार गुप्त” के काव्यप्रकाश तथा साहित्य दर्पण के यथार्थ अर्थानुसार अर्थव्यञ्जकताचित्र को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। परिश्रम सराहनीय है। उनके इस काये से न केवल छात्रों को ही अपितु अध्यापकों को भी सरलता होती है।

इस की प्रति सभी साहित्याध्यापकों के पास अवश्य रहनी चाहिए।”

5 Pt. Brahmananda Sukla Vyakaranalankara Shastri,
Shri Radha Krishna Sanskrit College, Khurja (U P.)

“प्राच्य प्रतीच्य विद्याविनोदनिपुणानां श्रीमता मतिमता सुधीर-
गुप्तमहोदयानामभिनवा कृतिमार्थव्यञ्जना चित्रतया पद्धत्या चित्रि-
तमवनोक्त्य परा मुद्रमवाप्तवानभिः। मानु शारदाया सेवाया
प्रसारप्रकाशोऽयमिति विनेयानां महा-तमुपकार करिष्यति इति च
सर्वथा प्रचारमस्य कामये।”

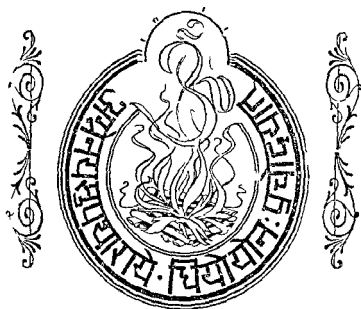
भारती मन्दिर

नई बस्ता

सुरजा (उ० प्र०)

डा० फतहमिह, एम० ए०, डी० लिट्,

कामायनी सौन्दर्य



यह कामायनी की प्रामाणिक सांस्कृतिक, दार्शनिक और भारतीय
 ढंग की सर्वांगपूर्ण अनुपम आलोचना है। परीक्षार्थियों के लिए
 पाठ्यपुस्तक, विद्वानों और आलोचकों के लिए समग्रणीय और
 चतुर्मासिक की ज्ञानवर्धक है। नया संस्करण सजिल्द ४॥॥
 अजिल्द ४॥ पहला संस्करण—२॥

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर,

नई बस्ती, गुरजा (उ० प्र०)

कामायनी सौन्दर्य

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

(वैदिक एगोलॉजी, वैदिक दर्शन, भारतीय समाजशास्त्र, मूलाधार,
साहित्य और सौंदर्य आदि प्रख्यात, मौलिक ससार
आर प्रनुपम कृतियों के रचयिता)

आपने साहित्यक्षेत्र में भारतीय ढंग पर सांस्कृतिक तत्त्वों की परिचायका विवेचना का सूत्रपात कर एक नयी मार्ग का प्रवर्तन किया है। अपने साहित्य का यथार्थ रूप में समझने, उस से उचित अनुभूति प्राप्त करने तथा साहित्य का अविच्छिन्न निरन्तर गारा की सतता के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के मार्ग की निरन्तर आवश्यकता थी।

कामायनी सौंदर्य का पहला संस्करण अगस्त १९४८ में निकला था। उस में २+४+१६० पृष्ठ थे। उस की प्रशंसा विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

अब उसका नया संस्करण इस वर्ष नई सज्जन के साथ प्रकाशित हुआ है। इस में पुस्तक का आकार पहले से दुगुने से भी अधिक हो गया है। इस में २२+१२५ पृष्ठ हैं। विषयक्रम में परिवर्धन, परिवर्तन और संशोधन कर दिया गया है जिससे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

नवीन शीर्षकों में खण्डानुसार कामायनी का कथा, दार्शनिक आधार-शिला और विश्व साहित्य में कामायनी उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक न केवल परीक्षार्थियों के लिए ही पढ़ने योग्य है प्रत्युत समस्त हिंदी और संस्कृत के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय सांस्कृतिक के प्रेमियों, भारतीय साहित्य में प्रियों और जनसाधारण के

लिए पढ़ने योग्य है। विषयसूची साथ दी है जिस से पुस्तक की जानकारी का ज्ञान सहज में हो जाता है।

विषय सूची

कथा-शरिचर—पूर्वपोठका १ चिन्ता २, आशा ३, श्रद्धा ५, काम ६, वासना ८, लज्जा १०, कर्म १३, ईर्ष्या १६, ईडा २१, स्वप्न २६, मय २६, निर्वेद ३५, दर्शन ४०, रहस्य ४६, प्रानन्द ५१।

कामायनी का आधार —

(१) देवत्व—कामायनी को देव-सम्भ्यता-५५, वैदिक देव-सम्भ्यता से तुलना-५७ कामायनी और वेदों में देवत्व-६४।

(२) असुरत्व—कामायनी की देव-सम्भ्यता में असुरत्व ६६, मन्वा देव सम्भ्यता-७१, असुरसम्भ्यता (कामायनी में)-७५, असुर सम्भ्यता वेदों में) ७७।

(३) देवामुर सग्राम—(क) ऐतिहासिक-७६, (ख) सांस्कृतिक-८०, (ग) दाम्पत्य जीवन-८६, (घ) राजनीतिक जीवन में-८९; नारस्यत-प्रदेश-९० (ङ) असुरत्व की पराजय-९२, (च) देवत्व की विजय ९२, (छ) अन्तर्जगत में देवामुर द्वन्द्व-९३।

कामायनी के पात्र

मनु के तीन रूप—(१) वैदिक-कर्मकाण्ड ऋषि—(अ) तपस्वी मनु-१००, (आ) हिंसक यज्ञमान मनु-१०२, (२) मनु प्रजापति—(०३, ईडा-१०८, रुद्र-११७, (३) प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु—(क) प्रसाद का पथ-प्रदर्शक-११६, पथ की खोज-१२०, प्राप्ति-१२०, पथ प्रदर्शन-१२१ (घ) वेद का पथ प्रदर्शक-१२०, श्रद्धा-१२४, यम यमी-१२८, कुमार-१२६, (४) जलप्लावन-१२६।

काव्य और महाकाव्य

(क) कवि और काव्य - (१) कवि-१५०, (२) रस क्या है? -१४६; (३) काव्य-१४८, (४) काव्यरस-१५१; (५) एकत्व, अनेकत्व, अद्वैत-१५३; (६) नाट्य-श्रेष्ठ-काव्य-१५७; (७) काव्य या साहित्य-१६३; (८) साहित्य, काव्य के भेद-१६७; (९) आदि कवि और आदि कविता-१६८, (१०) काव्य प्रेरणा—(क) प्राचेतस-१७४, स्फोटवाद-१७५, (ग) नाद, अनादृतनाद तथा महानाद १७७, (घ) प्रेरणा का उद्गम-१७८; (११) महाकाव्य—(क) परम्परागत लक्षण-१८२; (ख) लक्षणों के अर्थ-१८६; (ग) लौकिक और अलौकिक समन्वय-१९१; (घ) देवानुर-संग्राम-१९१; (ङ) देव-द्वन्द्वचित्रण का उपयोग-१९८,

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

(क) कामायनी में रस-१९६; भावविलास-२०८, एकरस-२०७; (ख) रस का समाजीकरण-२०९; कथानक और नायक २०६, इतिहास-२०६; कथानक का सदाश्रयत्व-२१२; रस-समाजीकरण का रहस्य-२१५; (ग) चतुर्वर्ग प्राप्ति-नाम-अर्थ-२१६, धर्ममोक्ष-२१८, (घ) कामायनी में रूपक-२२०, व्यष्टिसाधना-२१२; समष्टि-साधना-२२४ ।

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य शरीर)

[क] वहिरंग-२२७; [ख] चतुर्विधता की नाटकीयता-२३२; [ग] कामायनी के चरित्र विषय-प्रकृति का स्वरूप-२३७, प्रकृति-पुरुष का संघर्ष-२४१, [घ] प्रकृति के पुतलों का संघर्ष स्त्री-पुरुष में-२४४, समाज में-२४५; प्रकृति के पुतलों की भाग्य विधात्रा-२४७; [ङ] नारी-रूप २४८; [च] प्रकृति-चित्रण-२६० ।

दार्शनिक आधार-शिला

[१] व्यक्तिगत जीवन की देन-२७५; [२] गाँवों की विमूर्ति-

२६६ [३] शैवागम का प्रभाव ३०० [क] 'लहर' से त्रिपुर सुन्दरी कामकला-२३४, महात्रिपुरसुन्दरी-३०८, त्रिपुर-३३० शक्तिशक्तिमान् ३२० [४] समाज समीक्षण की समृद्धि ३२६।

गिरध साहित्य में कामायनी—

आदि-मानव या मानव सामान्य

(क) मन्वन्तर ३६८, मन्वन्तरो का रहस्य-३७३ (ग) विश्व साहित्य में मन्वन्तर-३८४।

आदि मानव—(ग) आदि मानव का रूपान्तर ३६६ प्रनुत्पन्न महाकाव्य ४०० उपसंहार ४१३।

कुछ सम्मतियाँ

यह गम्भीर लेखक के पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है।

‘डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्’

‘डा० फतहसिद्दी जी ने ‘कामायनी’ का विवेचन दार्शनिक, सांस्कृतिक और प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण में किया है।

यह पुस्तक हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाली है।’ देशदूत।

‘प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का वास्तविक अनुशीलन करके विशुद्ध भारतीय परम्परा और कामायनी की आधारभूत बातों को विस्तार के साथ समझाया है।’ बीणा

‘मनु भट्टा, इडा, कुमार और जलप्लावन का श्रवलावद्ध इतिहास पहली बार कामायनी मौल्य में मिलता है। महाकाव्य के लक्षणों का विश्लेषण भी हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीरता में हुआ है। यों ‘कामायनी-सौन्दर्य’ कामायनी पर लिखी सभी पुस्तकों से निराली और अनुपम पुस्तक है।’ साहित्य मन्देश

डी० फतहमिह एम० ए०, डी० लिट् साहित्य और सौन्दर्य

कामायनी सौन्दर्य के प्रख्यात लेखक की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि ने इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों को परम देदीन्यमान कर दिया है। लेखक का प्रकाण्ड वैदिक ज्ञान शास्त्राय विषय के मूल सिद्धान्तों के स्पष्टाकरण में एक प्रभावशाली और राचर तथा युक्तियुक्त साधन बन पड़ा है। उसमें वे इन विषयों को जीवन और उसकी संस्कृति का अंग बनाकर काव्य के चतुर्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य को सम्भव कर पाए हैं। पुस्तक में छै निबन्ध हैं, जिनके विषय तो पुराने हैं, परन्तु नज़र और प्रतिपान्नाशैली एक दम नई और वास्तविक है।

निबन्धों के शीर्षक—

[१] कवि और काव्य—(१-११), [२] भारतीय महाकाव्य—४१-६०, [३] नेमिद्रुत का काव्यत्व—६३-७२, [४] साहित्य और संस्कृति—७७-८६, [५] सौन्दर्य और उसका शास्त्र—८४-११४, [६] पूर्ण की ओर—११४-१३१ अंत में पद सूचा है।

छात्र और गैरछात्र आदि आवश्यक हैं। मूल्य १-१४-०
हार्ड कवय (माथारण बुक पोस्ट) ०-२-६

कुछ सम्मतिपों—

‘कवि और काव्य में लेखक ने विशेषतः ‘रस’ और ‘काव्य’ पर अपूर्व विचार सामने रखे हैं। लेखक का, गहरी मनन-मनन तथा निदिध्यासन, इस निबन्ध के पक्ष-पक्ष में बोध रहा है। मैं तो इसे हिन्दी साहित्य की संपत्ति मानता हूँ। और सब में बढ़िया बात यह है कि नव-नव होते हुए भी लेखक की दृष्टि और आस्था

पूणित भारतीय है। लेखक न पुरानी परम्परा को अस्वीकृत करते कुठित हुआ है, न अन्धभारतीय दृष्टि को ठुकराने में हिचका है। आदि कवि व सम्बन्ध की उनकी युक्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं, बहुत तरफपूर्ण हैं। स्वतन्त्र भारत

‘यह पुस्तक बहुत मनोयोग से मनन करने योग्य है। ‘रस चाद्र से ऊँचे या उसकी उपेक्षा करने वाले (रसवाद को तत्त्वतः बिना जाने भी) इस पुस्तक में बहुत सी विचारोत्तेजक सामग्री पायेंगे और पढ़ने का श्रम व्यर्थ न जायगा।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने भारतीय और बाह्य सभी दृष्टिकोणों से साहित्य और सौंदर्य की चिन्तना की है।

इस (सौन्दर्य और उसका शास्त्र) प्रकरण में लेखक ने इस विवेचन की एक नींव डाली है जो कि भविष्य के विवेचकों के लिये बहुत काम की मिट्टी हो सकता है।

हरिप्रल्लभ श्री० ए०, साहित्य रत्न

गंगा किनारे

उलभन गंगा किनारे, सुख की नौद, सुतीत, पढाई, वीरागया, पत्नी का पाप, न पाया मन का मोन, प्रायश्चित्त—इन नौ कहानियाँ का २० × ३०/१६ के आकार का १०० पृष्ठ का यह संग्रह मन को मुग्ध और प्रभावित करने वाला है। इसकी कहानियाँ देव विश्वासी करण रस प्रधान, सरस, सामाजिक, क्रियाकल्य की दृष्टि से पूर्ण मफत, नारी जीवन, उसकी कहाना और उनके अनेक रूपों और विविध स्तरों की प्रकाशिका, ग्रामीण जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित, वस्तुविन्यास में नाटकीयता पूर्ण, विदग्ध

व्यजनाओं और कलामक स्फुरणाओं से युक्त हैं। लेखक का यह प्रशंस परम सफल और रोचक बन पड़ा है।

मूल्य १४० वाक यय (रागाण चुक पोस्ट से) ०१०

भीमसेन शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० ओ० एल०

अलंकार दीपिका—

शास्त्री जी न इसमें आगरा राजपूताना आदि विश्वविद्यालय में बी० ए० स्नातक के पाठ्यक्रम में निर्धारित काव्यदीपिका की अष्टम शिखा का विस्तृत उपोद्घात हिंदी अनुवाद और व्याख्या तथा परिशिष्टों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित सम्पादन किया है।

प्रथम परिशिष्ट में चदाहरणप्रतीक सहित समस्त कारिकाएँ दी गई हैं। उन में त्रिषय को स्मरण कर परिशिष्ट - ३ और अनुक्रमणिका २ की सहायता से विद्यार्थी अपना परीक्षा स्वयं ल सक्ता है।

गुण्ट सत्या—१ आकार २०×३०/१६

मूल्य ११० वाक्यय २१

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर, खुर्जा (उ० प्र०)

पुस्तक विशालक, पापरा प्रशस्ति व विज्ञेता

टा० कनहमिह एम० ए०, डी० लिट

वैदिक दर्शन

(हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत और राजपूताना विश्वविद्यालय से महायता प्राप्त)

सामायनी औन्दर्ज आदि के प्रख्यात रचयिता की यह कृति अपनी अलग ही विशेषता रखता है। वैदिक दर्शन का इतना गम्भीर, विस्तृत, वैज्ञानिक, तान्त्रिक और विशद व्यवस्थित अन्यत्र उपलब्ध नहीं। मैक्समूलर हाउमन, राध, डा० राधाकृष्णन आदि की कृतियाँ में वैदिक दर्शन की गूढ़ और वास्तविक विचारधारा का परिचय प्राप्त नहीं होता। क्रान्तप्रज्ञ ऋषियाँ के दर्शन से प्रायः प्राय प्राकृतिक देवी-देवताओं जड़ वस्तुओं आदि की स्तुति तक सीमित रखना ही इतर कृतियों में पाया जाता है। यह कृति इन दोषों से मुक्त है। लेखक की दृष्टि बड़ी व्यापक है। उसका क्षेत्र ऋग्वेद से उपनिषदों तक फैला हुआ है। सर्वत्र वह एक ही दर्शन एक ही भाव, एक ही विचारधारा को पाता है। संक्षेप में इस कृति ने वैदिक दर्शन के विभिन्न तन्त्रों का समन्वय कर उन्हें एक सूत्र में पिरो सुन्दर मुक्ताहार का रूप दे दिया है। आसार २० x २०/१६ पृष्ठ २७१ मूल्य अन्तिम १) मन्त्रित ६) वाक्यत्रय ॥॥, १२)

विषय सूची

पिण्डाद — १, अथा यापुरी — [क] मागी का पुनला — १, [ख] पञ्चकोश — २ [ग] शरीरत्रय तथा तीन अवस्थाये — ९।

० शक्ति — [क] क्रियाशक्ति — ११ [ख] ज्ञानशक्ति — १३, [ग] उन्मादशक्ति — १५ [घ] मौनार्थानुभूति — १७ [ङ] अन्तःकरण तथा पराशक्ति — २०।

२ शक्ति और शक्तिमान्—[क] ओ३म्-उमा-२४, [ख] वाक्-२५ [ग] आगम ग्रन्था मे वाक्-२५ [घ] नाद, अनाहत-नाद और महानाद-२७ [ङ] वाक् और चैद (अथवा गिर)-२६, [च] व्याप्तिया तथा ब्रह्मवाक्य (वेद) २७ ।

४. पुत्र्य—[क] पुत्र्य और शक्ति का विकास-३४, [ख] एकसत्रीय स बहुसत्रीय मगीत ३८, [ग] पॉक्त पुरुष-४०, [घ] मन्त्राज, स्वराज् तथा विराज्-४६, [ङ] निमर्श और साया-४४ ।

पिएटाएड और ब्रह्माएड—१ मूल सिद्धान्त—[क] साम्प्रय और एकता-६३, [ख] दोनों की एकता-६६, [ग] समाज के तत्त्व—७०, [घ] साम्प्रय-एकता सिद्धान्त का महत्त्व-७४ ।

२ वैदिक-देवता-१११, जनक और जननी—[क] उत्पत्ति-७६ [ख] निरावरुण ८१, [ग] वरुण और आप-८६, [घ] वाक् वरुण और देवी-८६, [ङ] वरुण, असुरत्व तथा महत्-६७ ।

२. अदिति, दिति और उनके पुत्र—[क] अदिति और दिति-१०१, [ख] आदित्य और मनुयज्ञ-१०५, [ग] अग्नि-१०८ [घ] सोम-११५, [ङ] सोमवृक्ष-१२५, [च] इन्द्र-१३५ ।

इदम् और अहम्—१ त्रिवेद और उनके शत्रु-मित्र—[क] स्येन, सोम तथा इन्द्र-१२२, [ख] गायत्री, स्येन तथा साम-१४४, [ग] शम्बर वृत्र, शुष्क और सर्पराज्ञी १४५ [घ] अश्व, अश्विनौ तथा गारात्री-१५७, [ङ] बृहती, बृहस्पति तथा नञ्जा-१५१ ।

२ इदम् और अहम् की त्रिभुटी—[क] नाम रूप-कर्म-१७८ [ख] छन्द और छन्दोमा-१८०, [ग] ऋषि, देवता और छ-१८५, [घ] ब्रह्मा, विष्णु और मू-१८८

His Excellency R. R. Dinakar, The Governor of Bihar

'I am glad that you have upheld the view that the V-das are not merely a collection of the babblings of infant humanity but are full of guidance to spiritual aspirants

Dr C K Hajj, The Iranological Institute, Tehran (Iran)

I find that you have given some new interpretation and that it is very deep and comprehensive

सुख्य वितरण —

भारती मन्दिर, नई बम्बई, मुम्बई (३० प्र०)

पुस्तक विज्ञापन, प्रापक प्रकाशक और विप्रेक्षक

टा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट

भारतीय समाज शास्त्र: मूलाधार

मूल्य सजिले १॥१ अजिले ८॥१ बाय रय १॥१

डा० फतहसिंह कामायनी सौन्दर्य, वैदिक दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य तथा वैदिक गतिमौलौजी आदि वक्त्र केर्टि व विद्वत्ता-पूर्ण अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध ही है। उनकी आध्यात्मिक और सौम्यतिक शैली न अध्ययन की एक नई परम्परा चलार्दै है जिसमें आधुनिक नष्टि और प्राचान नष्टि का सुन्दर और प्रभावोत्पात्क समन्वय किया है।

इन्हीं प्रयात लेखक की लेखनी में यह पुस्तक प्रकट हुई है। प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखा गई अब तक का नभा

पुनःका से अलग सी जान पड़ेगी । अब तक जो पुस्तके इस विषय पर लिखी गई हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र के आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है । दूसरी विशेषता यह है कि उसमें उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी यथासम्भवं समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों एवं मुनियों के मूलभूत सद्बुद्धत हुए थे । यथासम्भवं इन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप तथा उन पर आश्रित एवं उससे अनुप्राणित समाजक क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है ।

विषय सूची

१ विषय प्रवेश—परिभाषा-१५, विषय का स्वरूप और विस्तार-२१७, अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध-१७२३ ।

२. समाज और व्यक्ति—[क] समाज का नामरूप २४-२४, समाज और लोक २५-३१ लोकत्व और समाजत्व-३१-३२, लोकमत समाजमत और राष्ट्रमत-३२-३३ अन्तर्राष्ट्रीय समाज ३३ ३४, विश्वसमाज-३४-३७ समाज क्या है?—३७-३८, [ख] व्यक्ति का नामरूप-व्यक्ति-४०-४० चिन् की अभिव्यक्ति-४०-४१ व्यक्ति का व्यवहार ४२-४३ समाज की इकाई-४७-४८, [ग] व्यक्तियों से समाज बनता है । -४० ४६ ।

३ प्राणन-यज्ञ—[क] प्राणन-४७ ४८ [घ] यज्ञ की कल्पना ४८-४९ पुरुषयज्ञ-४९-५०, समष्टि में पुरुषयज्ञ-५१-५५ समाज में पुरुष-यज्ञ-५५-५६ पुरुष यज्ञ का प्रतीक-५६-५८ शिरालिङ्ग-५८-५९ ।

[ग] भ्रम-यज्ञ-५३-५४, भ्रम का महत्त्व-५४-५५, भ्रम

सर्गाकरण-७४-८०, वर्ण-यवस्था-८०-८२ [घ] आश्रमण-८२-८४, भ्रमणवाद-८५-८७।

४. समाज का विकास [क] विकास के सात लोक-८८-८९, व्यक्ति-विकास-९०-९३, व्यक्ति में समष्टि का विकास-९०-९४, लोक में समाजत्व का विकास-९६। [ख] हास के लोक-९६-१०१, [ग] चार युग-१०१-१०५, युग भेद-१०५-१०६, [घ] नारी, नारायणी और वृहती-१०६-११४, [ङ] मन्वन्तर-११५-१२१, मन्वन्तरों का रहस्य १२१-१३४।

५. विकास-सिद्धान्त—सिंहावलोकन-१३५-१३८, उत्क्रमण निक्रमण-१३८-१४८, अनुविचक्षण-१४६-१४७, समाजत्रय-१४७-१५७ पुरुषवाद-१५७-१६४, चार मोहरे-१५७-१६८, आधुनिक विकासवाद के ढंग पर-१६८-१७३।

६. विकास के मत—ऐतिहासिक मत-१७४-१७८, आत्मवादी मत १७८-१८६, अवतारवाद १८६-२०४।

७. भारतीय विकासवाद और क्रान्तिकर्म—[१] भारतीय विकासवाद-२०५-२०७, [२] भारतीय संस्कृति का क्रान्तिकर्म-२०८-२१४, [३] गान्धी का सामगान-२१४-२१७।

द्वितीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्र के विधात्मक रूप और तृतीय खण्ड में वर्तमान समाज और हमारी समस्याओं का विश्लेषण होगा।

मुख्य विवरक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (र० प्र०)

पुस्तक विज्ञापक, आपक, प्रकाशक और विक्रेता



Dr Fatah Singh, M A, D Litt

The Vedic Etymology.

(Being)

A Critical evaluation of the Science of Etymology as found in Vedic Literature

The book contains a critical evaluation of all the etymologies found scattered over the vast Vedic Literature. These derivations have often been regarded as nonsense having no philological value at all. On critical examination however the present work has found them not only to be of utmost philological value but even of great help to the interpretation of Vedic texts.

In his foreword the author has discussed the problems concerning the nature of Vedic Etymologies, the apparent absurdity in them and words having more than one derivation and has finally arrived at certain laws of semantics underlying these etymologies. The number of these laws is eleven. It forms a part of the author's D Litt Thesis of the Banaras University.

The book is thus indispensable to all students, teachers, research scholars of Vedic literature, philology, Sanskrit Literature and philosophy and religion.

Number of entries 833 Fine printing & set up

Page 232 Size 20 x 8 Rs 24

List of Agents & Subscribers —

BHARATI MANDIRA.

Nai Basti, KHURJA (U P)

Mailers Order Suppliers, Book sellers & Publishers

ANNOUNCEMENT —

The research department attached to the Bharati Mandira proposes to issue the following books in 1955. Orders can be booked in advance on payment of prices indicated against each.

१ *सूर्यदेवज्ञपतिवृत्तिवैदिकभाष्यम्*—The work will contain all the commentaries of the author on Vedic Mantras found scattered in his commentary on the Gita. The book will also contain footnotes giving interpretations of other commentators & scholars. Rs 10

२ *निघण्टुनिम्बननिर्यचनादिकोष (याज्ञ कोष) —*

The work will contain all the etymologies, interpretation and discussions found in the Nighantu and the Nirukta. New light is also thrown on some readings of the two works, not noticed by Dr. L. Sarup. Rs 20 -

३ *दयानन्दीयनिघण्टुनिम्बनभाष्यम्*—The work will contain all the interpretations of Nighantu words and Nirukta passages found in the works of Dayananda Sarasvat. Rs 5 6

४ Etymologies in the work of Dayananda. It is proposed to evaluate critically all the etymologies found in the works of Dayananda. Rs 20 -

Issued by —

The Research Department

BHARATI MANDIRA, Nai Basti,

KHURJA (U P)

आचार्य अभयदेव जी

१ वैदिक उपदेशमाला—इस लघु कृति में बारह वैदिक उपदेशों का व्यख्यान और प्रतिपादन किया गया है। इनके प्रयोग से प्रत्येक मानव अपने कुल, समाज और राष्ट्र के जीवन को अन्त बना सकता है। लेखक की इच्छा है कि प्रत्येक मानव एक मास में एक उपदेश पर आचरण करे और इस प्रकार एक वर्ष में समस्त उपदेशों का अपने जीवन का आनंद बना ले। उपदेशों का शार्पक यह है—

[१] उपदेश ग्रहण करना-१ [२] एकान्त विचार-२, [३] प्रातःकाल उठना-१६ [४] प्रलाभन को जीतना-२३, [५] वीर-रक्षा-३१ [६] त्याग-४०, [७] देशपत्ति ४४, [८] सुशासन-६१, [९] श्रद्धा-६७, [१०] सत्य ७१, [११] अहिंसा-८३ [१२] विश्वप्रेम-६१।
तोसरा संस्करण मूल्य आजल्द ० १२-०

डाक-व्यय ० १ ६

२ वैदिक विनय—प्रथम खण्ड—यह इस ग्रंथ का पाँचवा संस्करण है। पूर्व संस्करण में भाषिक प्राणदायक व्यायामों का अभाव था, वह इसमें दूर कर दिया गया है। चित्र आठ पृष्ठ पर एक रंग में छप हैं। प्रातःदिन के पाठ के लिये एक वेद मन्त्र भावात्मक व्याख्या और शब्दार्थ सहित रक्खा गया है। पुस्तक स्वाध्याय और प्रार्थना के लिये उत्तम और उपयोगी है। प्रथम खण्ड में चार भागों के स्वाध्याय के अनन्त १२४ मंत्र हैं।

मूल्य २ ००

डाकव्यय ० ५-६

३ तरंगित हृदय—इस कृति में लेखक ने अपने मानस सर में उड़ने वाली विचारतरंगों के २१ शब्द चित्र संकलित किये हैं। स्वर्गीय स्वा० श्रद्धानन्द जी का कथन है— तरंगित हृदय से निकली

हुइ विचार तरंग माला का मध्य का द्वार बना कर जो शुद्ध हृदय सज्जन पहिरेग, मास्तृष्क को शान्त करने वाली सुगन्ध उन्हे अवश्य मिलेगी।

सगृहीत शब्द चित्र—

[१] नमस्कार-१, [२] तेरा कौन है ?-२, [३] चातक का वैराग्य-२, [४] शोइक माग-११, [५] सतान वाचा कौन है ?-१५ [६] प्रतिष्ठा-२४ [७] 'थोड़ा सा'-३३, [८] हसता हूँ-४१ [९] सन्ध्या-४६ [१०] उद्घोषन-४०, [११] भयकर-अग्निकाण्ड-५४, [१२] तेरी योग्येवाजी ६७, [१३] नग्नता-७२, [१४] मेरी यात्रा-७६, [१५] अदूरदृष्टि-८५, [१६] नराले आदमी-६३ [१७] ज्ञान की प्राप्ति-१०० [१८] घर का स्वामी-१०५, [१९] योगमय-१०८, [२०] चले चल-११३, [-१] ओह वह प्रार्थना-११५। छपाई आदि उत्तम पचना सस्करण। मूल्य १-४-०

डाकव्यय ०-२-३

४ मन नहीं टिकता क्या करे ?—इस जिज्ञासा पर आचार्य जा ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों का समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं वे यहाँ पर सुचारु रूप से सगृहीत हैं। इनमें मन का एकाग्र करने के उपायों का विवेचन किया गया है। पृष्ठ मख्या २१।

मूल्य ०-३-० डाकव्यय ०-१-०

५-वेदरहस्य—३ गुण्ड

इस ग्रन्थ में आचार्य जा ने श्री अरविन्द का अनुमति से उनका 'The Secret of the Veda' का हिन्दी अनुवाद किया है। आवश्यक स्थल पर साक्ष्य कथन को कुछ समझा कर लिखा गया है तथा अन्य परिवर्धन भी किए गए हैं जिससे हॉ प्रत्येक उपयोगी हो गई है वही अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भा बन पड़ी है

वण्ड में वेद का प्रतिपाद्य विषय, द्वितीय में चुने हुए सूक्तों
 का तुलना और तीसरे में देवताओं के स्वरूप का विवेचन है।

प्रथम खण्ड—

प्रथम खण्ड—[१] प्रश्न और उसका हल-१, [२] वैदिकवाद
 वलोकन (क)—वैदिक साहित्य ११, [३] वैदिकवाद का
 लोचन (ख)—वैदिक विद्वान्-२१, [४] आधुनिक मत-३०,
 आध्यात्मिकवाद का आधार-४४, [५] वेद की भाषावैज्ञानिक
 -६२, [६] अग्नि और सत्य-७५, [७] वरुण, मित्र और
 ६०, [८] आश्विन, इन्द्र, विश्वदेवा-१०३, [९] सरस्वती
 उनके महचारी-११८, [१०] समुद्रों और नदियों का रूपक
 , [११] सात नदियाँ-१४२, [१२] उषा की गौए-१६०, [१३]
 और सत्य-१७२, [१४] आगिरस उपाख्यान और गौओं का
 -१८१, [१५] खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौए-१८८,
 [१६] अगिरस ऋषि-२१३, [१७] सात-सिरीं वाला विचार, स्व
 दशम्या ऋषि-२३३, [१८] मानव-पितर-२५२, [१९] पितरों
 विजय-२७०, [२०] देवशुनी सरमा-२८६, [२१] अन्धकार के
 -३०८, [२२] दस्युओं पर विजय-३२२, [२३] परिणामों का
 -३३८।

द्वितीय खण्ड—[१] इन्द्र और अगस्त्य का सत्राद-१७, [२]
 दिव्य प्रकाश का प्रगता-२३, [३] इन्द्र और विचार-शक्तिया
 ६, [४] अग्नि प्रकाशपूर्ण संकल्प-५०, [५] सूर्य सविता,
 प्रयता और पोषक-६४, [६] दिव्य उषा-७५, [७] मग सविता
 -शिवभाक्ता-८४, [८] वायु, प्राण शक्तियों का अविपति-८४,
 नृदस्पति आत्मा का शक्ति-१०७, [९] अरवीदेव-आनन्द के
 पति-१२२, [१०] ऋभु-अमरता के शिल्पी-१३६, [११] विष्णु,